

શ્રી જૈન વિદ્યાલય



હીરક જયંતી
1934 - 94

हीरक जयन्ती स्मारिका

सम्पादक-मंडल

कामेश्वरप्रसाद वर्मा

रिधकरण बोधरा, पद्मचन्द नाहटा,
शरदचन्द्र पाठक, डॉ० आर० पी० उपाध्याय,
राधेश्याम मिश्र, लक्ष्मीशंकर मिश्र,
भूपराज जैन

संयोजन

भूपराज जैन

श्री जैन विद्यालय

(श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा द्वारा संचालित)

18-डी, सुकियस लेन, कलकत्ता - 700 001

प्रकाशक : श्री जैन विद्यालय
18-डी, सुकियस लेन, कलकत्ता-700 001
फोन - 242-4958

आवरण चित्र : बीकानेर (राज0) के पल्लू ग्राम में खुदाई से प्राप्त
सरस्वती की प्रतिमा का छायांकन।

मूल्य : रु. 400/-

प्रथम आवृत्ति : 3000
दिसम्बर, 1994

मुद्रक : प्रिन्टवेल (इन्डिया)
46, जय मित्रा स्ट्रीट, कलकत्ता-700 005
फोन : 30-8423

चरित्र निर्माण के केन्द्र : विद्यालय

सन् 1930 भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास का एक समुज्ज्वल क्रान्तिकारी पृष्ठ। रावी नदी के किनारे आहूत कांग्रेस का अधिवेशन। युवा हृदय सम्राट पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा अध्यक्ष पद से सम्पूर्ण आजादी के लिए युवकों का आह्वान। समग्र देश में पूर्ण स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जबर्दस्त आन्दोलन। आसेतु हिमाचल पूर्ण स्वराज्य के लिए एक प्रबल लहर। आबाल युवा वृद्ध का एक नारा— एक उद्घोष— सम्पूर्ण आजादी हमारा लक्ष्य। कभी अस्त न होने वाले ब्रिटिश साम्राज्य का सूर्य अस्ताचलगामी।

दुर्धर्ष स्वातंत्र्य संग्राम की इस पृष्ठभूमि पर प्रखर राष्ट्रीय चेतना से उद्वेलित श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा के कार्यकर्त्ताओं द्वारा सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र को वृष्टिगत रख शिक्षा सेवा एवं साधना के प्रकल्प श्री जैन विद्यालय की सन् 1934 में स्थापना। राष्ट्र की भावी आशा के जीवन के सर्वांगीण विकास की सिद्धि हेतु पांचा गली के किराये के एक कमरे में शिक्षण का क्रम आरंभ। एक बीज का वपन। अनुकूल हवा, पानी एवं रोशनी पाकर बीज अंकुरित हो उठा एवं पौधे से वट वृक्ष का रूप धारण कर लिया।

सम्प्रति 2500 छात्रों को विज्ञान, वाणिज्य का शिक्षण प्रदान करने में बंगाल के शिक्षण संस्थानों में यह विद्यालय न केवल महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहा है अपितु अपने शत-प्रतिशत परीक्षा फल, उच्चस्तरीय शिक्षण एवं वृद्ध अनुशासन के क्षेत्र में अग्रणी स्थान रखता है। विद्यालय ज्ञान-विज्ञान के आधुनिक संसाधनों से युक्त है तथा वर्तमान युग की आवश्यकता अनुभूत करते हुए कक्षा पांच से कम्प्यूटर शिक्षा भी प्रदान कर रहा है।

शिक्षा का उद्देश्य केवल छात्रों को आजीविका हेतु शिक्षण प्रदान करना ही नहीं है बल्कि जीवन के सर्वांगीण विकास के साथ ऐसे सुनागरिक तैयार करना है जो समय पड़ने पर समाज एवं राष्ट्र के आह्वान पर अपना सर्वस्व समर्पित कर सकें। शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे चरित्र का निर्माण करना है जो आवश्यकता पड़ने पर सब कुछ उत्सर्ग करने के लिए कटिबद्ध हो सके। इस दृष्टि से जब देखते हैं तो एक निराशा चतुर्दिक वृष्टिगत होती है। लगता है दिशाहीन और निरुद्देश्य है वर्तमान शिक्षा प्रणाली। भटकाव और नैराश्य से ग्रसित होकर अंधकार में हाथ पांव पटक रही है हमारी युवा पीढ़ी। बेरोजगारी, भय, आतंक और बेचैनी ने एक ऐसे आक्रोश को जन्म दिया है जो समग्र राष्ट्र एवं विश्व को लीलता जा रहा है। भ्रष्टाचार, बेईमानी, अत्याचार और अनाचार के अन्तहीन चक्कर में फंसा है सम्पूर्ण विश्व। ज्ञान विज्ञान के अनेक नये आयामों एवं क्षितिजों के उद्घाटन के बाद भी नैतिक एवं चारित्रिक ह्रास के कारण समग्र विश्व भयावह विभीषिका से संतप्त एवं पीड़ित है। आज आवश्यकता है विज्ञान की दुर्दम्य आकांक्षा के साथ आध्यात्मिकता के समन्वय की। ज्ञान विज्ञान की इस उदग्र ऊर्जा को यदि संयम, नियम एवं मर्यादा की बल्गा से नियंत्रित नहीं किया तो सर्वनाश के ज्वालामुखी का विस्फोट सुनिश्चित है, निर्विवाद है। और विश्व में इस बार जो त्रासदी घटित होगी, वह संभवतः सर्वनाश का ही कारण होगी। यह उस खण्ड प्रलय से भी अधिक प्रचण्ड एवं भयावह होगा जो विष्णु पुराण में वर्णित है, यह सम्पूर्ण प्रलय ही होगा।

इस राशि-राशि अंधकार में, प्रभूत घन अंधकार में आशा की किरण आध्यात्मिकता के प्रचार-प्रसार में सन्निहित है। आध्यात्मिकता, सुचारित्र्य एवं नैतिकता के केन्द्र बनकर ये विद्यालय आशा, विश्वास की समुज्ज्वल किरणों को चतुर्दिक विकीर्ण कर सकते हैं। ये विद्या मन्दिर ही ज्ञान-विज्ञान एवं अध्यात्म के समन्वय स्थल बनकर विश्व में शान्ति, सौख्य एवं समृद्धि के स्थापन में सक्षम हो सकते हैं।

वस्तुतः ज्ञान-विज्ञान एवं अध्यात्म का समुचित समन्वय ही आज की महती आवश्यकता

है और यदि ऐसा संभव हो सका तो निराशा, भय और आतंक का यह अंधकार तार-तार होकर रहेगा। 'निराला' ने कहा— तम के अमार्ज्य रे तार-तार।

शिक्षक, अभिभावक एवं प्रबन्धक की सम्मिलित भूमिका ही इसमें विशेष महत्वपूर्ण होगी। जो शिक्षक ब्रह्मा, विष्णु और महेश के समान पूजनीय एवं वंदनीय हैं, उस पर इसका विशेष दायित्व है। यदि शिक्षक इसके लिए कमर कस लें, तो फिर वह सब कुछ संभव है जो असंभव प्रतीत होता है। आवश्यकता है मात्र बुद्ध निश्चय की, संकल्प की और तब सार्थकता एवं सफलता सुनिश्चित है।

विद्यालय की छः दशकीय शैक्षणिक यात्रा की सम्पूर्ति के उपलक्ष्य में हीरक जयन्ती स्मारिका के प्रकाशन का निश्चय किया गया। उसी निश्चय की पूर्ति स्वरूप यह स्मारिका आपको सौंपते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता है।

स्मारिका को पठनीय एवं संग्रहणीय बनाने हेतु हमने विद्वानों, चिन्तकों एवं मनीषियों से आलेख आमंत्रित किये। हमारे अनुरोध एवं आग्रह को स्वीकार कर जिन विद्वानों एवं विचारकों ने विभिन्न विषयों पर अपने आलेख भेजे, हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। हम विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी उनका यह सहयोग हमें सदैव प्राप्त होगा। इस स्मारिका में विद्यालय खण्ड, विद्यार्थी खण्ड एवं अध्यापक खण्ड का संयोजन भी किया है, जिसमें विद्यालय एवं सभा के पदाधिकारियों, विद्यार्थियों एवं शिक्षक बन्धुओं की रचनाएं एवं आलेख प्रकाशित किये गये हैं। इन रचनाओं के माध्यम से विद्यालय की छवि के दर्शन सहज ही हो सकते हैं। इनकी रचनाओं के लिए भी आभार व्यक्त करते हैं। विद्वत् खण्ड में विद्वानों की रचनाएं प्रकाशित की गई हैं।

स्मारिका के मुख पृष्ठ पर जैन सरस्वती का चित्र अंकित है। यह कलाकृति बीकानेर (राज०) के गंगानगर जिले के पल्लू गांव से खुदाई में प्राप्त हुई है जो बारहवीं शती की है। इस कलाकृति के भामण्डल में जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। यह चित्र राजस्थान सरकार के सूचना एवं सम्पर्क निदेशालय से प्रकाशित द्वै मासिक पत्र 'सुजस' के सौजन्य से प्राप्त है, हम इसके लिए हार्दिक आभारी हैं।

स्मारिका के प्रकाशन में जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त हुआ है, तदर्थ कृतज्ञता-ज्ञापन हमारा कर्तव्य है।

इसके मुद्रण एवं समय पर प्रकाशन हेतु प्रिन्टवेल (इन्डिया) के श्री ओ.पी. सिंघानिया एवं उनके सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना नितान्त समीचीन है।

पर्याप्त सावधानी के पश्चात् कहीं किसी तरह की त्रुटि अथवा भूल रह गई है, तो सुज्ञ पाठकगण क्षमा करेंगे। इस स्मारिका पर आपकी सुचिन्तित राय एवं प्रतिक्रिया जानकर हमें प्रसन्नता होगी।

किमधिकम्

—सम्पादकगण

श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता प्रबंध समिति के यशस्वी अध्यक्ष एवं मंत्री

सन्	अध्यक्ष	मंत्री
1934 - 35	श्री भैरंदान गोलछा	श्री अजीतमल पारख
1935 - 36	,, भैरंदान गोलछा	,, मुन्नालाल रांका
1936 - 52	,, किशनलाल कांकरिया	,, फूसराज बच्छावत
1952 - 58	,, सोहनलाल बांठिया	,, सूरजमल बच्छावत
1958 - 63	,, फूसराज बच्छावत	,, सरदारमल कांकरिया
1963 - 67	,, जयचन्दलाल रामपुरिया	,, सूरजमल बच्छावत
1967 - 82	,, जयचन्दलाल रामपुरिया	,, सरदारमल कांकरिया
1982 - 86	,, सूरजमल बच्छावत	,, सरदारमल कांकरिया
1986 - 89	,, रिखबदास भंसाली	,, रिधकरण बोथरा
1989 - 93	,, किशनलाल बोथरा	,, सरदारमल कांकरिया
1993 से निरंतर	,, मोहनलाल भंसाली	,, सरदारमल कांकरिया

प्रधानाचार्य

सन् 1934 - 1958 श्री बच्चन सिंह
,, 1987 - 1993 श्री कन्हैयालाल गुप्त

सन् 1958 - 1987 श्री रामानन्द तिवारी
,, 1993 से निरन्तर श्री कामेश्वरप्रसाद वर्मा

श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता वर्तमान प्रबंध समिति

1. श्री मोहनलाल भंसाली, अध्यक्ष	8. श्री विनोदचन्द कांकरिया, सदस्य
2. ,, सोहनराज सिंघवी, उपाध्यक्ष	9. ,, विनोद मित्री, ,,
3. ,, सरदारमल कांकरिया, मंत्री	10. ,, रामसुरेश पांडेय, ,,
4. ,, कामेश्वरप्रसाद वर्मा, प्रधानाचार्य एवं संयुक्त मंत्री	11. ,, हृदयानन्द उपाध्याय, ,,
5. ,, रिखबदास भंसाली, सदस्य	12. ,, देवेन्द्र तिवारी, ,,
6. ,, किशनलाल बोथरा, ,,	13. ,, पी. के. मुखर्जी, ,,
7. ,, रिधकरण बोथरा, ,,	14. ,, जी. वैद्य, ,,

श्री जैन विद्यालय, हवड़ा वर्तमान प्रबंध समिति

1. श्री किशनलाल बोथरा, अध्यक्ष	8. श्री सुभाष बच्छावत, सदस्य
2. ,, सुरेन्द्रकुमार बांठिया, उपाध्यक्ष	9. ,, कंवरलाल मालू, ,,
3. ,, सरदारमल कांकरिया, मंत्री	10. ,, प्रेमचन्द मुकीम, ,,
4. श्रीमती ओल्गा घोष, प्रधानाध्यापिका	11. ,, ललित कांकरिया, ,,
5. श्री जयराम सिंह, प्रधानाध्यापक	12. ,, गोपालचन्द भूरा, ,,
6. ,, रिखबदास भंसाली, सदस्य	13. ,, राधेश्याम मिश्र, ,,
7. ,, रिधकरण बोथरा, ,,	14. श्रीमती शिप्रा मित्रा, ,,

15. श्रीमती कान्ता शर्मा, सदस्य

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा संस्थापित 1928 ट्रस्ट बोर्ड (वर्तमान)

1. श्री सरदारमल कांकरिया
2. श्री माणकचन्द रामपुरिया
3. श्री जयचन्दलाल मित्री
4. श्री भँवरलाल कर्णावट

श्री श्वे० स्था० जैन सभा वर्तमान प्रबंध समिति

1. श्री रिखबदास भंसाली, अध्यक्ष
2. श्री बच्छराज अभाणी, उपाध्यक्ष
3. श्री रिधकरण बोथरा, मंत्री
4. श्री कंवरलाल मालू, संयुक्त मंत्री
5. श्री अशोक मित्री, संयुक्त मंत्री
6. श्री केशरीचन्द गेलड़ा, बोधध्यक्ष

सदस्य

- | | |
|----------------------------|---------------------------------|
| 7. श्री सूरजमल बच्छावत | 17. श्री सुभाष बच्छावत |
| 8. श्री जयचंदलाल रामपुरिया | 18. श्री सुन्दरलाल दूगड़ |
| 9. श्री भँवरलाल बैद | 19. श्री सुभाषचन्द कांकरिया |
| 10. श्री भँवरलाल दस्साणी | 20. श्री प्रकाशचन्द्र कोठारी |
| 11. श्री शिखरचन्द मित्री | 21. श्री उगमराज मेहता |
| 12. श्री बालचन्द भूरा | 22. श्री गोपालचन्द भूरा |
| 13. श्री पारसमल भुरट | 23. श्री चांदमल अभाणी |
| 14. श्री मोहनलाल भंसाली | 24. श्री सोहनराज सिंघवी |
| 15. श्री प्रेमचन्द मुक्तीम | 25. श्री सुरेन्द्रकुमार बांठिया |
| 16. श्री शान्तिलाल जैन | 26. श्री शान्तिलाल डागा |
| 27. श्री सोहनलाल गोलछा | |

स्थायी आमंत्रित सदस्य

- | | |
|---------------------------|------------------------|
| 28. श्री भँवरलाल बोथरा | 34. श्री मेघराज जैन |
| 29. श्री जयचंदलाल मुक्तीम | 35. श्री अशोक बच्छावत |
| 30. श्री चांदमल बरडिया | 36. श्री ललित कांकरिया |
| 31. श्री किशनलाल बोथरा | 37. श्री किशोर कोठारी |
| 32. श्री तनसुखराज डागा | 38. श्री अशोक भंसाली |
| 33. श्री कमलसिंह कोठारी | 39. श्री राजकुमार डागा |

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता एवं हवड़ा प्रबन्ध समिति

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा प्रबन्ध समिति

आशीर्वचन एवं शुभाशंसा

विद्यालय खण्ड

1. करते हैं हम स्वागत	: महोपाध्याय माणकचन्द रामपुरिया	1
2. बात की बात में संस्था बनी	: सूरजमल बच्छावत	2
3. विकास एवं उन्नयन का मूल मंत्र	: रिखबदास भंसाली	4
4. प्रगति पथ का राही	: सरदारमल कांकरिया	5
5. कि दाना खाक में मिलकर, गुले गुलजार होता है	: रिधकरण बोथरा	7
6. विद्यालय के बढ़ते चरण	: मोहनलाल भंसाली	8
7. Shree Jain Vidyalyaya : My Impression	: Kishanlal Bothra	9
8. Shree Jain Vidyalyaya : A Pride for the Community	: Sohanraj Singhavi	11
9. A School with a difference	: K. P. Verma	12
10. The Role of the Educator	: Smt. Olga Ghosh	14
11. Environmental Pollution	: J. R. Singh	16
12. Our School : A Journey down the memory lane	: Sampatraj Bachchhawat	18
13. उन्नति के शिखर पर आरोहण	: मोतीलाल मालू	19
14. विद्या के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता	: केशरीचन्द सेठिया	20
15. प्रथम छात्र के अविस्मरणीय संस्मरण	: सोहनलाल गोलछा	21
16. श्री जैन विद्यालय, एक सुनाम विद्या मन्दिर	: कमलसिंह कोचर	22

विद्वत् खण्ड

1. ऐसी हो नींव उत्कर्ष के शिखरों की	: आचार्य महासती श्री चन्दनाजी महाराज	1
2. हिन्दी भाषा के विविध रूप	: प्रो० महावीरसरण जैन	2
3. राष्ट्र के विकास में समाजवाद का योगदान	: कन्हैयालाल झुंगवाल	6
4. कालिदास की विरह-व्यंजना	: आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री	8
5. हिन्दी पत्रकारिता : विरासत की रोशनी और साम्प्रतिक दशा	: डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र	16
6. राहुल सांकृत्यायन : चिन्तन की दिशाएँ	: प्रो० श्री नारायण पांडेय	20
7. जैन आगम साहित्य में प्रकीर्णक ग्रंथों के स्थान	: डॉ० सुरेश सिसोदिया	24
8. पारम्परिक लोककलाएँ और उनका आजादीकरण	: डॉ० महेन्द्र भानावत	27
9. शोक सभा एक युवा तपस्विनी की	: अलका धाड़ीवाल	35
10. सशक्त उपन्यासकार : अमृतलाल नागर	: डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी	36
11. अहिंसा का अर्थशास्त्र	: डॉ० नेमीचन्द जैन	39
12. मुस्कराहट	: अलकाराम	41

13. वीणापाणि शारदे अम्बे	: महोपाध्याय माणकचन्द रामपुरिया	42
14. भाषा री अमरबेल	: कन्हैयालाल सेठिया	43
15. वर्तमान युग को एक और गांधी की आवश्यकता	: यशपाल जैन	44
16. युवा पीढ़ी और समाजसेवा	: पुष्करलाल केड़िया	47
17. प्रभु महावीर (रेडियो रूपक)	: डॉ० वसुमति डागा	49
18. साम्प्रदायिकता और इतिहास दृष्टि	: विमल वर्मा	52
19. निर्दोष	: मूल कहानी : सारंग वारोट नाट्य रूपान्तर : मदन सूदन	58
20. महावीर का आरोग्य : मेरा रोग	: डॉ० भानीराम	61
21. राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएँ व समाधान	: राधामोहन उपाध्याय	63
22. शासन देवी अम्बिका	: भंवरलाल नाहटा	68
23. अप्पा सो परम्प्रा	: महोपाध्याय ललितप्रभ सागर	76
24. भामाशाह कावड़िया	: रामवल्लभ सोमानी	79
25. जैन धर्म में सामाजिक चिन्तन	: प्रो० सागरमल जैन	81
26. जैन साहित्य और उसका हिन्दी से सम्बन्ध	: डॉ० प्रेमसुमन जैन	89
27. भारतीय सिक्कों के विकास की कथा	: इन्द्रकुमार कठौतिया	92
28. कल्पसूत्र और चित्रकला	: पुष्पा बैद	100
29. जैन कला का पुरातात्विक महत्व	: डॉ० रमेशचन्द्र शर्मा	102
30. एक कपर्दक	: राजकुमारी बेंगानी	105
31. अभिशप्त नालन्दा	: गणेश लालवानी	107

अध्यापक खण्ड

1. भारतीय गणित का संक्षिप्त इतिहास	: आर. एस. पांडेय	1
2. अज्ञेय- व्यक्तित्व और कर्तृत्व	: शरदचन्द्र पाठक	7
3. रावण का लक्ष्मण को उपदेश	: बंशबहादुर सिंह	9
4. शान्तिनिकेतन : एक परिदर्शन	: अजय राय	11
5. भगवत् प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन : जनसेवा	: राधेश्याम मिश्र	13
6. गोस्वामी तुलसीदास : युग एवं व्यक्तित्व	: डॉ० आर. पी. उपाध्याय	16
7. नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय	: इन्द्रसेन सिंह	18
8. Significance of Regulation of Temperature in Mammals	: H. N. Upadhyay	26
9. Spread of Jainism in Ancient India	: Ram Bachan Singh	28
10. All for a Photograph	: Vishwesh Ranjan Verma	35

विद्यार्थी खण्ड

1. कुर्सी	: भारतेन्दु सुरेका XIA	1
2. कितना सुन्दर, कितना विशाल	: धीरेन्द्र कुमार झा XIB	2
3. क्यों आज का सच असमान है	: अम्बर खेमका XIA	3
4. मुझको पास करा दो राम	: अभिषेक काजरिया XI-C	4
5. आधुनिक भारत और संस्कृति	: देवेश जैन XI-C	5
6. नाम मेरा छप जाये	: रीतेश डागा XIA	7
7. आकांक्षा तथा पुरुषार्थ	: नृपेन्द्रप्रताप सिंह XI-C	8

8. क्या इसीलिए उन्होंने आजादी को साकार किया ?	: अजित लूणिया XI-B	9
9. Heart Attack	: Dr. Subhas Duggar	10
10. Shree Jain Hospital and Research Centre	: Dr. Subhas Dugar	11
11. भारतीय संस्कृति संकट की ओर	: मंगेश रांका XI-C	12
12. देहेज समाज का अभिशाप	: रूपेश सिंह IX-C	14
13. भारतीय संस्कृति	: आनन्दशंकर पांडेय XII-B	15
14. Career or Carrier	: Piyush Baid XI Sc.	17
15. या देवी सर्वभूतेषु	: अमितकुमार तापड़िया XIIA	18
16. Problem of Brain Drain in India	: Gyan Veer Daga XII-B	19
17. Danger of Drug Addiction	: Vikash Hirawat IX-C	21
18. Status of Women in India	: Pankaj Maloo XI-C	22
19. Latest Science Jerminology	: Rajeev Kumar Singh XII Sc.	23
20. Woman	: Saurabh Golash IX-C	25
21. Life in Calcutta	: Ashwini Kumar Goel XIB	27
22. Blood Donation is the Highest Development of Humanity	: Gaurav Chaudhary XII Sc.	28
23. एक व्यंग्य	: देवेन्द्र पुगलिया XII Sc.	30
24. विद्यार्थी जीवन	: वरुण भंसाली VB	31

आशीर्वचन एवं शुभाशंसा

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा द्वारा संचालित श्री जैन विद्यालय में विद्यार्थी, अध्यापक एवं समाज के शिक्षा प्रेमी कर्णधार श्रावकों का ऐसा सुखद सुमेल है जिसने शिक्षा जगत में ज्योतिर्मय आदर्श प्रस्तुत किया है। हम संस्थान की सफलता में पुराने रिकार्ड टूटते देखेंगे, नये कीर्तिमान स्थापित होते देखेंगे। इसका श्रेय होगा विद्यार्थी, अध्यापकवृन्द एवं संस्था के समर्थ कार्यकर्ताओं को। सभी के उज्ज्वल एवं यशस्वी भविष्य में मेरा पूर्ण विश्वास है। फिर भी ज्ञान साधना के पवित्र अनुष्ठान के प्रति सहज मंगल भाव से मेरा मानस भर जाता है। मेरी समग्र शुभाशंसा संस्थान की प्रगति के लिए अर्पित है।

—आचार्य महासती श्री चन्दनाजी महाराज, वीरसयतन, राजगीर

श्री जैन विद्यालय के साथ मेरा लगभग पांच दशक पुराना संबंध रहा है। मैं उसके स्वर्ण जयन्ती समारोह में सम्मिलित हुआ था। विद्यालय के छात्रों की योग्यता, उसके शिक्षकों का प्रेम भरा व्यवहार तथा वहां के अनुशासन की मेरे मन पर गहरी छाप है। भारत के बहुत से विद्यालय मैंने देखे हैं, लेकिन श्री जैन विद्यालय का उनमें निराला स्थान पाया है। विद्यालय की हीरक जयन्ती समारोहों के समापन में शामिल होने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। मैं आशा करता हूँ कि ये समारोह विद्यालय की गरिमा को बढ़ाने में सहायक होंगे। उस मंगल अवसर के लिए मेरी शुभ कामनाएं स्वीकार करें। विद्यालय की उत्तरोत्तर उन्नति हो, यही मेरी प्रभु से प्रार्थना है। यह जानकर और भी हर्ष हुआ कि आप उस शुभ प्रसंग पर एक स्मारिका का प्रकाशन कर रहे हैं। उसके लिए भी मेरी शुभ कामनाएं प्रेषित हैं।

—यशपाल जैन, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

श्री जैन विद्यालय का यह हीरक जयन्ती वर्ष चल रहा है, यही सबसे बड़ी उपलब्धि है। इन वर्षों में इस विद्यालय ने कई ऐसे होनहार छात्र दिये हैं जो ज्ञान-विज्ञान के विशिष्ट क्षेत्रों में समाज एवं राष्ट्र की महत्वपूर्ण सेवाओं के लिए अभिनन्दनीय बने हुए हैं।

जैन विद्यालय होने से यहां छात्रों को पोथी पढ़ाई में ही पारंगत नहीं किया जा रहा है अपितु सार्थक जीवन जीने की चारित्रिक कला की भी सांगोपांग शिक्षा-दीक्षा सुलभ कराई जाती है जो आदमी को पूरा आदमी, पूर्ण पुरुष बनाती है।

—डॉ. महेन्द्र भानावत, उदयपुर

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि विद्यालय इस वर्ष हीरक जयन्ती स्मारिका प्रकाशित कर रहा है। हमारी इस आदर्श शिक्षण संस्था में विस्तार के साथ गुणात्मकता में भी वृद्धि हुई है, यह अतिरिक्त प्रसन्नता

का विषय है।

संस्था का व्यवस्थापक मण्डल एवं प्रधानाचार्य सहित शिक्षक-समाज इस हेतु साधुवाद का पात्र हैं। मैं संस्था की निरन्तर समृद्धि की कामना करता हूँ।

—जयचन्दलाल रामपुरिया, पूर्व अध्यक्ष, श्री जैन विद्यालय प्रबंध समिति, कलकत्ता

श्री जैन विद्यालय अपनी षष्ठ दशकीय शैक्षणिक यात्रा की सम्पूर्ति के शुभ उपलक्ष में हीरक जयन्ती महानुष्ठान अनुष्ठित कर शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में अभूतपूर्व महायज्ञ सम्पन्न कर रहा है। इस शुभ सुकीर्ति का संकल्प ज्ञात कर अनिर्वचनीय प्रसन्नता हो रही है। तदर्थ सभा एवं समाज से जुड़े सभी व्यक्तियों को कोटिशः धन्यवाद।

सभा तथा विद्यालय की विभिन्न गतिविधियों में मेरा यथायोग्य सहयोग और सेवा में केवल अपना कर्तव्य पालन ही अभीष्ट रहा है और भविष्य में भी मेरी सेवा-भावना सदा सक्रिय रहेगी। यह तो सभा की सिद्धि और सफलता है। “परोपकाराय सतां विभूतयः।” सभा द्वारा संचालित यह लब्ध प्रतिष्ठ शिक्षण-संस्थान समय और समाज की ही उपलब्धि है।

मैं तो भगवान् जिनेंद्र से सतत यही प्रार्थना करता हूँ कि सभा और समाज का यह कीर्ति स्तम्भ, उत्तरोत्तर भविष्य में भी सर्वांगीण विकास और प्रगति से निर्मल विमल चन्द्रिका-सा शत-सहस्र वर्षों तक आलोकित होता रहे। स्पष्ट है “सर्वेषामेव दानानां विद्या दानं विशिष्यते।”

अनुष्ठित शुभ हीरक जयन्ती महानुष्ठान के शुभावसर पर सभी सिद्धि, उपलब्धि और पूर्णता की प्राप्ति हो, इन्हीं शुभ कामनाओं सहित—

“कीरति भनिति भूति भल सोई।

सुरसरि सम सब कहं हित होई॥”

—माणकचन्द रामपुरिया, कलकत्ता

करीब 60 वर्ष पूर्व पूज्य पिताजी स्वर्गीय फूसराजजी बच्छावत एवं कुछ कर्मठ कार्यकर्ताओं के पूर्ण सहयोग से यह संस्था स्थापित की गई थी।

जिसका मूल उद्देश्य समाज सेवा, धार्मिक कार्यकलाप व शिक्षा का प्रचार-प्रसार था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वर्तमान कार्यकर्ता तत्परता से कार्य कर रहे हैं। विद्यालय का परीक्षा फल भी प्रायः शत-प्रतिशत होता है। हवड़ा में भी बहुत ही जल्द अल्प समय में विद्यालय का भवन बनाकर विद्यालय चालू किया गया है। यह भी अपने आप में महान् उपलब्धि है। अब अपनी संस्था की तरफ से अस्पताल के भवन निर्माण के लिए जमीन खरीद कर निर्माण कार्य प्रारम्भ कर दिया गया

है। आशा है कि अस्पताल का भवन शीघ्र बन जाएगा। जिससे समाज को चिकित्सा की सुविधा आधुनिक स्तर पर प्रदान की जा सकेगी। हीरक जयन्ती वर्ष में मैं अपना शुभ कामना संदेश भेज रहा हूं। आशा है कि संस्था द्वारा संचालित विद्यालय दिन प्रतिदिन उन्नति की ओर अग्रसर होता रहेगा। और समाज सेवा के कार्यों में अग्रणी रहेगा।

इसी आशा के साथ वर्तमान कार्यकर्त्ताओं का अभिनन्दन करता हूं।

—हीरालाल बच्छावत, भूतपूर्व छात्र : श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता

यह जानकर अत्यन्त प्रमोद हुआ कि श्री जैन विद्यालय दिनांक 25-12-1994 को हीरक जयन्ती मनाने जा रहा है। विद्यालय ने सफलताएं अर्जित की हैं, वह अपने आप में एक कीर्तिमान है। कलकत्ता जैसे औद्योगिक नगर में समाज सेवी, विशिष्ट व्यक्तियों से ही समाज की संस्थाएं एवं समाज अनुप्राणित होता है। संस्था तो स्वयं में निर्जीव होती है, लेकिन कार्यकर्त्ताओं के अथक प्रयास से ही वह पुष्पित एवं पल्लवित होती है। धन्य है कलकत्ता की ऐसी जैन सभा जो इतना उत्साहप्रद कार्य कर रही है।

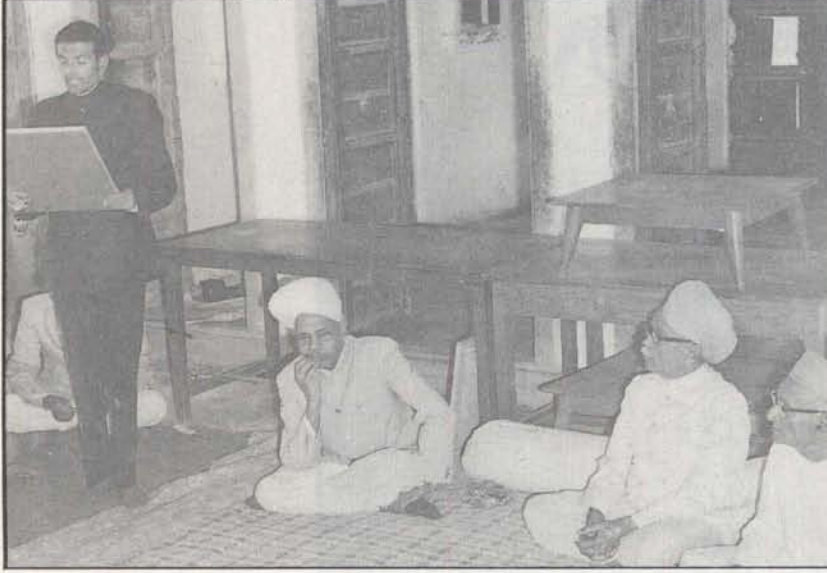
गुमानमल चोरड़िया, जयपुर



विद्यालय के संस्थापक एवं कर्मठ कार्यकर्ता श्री फूसराज बच्छावत



सभा की स्वर्ण जयंती के अवसर पर संबोधित करते हुए श्री फूसराज बच्छावत। साथ में श्री माणकचन्द रामपुरिया, श्री गणपतराज बोहरा एवं श्री गुमानमल चोरड़िया।



श्री फूसराज बच्छावत के अभिनन्दनार्थ आयोजित समारोह में श्री भँवरलाल कोठारी, श्री चम्पालाल बाँठिया आदि।



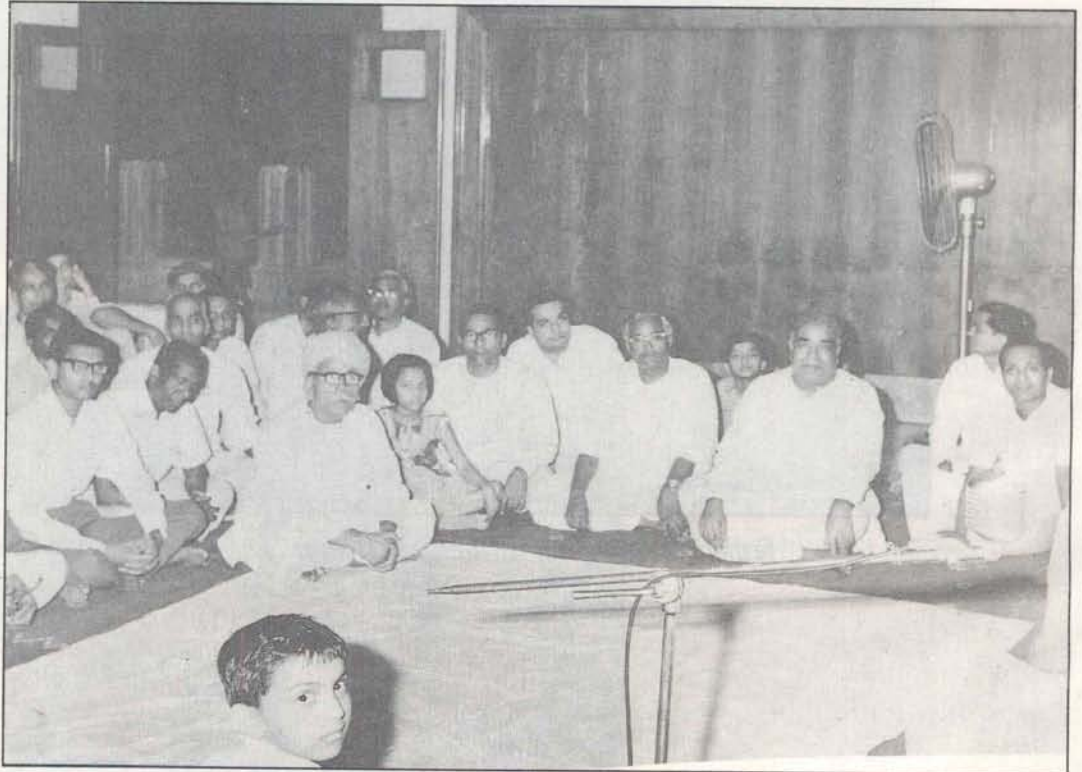
सभा की स्वर्ण जयंती पर आयोजित वाद-विवाद पर पुरस्कार प्रदान करते हुए श्री फूसराज बच्छावत, श्री पारसमल कांकरिया एवं सभा के मंत्री श्री झंवरलाल बैद।



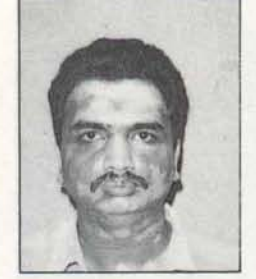
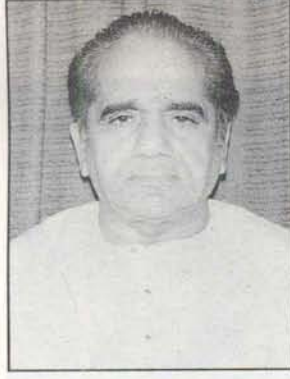
विद्यालय के वर्तमान मंत्री श्री सरदारमल काँकरिया



श्री जैन विद्यालय द्वारा आयोजित समारोह में दानवीर सेठ श्री सोहनलाल दूगड़ एवं प्रो० कल्याणमल लोढ़ा आदि अतिथिगण।



विद्यालय समारोह में अतिथिगण बायें से दायें- सर्वश्री फूसराज बच्छावत, हरखचन्द कांकरिया, दीपचंद कांकरिया, पारसमल कांकरिया, फूसराज कांकरिया, रिखबदास भंसाली आदि।



प्रथम पंक्ति में
द्वितीय पंक्ति में
तृतीय पंक्ति में
चतुर्थ पंक्ति में

- बच्छराज अभाणी, जे. एल. मित्री, भवंरलाल वस्साणी, केशरीचन्द गेलड़ा
- प्रेमचन्द मुकीम, ललित कांकरिया, कमलसिंह भंसाली, सुभाष बच्छावत
- फागमल अभाणी, कन्हैयालाल लूणिया, किशोर कोठारी, अरुण मालू
- सोहनलाल गोलछा, अम्बिकाप्रसाद भूत, अशोक भंसाली, अजय बोथरा

श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता एवं हवड़ा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष



भैरूदान गोलछा
पूर्व अध्यक्ष



किशनलाल कांकरिया
पूर्व अध्यक्ष



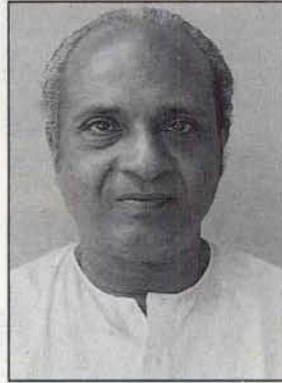
सोहनलाल बांठिया
पूर्व अध्यक्ष



जयचन्दलाल रामपुरिया
पूर्व अध्यक्ष



सूरजमल बच्छावत
पूर्व अध्यक्ष



रिखबदास भंसाली
पूर्व अध्यक्ष



किशनलाल बोथरा
पूर्व अध्यक्ष, कलकत्ता
अध्यक्ष, हवड़ा



मोहनलाल भंसाली
अध्यक्ष, कलकत्ता

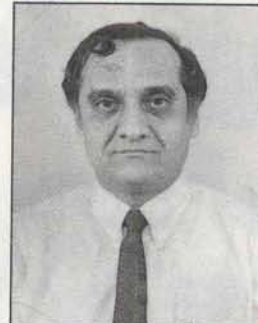


सोहनराज सिंघवी
उपाध्यक्ष, कलकत्ता



सुरेन्द्रकुमार बांठिया
उपाध्यक्ष, हवड़ा

सभा के उत्साही कार्यकर्ता गण



प्रथम पंक्ति में
द्वितीय पंक्ति में
तृतीय पंक्ति में
चतुर्थ पंक्ति में

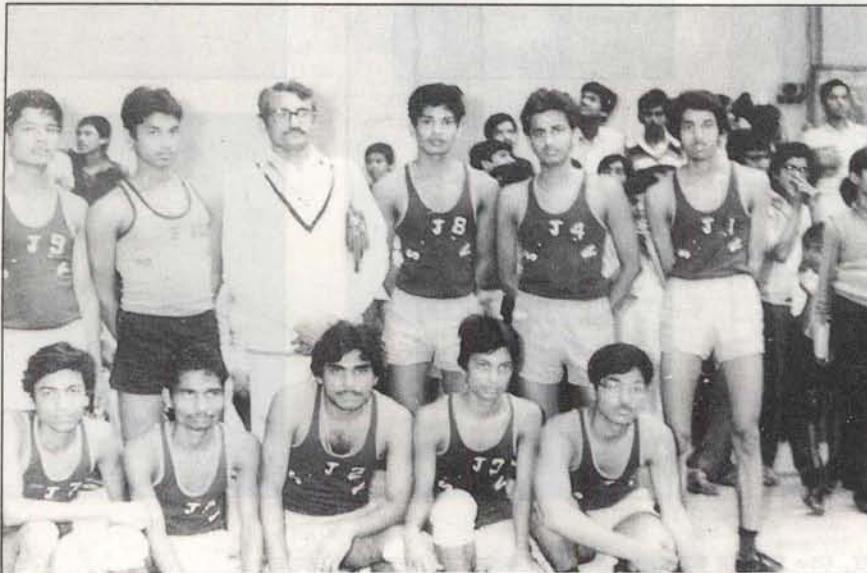
- विजयसिंह नाहर, स्व० फूसराज कांकरिया, हरखचन्द कांकरिया, भंवरलाल कर्णावट
- माणकचन्द रामपुरिया, सुन्दरलाल दुगड़, स्व० दीपचन्द कांकरिया, स्व० पूनमल कांकरिया
- स्व० जीवराज बैद, शिखरचन्द चौधरी, निर्मलकुमार बांठिया, रतन चौधरी
- विनोद कांकरिया, विनोद बैद, विनोद मित्री, इन्द्रकुमार कठौतिया



सन् १९६७ में आयोजित स्वतन्त्रता दिवस समारोह।



विद्यालय अध्यापकों का समूह चित्र १९७४



विद्यालय की विजयी वालीबॉल टीम श्री हरिहर तिवारी के साथ।

सम्पादक मंडल



कामेश्वरप्रसाद वर्मा



पद्मचन्द नाहटा



भूपराज जैन



शरदचन्द्र पाठक



राधेश्याम मिश्र



रिधकरण बोथरा



डा० आर. पी. उपाध्याय



लक्ष्मीशंकर मिश्र

श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता के
पूर्व एवं वर्तमान पदाधिकारी गण



अजीतमल पारख
पूर्व मंत्री



रिधकरण बोथरा
भूतपूर्व मंत्री



बच्चन सिंह
भूतपूर्व प्रधानाध्यापक



रामानंद तिवारी
भूतपूर्व प्रधानाध्यापक



कन्हैयालाल गुप्त
भूतपूर्व प्रधानाध्यापक



कामेश्वरप्रसाद वर्मा
प्रधानाध्यापक, कलकत्ता



जयराम सिंह
प्रधानाध्यापक, हवड़ा



श्रीमती ओल्गा घोष
प्रधानाध्यापिका, हवड़ा



श्री जैन विद्यालय, हवड़ा की
बहुआयामी प्रवृत्तियां।

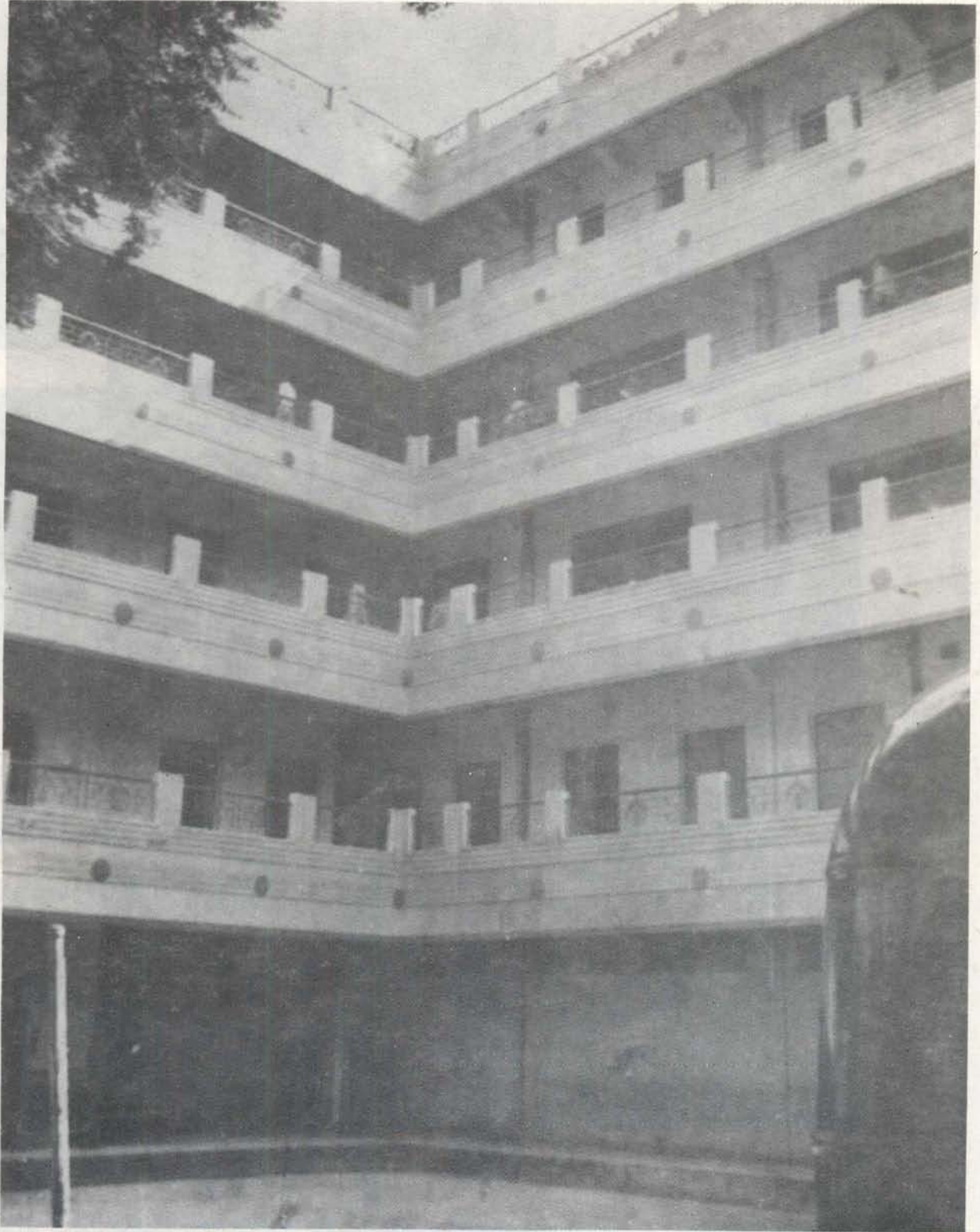




श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता की हीरक जयन्ती के उपलक्ष्य में श्री जैन विद्यालय, हवड़ा की ओर से आयोजित संगीत संध्या के विभिन्न दृश्य।



विद्यालय खण्ड



श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता



श्री जैन विद्यालय, हवड़ा



श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता के शिक्षक प्रबन्ध समिति के पदाधिकारियों के साथ।



प्रधानाध्यापक श्री के.पी. वर्मा।



चतुर्थ श्रेणी कर्मचारीगण।



श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा प्रबन्ध समिति ।



श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता प्रबन्ध समिति ।



श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता शिक्षक वृन्द एवं सहकर्मी ।



गणतंत्र दिवस समारोह (1994) के अवसर पर मंच पर विराजमान श्री मोहनलाल भंसाली, श्री कमल मित्रा, श्री के.पी. वर्मा, ले. जनरल के.डी. सिन्हा, (जीओसी, बंगाल एरिया), श्री वीरेन्द्र सिंह बांठिया, आयकर आयुक्त आदि।



श्री जैन शिल्प शिक्षा केन्द्र (नेशनल ओपन स्कूल) की छात्राओं का समूह चित्र प्रदर्शनी के अवसर पर (1993)।



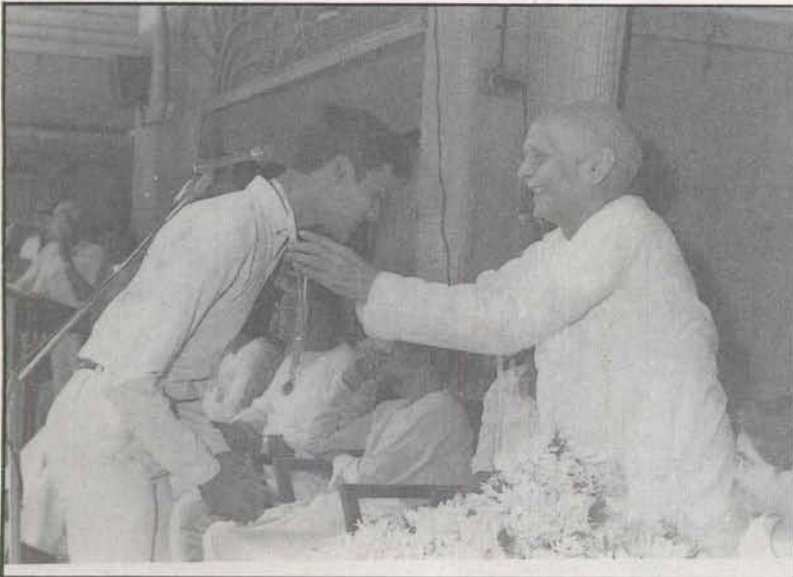
सातवें निःशुल्क नेत्र-शल्य चिकित्सा शिविर के अवसर पर सभा के कर्मठ कार्यकर्तागण।



लोकप्रिय प्रधानाचार्य श्री तिवारी जी की बिदाई के अवसर पर मंचस्थ अतिथि आचार्य श्री विष्णुकांत शास्त्री, श्री पुष्करलाल केड़िया एवं श्री ललिता प्रसाद त्रिपाठी।



प्रथम दिवसीय आवरण टिकिट पर मुहर जारी करते हुए फिलेटिक बूथ, कलकत्ता जी.पी.ओ., श्री इन्द्र कुमार कठोटिया एवं विद्यालय के पदाधिकारीगण।



छात्र को प्रतिभा पुरस्कार से सम्मानित करते हुए श्री सूरजमल बच्छावत।



श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता स्वर्ण
जयन्ती महोत्सव के विभिन्न दृश्य।



सर्वाधिकार सुरक्षित © (२०२१) जैन शिक्षण संस्था
सर्व अधिकार सुरक्षित रहेंगे।



नेताजी इण्डोर स्टेडियम में आयोजित स्वर्ण जयन्ती समारोह (1984) को सम्बोधित करते हुए श्री अशोक गहलोत, तत्कालीन नागरिक उड्डयन मंत्री, भारत सरकार।



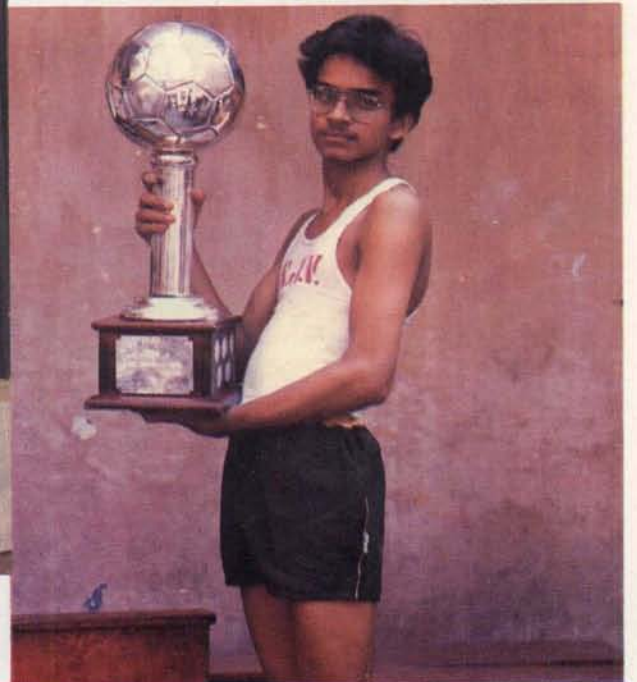
प्रमुख अतिथि श्री अशोक गहलोत, केन्द्रीय नागरिक एवं उड्डयन मंत्री को अभिनन्दन पत्र समर्पित करते हुए श्री सरदारमल कांकरिया।



स्वर्ण जयन्ती महोत्सव (1984) के अवसर पर आयोजित जैन पत्रकार परिषद् का एक दृश्य।

चित्र परिचय

- 1 महावीर जयन्ती पर आयोजित प्रभात फेरी।
- 2 सामूहिक वाद्य यंत्र दल के बीच प्रधानाध्यापक श्री रामानन्द तिवारी।
- 3 यूनिवर्सिटी इंस्टीट्यूट में आयोजित वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्रो० सुधीन चटोपाध्याय, श्री देवराज मेहता, पोस्टमास्टर जनरल एवं अन्य अतिथिगण।
- 4 अन्तः विद्यालय वालीबॉल प्रतियोगिता का एक दृश्य।
- 5 अन्तः विद्यालय वालीबॉल प्रतियोगिता में विजयी विद्यालय टीम का कप्तान संजय डूंडलोदिया ट्रॉफी के साथ।



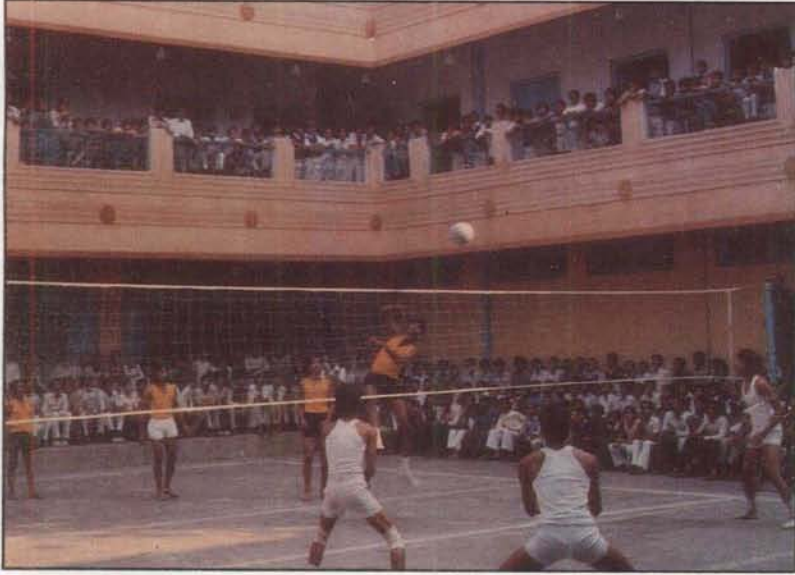


वार्षिक खेलकूद 1994 पुरस्कार प्रदान करते हुए श्री शिखर चन्द मिश्री एवं श्री पलाश नन्दी।





अन्तः विद्यालय वालीबॉल प्रतियोगिता (1983-1984)
उद्घाटनकर्ता श्री अशोक घोष, अखिल भारतीय
फुटबॉल फेडरेशन के चेयरमैन एवं श्री भैवरलाल कर्णावट,
प्रमुख अतिथि।



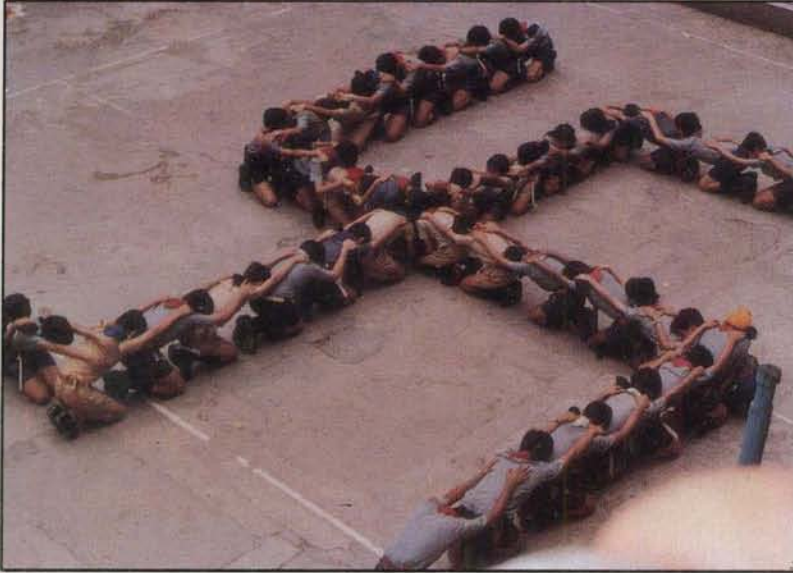
अन्तः विद्यालय वालीबॉल प्रतियोगिता का एक दृश्य।



अन्तः विद्यालय वालीबॉल प्रतियोगिता में सम्मिलित
विद्यालय की टीम।



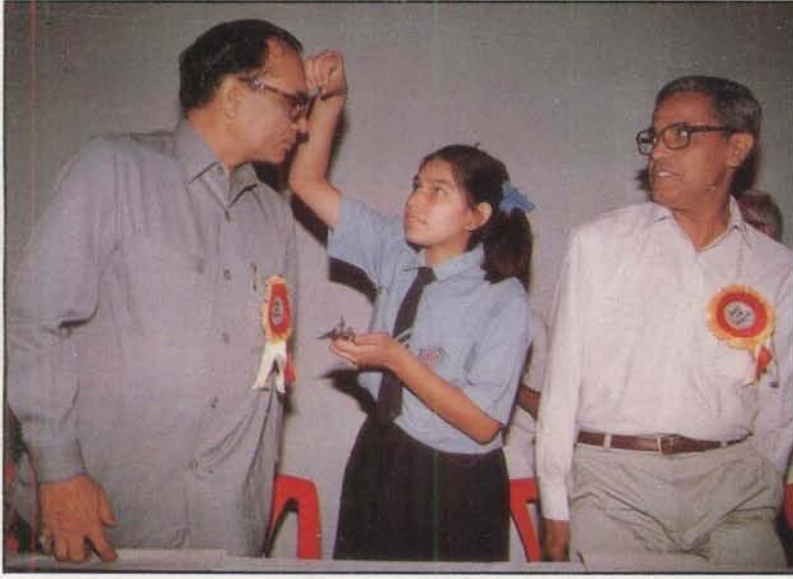
सभा के ट्रस्टी श्री कन्हैयालाल मालू छात्र को पुरस्कार प्रदान करते हुए।



विद्यालय बालचर दल के छात्र स्वस्तिक चिन्ह की मुद्रा में।



सभा के वरिष्ठ कार्यकर्ता श्री जसकरण बोथरा का माल्यार्पण द्वारा स्वागत।



विद्यालय के वार्षिकोत्सव के अवसर पर प्रमुख अतिथि उद्योगपति श्री छोटूलाल नाहटा का तिलक द्वारा स्वागत।



जैन विद्यालय, कलकत्ता एवं हवड़ा के वार्षिकोत्सव के अवसर पर मंचस्थ अतिथि शिक्षा सचिव श्री जे.आर साहा, आई.ए.एस., श्री बजरंग जैन, श्री रिखबदास भंसाली एवं श्री सरदारमल कांकरिया।



गणतंत्र दिवस समारोह पर छात्रों को पुरस्कार प्रदान करते हुए डा० रमेश चन्द्र शर्मा, निदेशक, इण्डियन म्यूजियम।



श्री पारसमल कांकरिया अपने अभिनन्दन पर आभार प्रकट करते हुए, साथ में प्रमुख अतिथि श्री विमल चन्द झाबक, आयकर आयुक्त।



प्रधानाचार्य श्री कन्हैया लाल गुप्त को सेवा निवृत्ति के अवसर पर आयोजित बिदाई समारोह में सभा के अध्यक्ष श्री रिखब दास भंसाली वाग्देवी की प्रतिमा प्रदान करते हुए।



सभा की हीरक जयन्ती (1988-89) पर आयोजित विद्वत् परिषद में प्रख्यात पत्रकार एवं सम्पादक श्री गणेश ललवाणी सभा के उपाध्यक्ष श्री भँवरलाल कर्णावट से सम्मान प्रतीक ग्रहण करते हुए।



पाठ्यक्रम की निःशुल्क पुस्तक वितरण समारोह के अवसर पर प्रो० दिव्येन्दु होता, प्रो० कल्याणमल लोढ़ा, स्टेट्समैन के जनरल मैनेजर श्री वासुदेव रे और आजकल के उपसंपादक।



रक्तदान शिविर के अवसर पर सभा के कार्यकर्ताओं द्वारा रक्तदान का एक दृश्य।



नेशनल ओपन स्कूल की छात्राएं अध्यापिकाओं के साथ।

चित्र परिचय

- 1 श्री जैन विद्यालय, हवड़ा के गणतंत्र दिवस समारोह के प्रमुख अतिथि श्री बादल बोस का श्री सूरजमल बच्छावत द्वारा स्वागत एवं सम्मान।
- 2 श्री जैन विद्यालय, हवड़ा के वार्षिकोत्सव पर प्रमुख वक्ता श्री बजरंग जैन से पुरस्कार ग्रहण करती हुई छात्रा।
- 3 विद्यालय के प्रधानाध्यापक एवं प्रधानाध्यापिका से परामर्श करते श्री सरदारमल कांकरिया।
- 4 श्री सरदारमल कांकरिया अभिनन्दन प्रसंग पर श्री जैन विद्यालय, हवड़ा के प्रांगण में सम्पूर्ण भारत से पधारे हुए अतिथियों के सम्मान का दृश्य।



करते हैं हम स्वागत

आज यही सौभाग्य अपरिमित-
करते हैं हम स्वागत ॥
आप विज्ञ जन सुहृद पधारे-
जाग गए हैं भाग हमारे,
यह अनुकम्पा बड़ी आपकी-
नव-जीवन की आगत ।
हम सब का सौभाग्य अपरिमित-
करते हैं जो स्वागत ॥
भावों का मृदु सुमन सजा है,
रन्ध्र-रन्ध्र में वेणु बजा है,
मोद-मगन है जन-जन सबका-
खिला कमल-मन शत-शत ।
हम सब का सौभाग्य अपरिमित-
करते हैं जो स्वागत ॥
आप सभी का संबल पाकर,
बढ़ते रहें निरंतर पथ पर,
उच्चादर्शों से अनुप्राणित,
जीवन का हो अभिमत ।
हम सब का सौभाग्य अपरिमित-
करते हैं जो स्वागत ॥
आज जयन्ती हीरक-भूषित,
बने धरा पर पुण्य-विभूषित,
जन-जन में देवत्व भाव की-
करें प्रतिष्ठा विधिवत् ।
आज यही सौभाग्य अपरिमित-
करते हैं हम स्वागत ॥

41-डी, श्यामाप्रसाद मुखर्जी रोड, कलकत्ता-26

बात की बात में संस्था बनी

बहुत अर्से, करीब 70 वर्ष पूर्व की बात है, जैन समाज की एक सभा हो रही थी उसमें एक सज्जन ने मजाक में कह दिया कि स्थानकवासी समाज का यहां क्या है? हमारे मन्दिर हैं, उपाश्रय हैं, धर्मशाला हैं। यह बात मेरे पूज्य पिता श्री स्व० फूसराज बच्छावत को बड़ी बुरी लगी और उसी समय उन्होंने निश्चय किया कि जब तक कलकत्ता में एक संस्था स्थापित नहीं करेंगे तब तक चैन से नहीं रहूंगा। उन्होंने मेरे काकाजी श्री नेमचन्दजी को बुलाया और कहा कि तुम पढ़े-लिखे हो, एक संस्था खड़ी करना है। बात आगे बढ़ी और 1 नम्बर पांचागली में उदयचंदजी डागा की गद्दी खाली थी, वह उनसे मिल गई और वहीं से संस्था के गठन का काम शुरू करने का विचार तय हुआ। पहिले संवत्सरी प्रतिक्रमण किन्हीं मेम्बरों की गद्दी में हुआ करता था। यह जगह हो जाने से लोगों का सहयोग मिलने लगा— श्री सुजानमलजी रांका, श्री मुन्नालालजी रांका, श्री ईश्वरदासजी छल्लाणी, श्री रावतमलजी बोथरा, श्री भैरूदानजी गोलछा, श्री किशनलाल जी कांकरिया, श्री तोलारामजी मिन्नी, श्री जानकीदासजी मिन्नी, श्री चांदरतनजी मिन्नी, श्री अभयराजजी बच्छावत, श्री बदनमलजी बांठिया, श्री सोभागमलजी डागा आदि।

प्रत्येक रविवार को एक सभा होने लगी जिसमें गुजराती भाई श्री नेमीदास का बहुत बड़ा सहयोग था। वे शास्त्रों के जानकार थे। इस प्रकार कुछ वर्षों बाद सभा ने एक विद्यालय प्रारम्भ करने का निश्चय किया। एक अध्यापक श्री बच्चन सिंहजी की नियुक्ति की। जैसे-जैसे छात्रों की संख्या बढ़ती गई और अध्यापकों की नियुक्तियां की गईं।

बिहार में भूकम्प हुआ उसमें सभा के सदस्य गण खाद्य सामग्री, कम्बल आदि लेकर गये एवं पीड़ितों में उसका वितरण किया गया। इसी बीच मोहनलाल गली सुतापट्टी में एक मकान खरीदा गया उसमें 5-6 कक्षा तक पढ़ाई होने लगी। बड़ी जगह लेने की सदस्यों की प्रबल इच्छा थी। इसी बीच पू० जयंतिलालजी महाराज का चौमासा हुआ और व्याख्यान में सब लोग आने-जाने लगे। गुजराती भाइयों से प्रेम बढ़ा। हमलोगों ने एक दिन प्रभुदास भाई भवानीपुर वालों से बात की। उन्होंने हमें भवानीपुर बुलाया। मैं और श्री हरकचंदजी कांकरिया दोनों उनसे मिलने गये। प्रभुदास भाई के मित्र की एक जगह थी मनमोहन भाई की। उन्होंने उनको बुलाया और जगह की बात पक्की की। करीब 8 कट्ठा जमीन थी। हमलोगों ने कहा कि हमारे पास इतनी रकम तो होगी नहीं। उन्होंने कहा कि 25000 रुपया बिना ब्याज के बाकी रहेंगे। क्यों घबड़ाते हो, करो पक्का। हमने बात पक्की कर ली। फिर लोगों से चेष्टा करने लगे। बहुत खुशी समाज में छा गई और जमीन की रजिस्ट्री भी हो गई।

इसके बाद मनमोहन भाई ने करीब 8 कट्ठा जमीन मगनमल जी पारख को बेचने का नक्की किया। हमें जब मालूम हुआ तो हमलोगों ने मनमोहन भाई से कहा कि यह जमीन आप हमें दे दें। हमें तो स्कूल बनाना है। हम लोगों ने मगनमलजी पारख के पास जाकर उनसे वह सौदा सभा के नाम से करवाने की स्वीकृति ले ली। इस तरह से करीब 17 कट्ठा जमीन हो गई।

विद्यालय भवन की नींव लगा दी गई। और काम जोरों से होने लगा। एक साल में बगल का हिस्सा बन गया और विद्यालय चालू हो गया। उस वक्त सीमेन्ट की बहुत मुश्किल थी लेकिन श्री विजयसिंहजी नाहर ने आवश्यक सीमेन्ट का परमिट पास करवा दिया और नक्शा पास करवाने में भी उन्होंने बहुत सहयोग दिया।

इसी बीच लोगों ने प्रधानाध्यापक श्री रामानन्द तिवारी को नियुक्त किया और काम बढ़ता गया। कक्षा 10वीं तक का शिक्षण देने की हमें अनुमति मिल गई फिर हायर सेकेण्डरी की कक्षाएं प्रारम्भ करने की अनुमति श्री विजय बाबू ने दिलवा दी। कार्यकर्ताओं का तथा अध्यापकों का बहुत बड़ा सहयोग रहा और करीब 2500 विद्यार्थी पढ़ने लगे। परीक्षा परिणाम शत-प्रतिशत रहने लगा। बड़ाबाजार में श्री जैन विद्यालय का बहुत नाम हो गया। और इसी तरह लोगों का हौसला बढ़ता गया और एक नया स्कूल हबड़ा में बनाने का निश्चय किया। वह भी एक साल में बनकर तैयार हो गया। सुबह लड़कियां एवं दोपहर में लड़के शिक्षा प्राप्त करते हैं। कुल मिलाकर 2300 लड़के-लड़कियां शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और कक्षा 10 तक की पढ़ाई चालू है। यहां भी उच्च माध्यमिक तक की शिक्षा देने का निश्चय है।

हमारी सफलता का मुख्य कारण है यहां के कार्यकर्ताओं का जोश और संगठन। सभी बड़े प्रेम से कार्य करते हैं। चुनाव यहां सलेक्शन से होता है। कभी वोटिंग की जरूरत नहीं पड़ती है। परिवार के रूप

में यहां सभी काम करते हैं। यहां एक दूसरे की टांग नहीं खींचते हैं। इसी तरह एक हास्पिटल निर्माण की योजना चल रही है बहुत बड़े पैमाने पर। करीब तीन करोड़ रुपए के वचन लोगों के मिले हैं। उम्मीद है यह काम भी शीघ्र पूरा हो जाएगा। अन्त में प्रभु से प्रार्थना है कि

हमारा संगठन बना रहे। हमारी कई और प्रवृत्तियों बहुत सफल रही हैं। बुक बैंक, कम्प्यूटर शिक्षण आदि। आप सबके आशीर्वाद से कालेज करने की कामना है, वह भी शीघ्र पूरी होगी। आप सबका प्यार एवं स्नेह सहयोग बना रहे, यही प्रार्थना है।

—पूर्व अध्यक्ष : श्री श्वे० स्था० जैन सभा एवं श्री जैन विद्यालय

विकास एवं उन्नयन का मूल मंत्र : निष्काम सेवा एवं साधना

श्री जैन विद्यालय की हीरक जयन्ती के पावन प्रसंग पर मैं नमन करता हूँ एवं श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ उन संस्थापकों को जिन्होंने साधना, शिक्षा और सेवा का संकल्प लेकर इस विद्यालय की स्थापना की जो आज वट वृक्ष के रूप में हमारे समक्ष विद्यमान है। न जाने कितने मनीषी, समाज सेवी, चिंतक, लेखक, डाक्टर एवं वैज्ञानिक इस संस्था की प्रारम्भिक देन रहे हैं। मैं भी विद्यालय की गतिविधियों से विगत 37 वर्षों से जुड़ा हुआ हूँ एवं स्वयं को गौरवान्वित महसूस करता हूँ कि मुझे मेरी प्रारम्भिक शिक्षा भी इसी विद्यालय से प्राप्त हुई। स्वप्न में भी मैंने यह नहीं सोचा था कि महायुद्ध की विभीषिका में भी यह विद्यालय कायम रह पायेगा। किन्तु निष्काम सेवा भावना और सहयोग से जिस संस्था की नींव रखी गई हो उसका कभी विनाश नहीं होता। जिस संस्था का सृजन ही अहम् से परे रहकर हुआ हो, उसका विघटन कभी संभव नहीं। सन् 1946 से मैं विद्यालय की प्रबन्ध समिति से नियमित रूप से जुड़ा हुआ हूँ। यहां पूर्ण सद्भावना का वातावरण पूर्वजों के आशीर्वाद से इस संस्था को प्राप्त है। सम्प्रति 2400 छात्र सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र के आधार पर यहां शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

शिक्षा के क्षेत्र का और अधिक प्रसार एवं विस्तार हो, इस हेतु सभा की हीरक जयन्ती के पावन प्रसंग पर यह संकल्प लिया गया कि एक और विद्यालय की स्थापना की जाय। समाज का सहयोग एवं

आशीर्वाद प्राप्त हुआ एवं 10 माह की स्वल्प अवधि में हवड़ा में एक नवनिर्मित भवन विधिवत् विद्यालय का रूप लेकर उपस्थित हुआ एवं तीन वर्ष की अल्प अवधि में ही पश्चिम बंग शिक्षा परिषद से मान्यता प्राप्त कर 2300 छात्र एवं छात्राओं को समुचित शिक्षा प्रदान कर रहा है। कम्प्यूटर शिक्षण जो आज के युग में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग है, वह भी यहां प्रदान किया जा रहा है।

संस्था को स्थापित करना सहज है किन्तु आवश्यकता पड़ती है इसे सुचारु रूप से शालीनता पूर्वक चलाने की। एक पीढ़ी हमारी आंखों से ओझल हो गई एवं दूसरी पीढ़ी भी शिथिलता महसूस करने लगी है। दायित्व आता है समाज की युवा शक्ति पर जो आज हर कार्य करने में सक्षम है। हीरक जयन्ती के इस पावन प्रसंग पर उनका आह्वान करता हूँ कि वे अपने दायित्व को समझें एवं प्रामाणिकता के साथ निष्काम भाव से इसे संभालें।

हर व्यक्ति समाज का कृणी है और कृण चुकाने के लिए आवश्यकता है निष्काम सेवा भावना की एवं लगन की। मुझे पूर्ण विश्वास है कि समाज का कोई भी वर्ग अभी भी कर्तव्यच्युत नहीं है एवं पूर्वजों की इस अमानत के, धरोहर के सतत विकास एवं उन्नयन में सदैव सहयोग प्रदान करेगा। मैं विद्यालय परिवार के सभी सदस्यों से भी अनुरोध करूंगा कि जिस निष्ठा के साथ आप सभी ने बच्चों के चरित्र निर्माण में सहयोग प्रदान कर उनका भविष्य उज्ज्वल किया है, वही आशीर्वाद भविष्य में भी उन्हें प्रदान करते रहेंगे।

यही मेरी शुभकामना है।

—अध्यक्ष, श्री श्वे० स्था० जैन सभा, कलकत्ता

प्रगति पथ का राही : श्री जैन विद्यालय

आज के युग में खासकर भारतवर्ष में शिक्षा के लिए योग्य एवं अच्छे स्कूलों की अत्यधिक कमी है। बड़े शहरों में जमीनें इतनी महंगी हो गई हैं कि नये स्कूल बनने बंद जैसे हो गये हैं। कुछ बड़े उद्योगपति अपने नाम से जरूर विद्यालय बनाते हैं, लेकिन उनकी शुल्कों का स्तर इतना ऊंचा रहता है कि जनसाधारण के लिए इन विद्यालयों में प्रवेश पाना दुष्कर कार्य हो गया है जबकि उच्च शिक्षा की आज के युग में अत्यन्त आवश्यकता है। अच्छे स्कूलों की कमी एवं शिक्षा के अभाव में कई प्रतिभाएं विकसित ही नहीं हो पाती हैं। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार संसार के श्रेष्ठ कार्यों में अच्छा स्कूल बनाना एवं चलाना है सेवाभाव से ताकि योग्य बालक अच्छी शिक्षा प्राप्त करके अपना जीवन ही नहीं अपितु देश को भी उन्नत बनावें। ऐसी विषम स्थिति में भी कलकत्ता जैसे महानगर में श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा द्वारा विद्यालयों का संचालन निष्काम सेवा भावना एवं निष्ठा से किया जा रहा है।

श्री जैन विद्यालय कलकत्ता में विशेषकर बड़ा बाजार में अत्यन्त लोकप्रिय एवं उच्चस्तर का विद्यालय है। आज से 60 वर्ष पहले जिन सेवा समर्पित सज्जनों ने इस विद्यालय की नींव रखी उस वक्त उनका शिक्षा के प्रति सम्मान देखकर सर श्रद्धा से झुक जाता है। आज से 60 वर्ष पहले कुछ व्यवसायी सज्जनों ने भविष्य की कल्पना की थी। वे कितने दूरदर्शी थे, जिन्होंने भविष्य में शिक्षा की अनिवार्यता महसूस

की थी तथा बीज के रूप में एक कमरा किराये पर लेकर एक शिक्षक की नियुक्ति की तथा 2-4 छात्रों से यह विद्यालय प्रारम्भ किया गया। शिक्षा के प्रति रुचि तथा आवश्यकता देखते हुए कुछ दिनों पश्चात् उत्साही सज्जनों ने पौयापट्टी में संस्था का एक मकान खरीदा तथा कक्षा 5 तक विद्यालय शुरू किया। वहां कई वर्षों तक श्री जैन विद्यालय चलता रहा लेकिन शिक्षा की आगे भी आवश्यकता है एवं बढ़ती हुई छात्र संख्या महसूस कर सन् 1958 में नवीन विशाल भवन 18-डी, सुकियस लेन में विद्यालय प्रारम्भ किया गया। नये भवन में कक्षा 8 तक अध्ययन अध्यापन शुरू किया गया। श्री रामानन्द तिवारी को प्रिन्सिपल नियुक्त किया गया। योग्य अध्यापकों का चयन करके नये भवन में नई कार्यकारिणी समिति को भार सौंपा गया कि यह स्कूल उन्नत हो। कार्यकारिणी समिति में बुजुर्ग एवं नवयुवक दोनों प्रकार के सदस्य थे। कार्यकर्ताओं में जोश था, आगे बढ़ने की तमन्ना थी। शिक्षक भी ऐसे योग्य एवं निष्ठावान मिले कि स्कूल को उन्नत करना ही उनका लक्ष्य था। फिर 10वीं कक्षा के लिए मान्यता मिली। कुछ समय बाद कक्षा 12 तक की मान्यता प्राप्त हुई। शनैः शनैः स्कूल बड़ा बाजार में ही नहीं सारे कलकत्ता में मशहूर हो गया।

जैन विद्यालय में भर्ती होना काफी कठिन कार्य हो गया। एडमीशन के समय जो भीड़ जुटती है वह इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है। विद्यालय में कम से कम फीस रखी हुई है। शिक्षकों को सरकार एवं बोर्ड द्वारा निर्धारित वेतन मिलता है। विज्ञान एवं वाणिज्य की शिक्षा सभी जाति के छात्रों को यहां बिना किसी भेदभाव के दी जाती है। स्काउटिंग, बैण्ड एवं आधुनिक विज्ञान प्रयोगशाला से युक्त यह स्कूल कलकत्ता के शिक्षा जगत में विशिष्ट स्थान बना चुका है। इस वर्ष कम्प्यूटर शिक्षा भी भविष्य की आवश्यकता देखते हुए प्रारंभ कर दी है। यह स्कूल मध्यम श्रेणी एवं साधारण श्रेणी के परिवारों के लिए एक आदर्श स्कूल है। यहां निम्न आय वाले परिवार के छात्रों के लिए फीस माफ की जाती है। शिक्षा सबको मिले, ऐसा लक्ष्य इस स्कूल के संचालकों का है। आज के युग में जब प्रसिद्ध स्कूलों की फीसें आसमान छू रही हैं, श्री जैन विद्यालय शिक्षा को व्यवसाय मानकर नहीं अपितु सेवा भावना से चला रही है।

स्कूलों की महती आवश्यकता को देखते हुए श्री श्वे० स्था० जैन सभा ने हवड़ा में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सभी साधनों से युक्त एक नवीन जैन विद्यालय का निर्माण किया। 125 लाख रुपयों की लागत से बना यह स्कूल अल्प समय में ही हवड़ा में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। दो वर्ष के अन्दर 2500 छात्र छात्राएं कक्षा एक से कक्षा दस तक की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। कक्षा 5 से कम्प्यूटर शिक्षण अनिवार्य है। खेलकूद के भी सभी साधन यहां उपलब्ध हैं। योग्य शिक्षकों की देखरेख में इस स्कूल ने हवड़ा में अपनी अलग पहचान बनाई है। कम से कम फीस द्वारा जनता की सेवा में यह स्कूल बिना किसी भेदभाव के सभी जाति के बच्चों को समान भाव से शिक्षा दे रहा है। जैन,

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी धर्म के छात्र यहां शिक्षा पा रहे हैं। शिक्षक भी सभी प्रान्तों एवं जातियों के हैं जिनकी योग्यता के बल पर नियुक्ति की गई है। स्कूल में ठंडे पानी की मशीन एवं छात्रों के लिए वाजिब मूल्य पर खाने-पीने की वस्तुओं के लिए एक कैन्टिन भी है। प्रार्थना, भाषण एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन के लिए विशाल हाल भी बना हुआ है। भविष्य में इस स्कूल को कक्षा 12 तक करने की योजना है। इसके बाद कालेज बनाने की हार्दिक इच्छा है। शिक्षा की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए श्री श्वे० स्था० जैन सभा काफी सक्रिय

है तथा भावी योजना में सायंकालीन कालेज एवं कलकत्ता के उपनगरों में विद्यालय बनाने की योजना है। सभा द्वारा हवड़ा में 180 शय्याओं का आधुनिक सुविधायुक्त एक हास्पिटल निर्माणाधीन है जो भविष्य में हवड़ा निवासियों के लिए विशेष उपयोगी होगा। विद्यालय की हीरक जयन्ती के उपलक्ष में मैं स्कूल के सर्वांगीण विकास की हार्दिक कामना करता हूं।

—मानद् मंत्री : श्री जैन विद्यालय प्रबंध समिति, कलकत्ता

कि दाना खाक में मिलकर, गुले गुलजार होता है

मिट्टा दे अपनी हस्ती को, गर तु मर्तबा चाहे।

कि दाना खाक में मिलकर, गुले गुलजार होता है।

यदि आपको कुछ इज्जत, सम्मान चाहिए तो आपको, खुद को अपने कार्य में पूर्ण रूपेण निःस्वार्थ भाव से समर्पित होना होगा। दाना (बीज) जब जमीन में गिरता है, अपना अस्तित्व खत्म करता है तभी वह बाग गुलजार होता है। इसी संदर्भ में नींव के पत्थर के रूप में एक नाम महत्वपूर्ण है, वह है हमारे इस विद्यालय के संस्थापक सदस्य श्री फूसराजजी बच्छावत का— हम उन्हें नमन करते हैं।

अक्सर हमारे विद्यालय के शिक्षकों के मुख से यह सुनने को मिलता है कि इस विद्यालय की इज्जत ही हमारी इज्जत है। इसकी प्रतिष्ठा के लिए हम कुछ भी त्याग एवं उत्सर्ग करने के लिए तैयार हैं। ये मात्र शब्द ही नहीं थे। इस वर्ष भी एक उदाहरण हमें देखने को मिला, विद्यालय के इसी कार्य के लिए हमारे एक शिक्षक ने एक बहुत बड़े पद का तत्क्षण बिना किसी झिझक के त्याग कर दिया। कुछ शिक्षक तो ऐसे हैं जो इस विद्यालय की उन्नति के लिए सर्वतो भावेन समर्पित हैं। हमें नाज है हमारे इन शिक्षकों पर।

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा एक संस्था नहीं है, एक परिवार है। यहां पद का विशेष महत्व नहीं है— छोटे भाइयों को प्रोत्साहन देकर तैयार किया जाता है कि वे भविष्य में इन गतिविधियों को संभाल कर समाज के नाम को गौरवान्वित करें। सभा व विद्यालय परिवार

एकजुट होकर उन्नति की ओर अग्रसर है। इसी का परिणाम है वर्ष भर चलने वाली यह हीरक जयन्ती। ये जयन्तियां हमारे लिए मात्र मनोरंजन का ही कारण नहीं होती हैं वरन् एक नये कार्य के लिए चुनौती व प्रेरणा देती हैं। सभा व विद्यालय परिवार ने इस जयन्ती पर एक ऐसा ही संकल्प इसी भवन में श्री जैन कालेज सायंकालीन सत्र में चलाने का लिया है।

परिवार में बुजुर्गों की कार्य प्रणाली उनका चरित्र व स्नेह ही छोटों के लिए कार्य करने का सम्बल होता है। हमारी इसी शृंखला में आते हैं हमारे बुजुर्ग श्री सूरजमलजी बच्छावत, कर्मठ कार्यकर्ता श्री सरदारमलजी कांकरिया व निष्पक्ष विचारक श्री रिखबदासजी भंसाली। श्री कांकरिया ने इन चार दशकों से विद्यालय को जिस निष्काम सेवा भावना, समर्पण एवं अथक अध्यवसाय से संभाला है, आने वाली पीढ़ी के लिए वह सदैव प्रेरणा स्रोत बनकर उत्साहवर्द्धन करेगा।

सभा व विद्यालय परिवार के लोग कर्तव्य निष्ठा व स्नेह से शिक्षा व सेवा के कार्यों में बराबर लगे रहें, यही मेरी जिनेश्वर भगवान से कामना है।

—मंत्री, श्री श्वे० स्था० जैन सभा, कलकत्ता-1

विद्यालय के बढ़ते चरण

श्री जैन विद्यालय की स्थापना सन् 1934 में कलकत्ता के व्यावसायिक स्थल बड़ाबाजार में एक किराये के कमरे में हुई थी। विद्यालय की स्थापना का मूल उद्देश्य रहा है छात्रों में नैतिक शिक्षा का पूर्णरूप से प्रचार-प्रसार एवं छात्रों का जीवन अनुशासित होकर प्रगति करे। श्री जैन विद्यालय की स्थापना के समय भारत गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। देश का वातावरण स्वतंत्रता के लिए आन्दोलित था। अन्त में विभिन्न बलिदानों के बाद देश सन् 1947 में स्वतंत्र हुआ।

स्थानकवासी समाज के प्रमुख नेताओं ने काफी विचार-विमर्श के बाद विद्यालय की स्थापना बहुत ही छोटे रूप से की थी। दिन प्रतिदिन छात्रों की बढ़ती हुई संख्या को देखकर विद्यालय के लिए भवन की आवश्यकता महसूस होने लगी। अतः मोहनलाल गली (सुतापट्टी) में स्कूल के लिए मकान खरीद लिया गया। चूंकि बड़ाबाजार कलकत्ता महानगरी का प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र है यहां के हिन्दी भाषी व्यवसायियों के छात्र द्रुतगति से प्रवेश लेते रहे हैं। अतः छात्रों की बढ़ती हुई संख्या एवं विद्यालय की सतत वर्तमान प्रगति को देखते हुए इस भवन में भी विद्यालय की कार्यवाही सुचारु रूप से चलाने में कमी महसूस होने लगी।

स्थानकवासी समाज के प्रमुख कार्यकर्ताओं स्वर्गीय फूसराजजी बच्छावत, स्वर्गीय मगनमलजी कोठारी, स्वर्गीय बदनमलजी बांठिया आदि के अथक प्रयासों से 18-डी, सुक्रियस लेन, कलकत्ता में स्कूल भवन हेतु सन् 1952 में जगह क्रय की गई। भवन निर्माण के लिए कलकत्ता के सभी स्थानकवासी महानुभावों से अर्थ संग्रह के लिए सहयोग करने का आग्रह किया गया। सभी के सहयोग से अर्थ संग्रह कर भवन निर्माण के कार्य का शुभारम्भ हुआ।

सन् 1958 में भवन निर्माण का कार्य पूर्ण करके विद्यालय नये भवन में स्थानान्तरित किया गया। छात्रों की संख्या अबाधगति से बढ़ती रही एवं पठन-पाठन कक्षा 1 से कक्षा 12 तक चलने लगा। विद्यालय को माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक की परीक्षाओं के लिए पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा अनुमोदन मिल गया। गत दो दशक से माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक परीक्षाओं का परिणाम शत-प्रतिशत रहा है। यह अपने आप में एक खास उपलब्धि है। इसका पूर्ण श्रेय यहां के कर्मठ शिक्षक वृन्द को है। स्कूल की प्रबन्ध समिति का भी पूर्ण योगदान रहा है।

सन् 1984 में विद्यालय की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर विश्वमित्र दैनिक पत्रिका के सम्पादक श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल ने समाज के नेतृवृन्द के समक्ष चुनौती भरे शब्दों में कहा कि, “जो स्वर्ण जयन्ती आप मना रहे हैं यह सिर्फ पूर्वजों की ही देन है। आप सब समाज के जागरूक कार्यकर्ता हैं। आप लोगों ने 50 सालों में क्या नयी उपलब्धि की है, अब कोई नया कार्यक्रम लेकर एक और विद्यालय की स्थापना करें।”

समाज के गणमान्य कार्यकर्ताओं ने उपर्युक्त चुनौती को स्वीकार किया एवं श्री सरदारमलजी कांकरिया, श्री रिद्धकरणजी बोथरा आदि कार्यकर्ताओं ने अथक प्रयास कर सन् 1991 के मई महीने में 25/1, बन बिहारी बोस रोड, हवड़ा में विद्यालय भवन हेतु जगह क्रय की। सन् 1992 में भवन निर्माण का कार्य सम्पन्न हुआ एवं विद्यालय प्रारम्भ किया गया। इस विद्यालय में छात्राओं हेतु कक्षा 1 से कक्षा 10 तक का शिक्षण प्रातःकाल में शुरू किया गया एवं दिन में छात्रों का शिक्षण प्रारम्भ किया गया। वर्तमान में छात्र-छात्राओं की संख्या करीब 2400 के लगभग है। यहां भी सुयोग्य एवं कर्मठ शिक्षकों द्वारा शिक्षा दी जाती है।

वर्तमान युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कम्प्यूटर शिक्षा का प्रारम्भ श्री माणकचन्दजी रामपुरिया के सहयोग से श्री जैन विद्यालय, हवड़ा में आरम्भ किया गया। श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता के भवन में स्थानाभाव से यह कम्प्यूटर शिक्षा दिनांक 10 जुलाई, '94 को “श्रीमती विमला मित्री कम्प्यूटर सेन्टर” के रूप में 20 कम्प्यूटरों से सुसज्जित वातानुकूलित हाल में शुरू की गयी है।

विद्या के क्षेत्र में शिक्षकों का योगदान सदैव महत्वपूर्ण रहा है। हीरक जयन्ती वर्ष के पावन प्रसंग पर विद्यालय के माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक परीक्षाफल ने एक कीर्तिमान स्थापित किया। पिछले सारे रेकार्ड तोड़कर इस वर्ष हिन्दी स्कूलों में इस विद्यालय ने प्रथम स्थान अर्जित किया है।

हीरक जयन्ती के उपलक्ष में मैं समग्र जैन विद्यालय परिवार को हार्दिक बधाई देते हुए कामना करता हूं कि विद्यालय भविष्य में दिन-प्रतिदिन प्रगति के पथ पर चलता रहे।

अध्यक्ष, श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता

mankind, irrespective of caste and creed, and to bring about revolution/reformation in achieving-

RIGHT KNOWLEDGE
RIGHT VISION
RIGHT CONDUCT

in the streamline of Jain Philosophy. That stream has generated right climate in our Shree Jain Vidyalaya and surprisingly captured up-beat mood among the students & teachers of school and members of the Managing Committees of Shree Jain Vidyalaya and Shree S.S. Jain Sabha.

From the trends in the current year so far, it looks that the results achieved this year may not be an aberration, it may be beginning of a new era. As it moves into a different trajectory, much higher levels of energy will be required in the infra-structure. Setting up of schools and colleges, of course, is a necessity, but to keep the same in right climate and in order requires proper systems to scale up its operations, significantly under high quality of co-ordination, unanimity and team work spirit which run to create the opportunity of success. Here at Shree Jain Vidyalaya, I have found such team-spirit among our fellow-members and teaching force and members of the Sabha to meet the challenges in the past and ahead of all, reflecting continued confidence. I would like to place on records their gratitude for such active support to act like member of only one very good united family on this grand occasion of the Diamond Jubilee of Shree Jain Vidyalaya, Calcutta. I also feel proud to remain working with such a high graded team since long when it was a "Small Pathsala at Mohanlal Galli." Jamunalal Bazaz Street. (Cloth Market Area of our Burrabazar). I like to pay my high and heart-felt regards to those predecessors who had a bright-dream for this Vidyalaya to serve mankind in the field of education to all irrespective of any cast & creed.

Under the team-spirit, Shree Jain Vidyalaya could scale such heights with the setting of its second unit at Howrah in 1991, which also got its independent recognition by the W.B. Board of Secondary Education this year, completing an important phase and very likely to have its Higher Secondary Division too and very soon, it will also emerge as a well integrated educational institute, well accepted and greeted by the people of Howrah.

SHREE JAIN VIDYALAYA : MY IMPRESSION

I am sure that all of us are quite pleased to learn about the Diamond Jubilee Celebration of Shree Jain Vidyalaya, Calcutta this year. It also gives us some satisfaction that during this year, the Vidyalaya has scaled new heights. Not only there has been a spectacular improvement in the results of Class-X and XII Examinations, 1994 of our Vidyalaya under Board and Council of Secondary and Higher Secondary Education, W.B., but also our students have been able to do exceptionally well in several other fields.

The activities witnessed during past years in respect of results and discipline of school students, have been not only outcome of the strenuous efforts put in by the talented Teaching-Force of our Vidyalaya, but also is a reflection of the buoyant vision and ardent desire of the Predecessors of Shree Shwetambar Sthanakvasi Jain Sabha, Calcutta in the past (about sixty-five/seventy years ago) to create a team of dedicated workers, though they had less education, having little knowledge of reading, writing arithmetics (Three RRR). They had acquired considerable steam, driven principally by a steady growth in the field of education and service to the

I am confident that the spirit, in a sense inbuilt of Shree Jain Vidyalaya, both in Calcutta and Howrah, will foster the growth of harmony, solidarity and integrity among the citizens of these twin cities and I would like to conclude herewith with a sincere trust that Noble Message of our "NAMASKAR MAHA MANTRA" will be well adopted by our fellow members which always preaches to respect and salute the teaching force in all areas alongwith the Arihants,

Sidhas and all good souls and also like to add---

**President - Managing Committee,
Shree Jain Vidyalaya, Howrah**

SHREE JAIN VIDYALAYA : A PRIDE FOR THE COMMUNITY

It is with deep gratitude that I share with the school its happiness of celebrating its Diamond Jubilee. The occasion not only makes me look back upon the past years but also to the dedicated efforts of founding members. The achievements are so significant and overwhelming that it's a pride for the community.

I appreciate the stride the school has taken in maintaining a consistency of excellence in all fields. The tradition that it has built up over years, through intense hard work, can be mentioned with pride.

Along with the regular syllabus, the emphasis is more on discipline, curricular activities and cultural fields have reached new heights. This has given the students a well rounded education, catering to all aspects of a child's personality—mental, physical and spiritual.

Adding the computer courses has been of great significance, a demand of modern time. This aspect is of utmost importance as the school's contribution to the students formative years is undeniable. All along the school management have one thought in mind, to prepare the students to be worthy citizens and be of good moral character, so that they can be successful in whatever, field they choose.

There is an excellent relationship of love and respect among the teachers and students. It is this bond that has evolved so many bright students.

I end with my very best wishes to the students and the school for many more successful and blooming years to come.

**Vice President - Shree Jain Vidyalaya
Managing Committee, Calcutta**

A SCHOOL WITH A DIFFERENCE

Indeed, Shree Jain Vidyalaya is a school with a difference. Started with the motto of Shiksha (Education), Seva (Service) and Sadhana (Dedication) six decades ago by Shree Swetambar Sthanakvasi Jain Sabha, the school has stuck to these noble purposes. They have been vigilant in imparting and spreading good education. The Vidyalaya bears the name "Shree Jain" no doubt, but it is open to students of all castes and creeds. So students from different religions and social communities, including Muslims and Christians are here every year. It is heartening to watch students right from an industrial tycoon's family to a poor peon's home or a hawker's son. Thus, the Vidyalaya is serving the purpose for which it was started.

The spirit of service can be felt in the various activities and regulations of the Vidyalaya. The management of the school is so munificent that it grants even 10 percent of its total roll strength full free and half free studentships to needy students and it has kept the tuition fees of all classes much lower than what other institutions of equal standards charge when the Vidyalaya has on its staff most qualified

and experienced teachers. The school is well-equipped with all the modern facilities of education; large Physics, Chemistry, Biology and Botany laboratories are there. It has a computer centre to impart training to students. Its library has nearly 20,000 books.

The Vidyalaya runs methodically all its sections - Primary, Secondary and Higher Secondary (Plus Two stream). Now more additions have been made to them. One is the National Open School, classes X and XII, for girls. Another is the C.A. Foundation Course classes. Shree Jain Vidyalaya has recently been affiliated to the Institute of Chartered Accountants of India to teach C.A. Foundation courses. These courses are run daily after 4-30 p.m. There are also classes for Arts and Handicrafts for girls students on Saturdays and Sundays. In this way, the school building is vibrant with activities right from 6-30 a.m. to 8-45 p.m. everyday.

The emblem of the school carries three principles, Samyak Darshan (right perception), Samyak Gyan (right knowledge) and Samyak Charitra (right conduct). Every effort is made to see that these noble principles are inculcated into the day-to-day activities of every student. With this end in view moral classes are held and great scholars and saints are invited from time to time to preach, so that by their right perception and conduct they may be object lessons to our students. So here we put great emphasis on right conduct and discipline. Discipline, we want not to be imposed, but to become ingrained as a part and parcel of life. This is popularly called by the local people and students SJVian culture.

The Vidyalaya has come a long way since its inception. Ever since it shifting to its present premises (18/D, Sukeas Lane, Brabourne Road, Calcutta-1) in 1958, the Vidyalaya has carved out a niche for itself among great and prestigious institutions of the State, in terms of its pass records at Madhyamik and Higher Secondary Examinations first divisions, high marks and ranks each year. Not only in these examinations but also in IIT, JEE, C.A., Costing and other professional examinations, our students qualify in appreciably large numbers. Today, we may say with great pride that our former students are doing very well in every field.

I must admit that we suffer from space constraints.

The compound of the Vidyalays is large, but is not adequate for outdoor games. Still on our compound, boys play volleyball and basketball. For other sports and athletic activities we have to move to the Maidan.

A fine rapport exists among the Management, staff-members, students and the S.S. Jain Sabha. The result is the creation of a family-like atmosphere in which it is a joy to work. The teachers of the Vidyalaya, thus, are treated as members of the large Jain family. This amiable ambience enables every issue - whether it is the question of higher pay or better benefits that the government has given to other aided institutions of the State, to be amicably resolved.

During my long tenure I have found one thing: where there is goodness, a sincere will to work, an intimate and open deal and consultation about how to work and what to work on, things get smoother and move faster, in spite of hurdles on the way. It may be noted that the former Principal, Mr Ramanand Tiwari, appointed in 1958, retired only in 1987, having completed his five-year term of extension after 60 and the next, Mr K.L. Gupta, too, enjoyed his full extension.

Behind its success story one man's contribution is outstanding. During these three decades and a half of the Vidyalay's existence on the present premises, Mr. Sardarmal Kankaria has been with us, barring only just a few years, as its honorary secretary. An industrialist, he has a clear perception and deep understanding of educational problems.

The parent-body of the Vidyalaya, Shree S.S. Jain

Sabha, is a vigilant institution too. On the last day of the weeklong golden jubilee celebration of Shree Jain Vidyalaya at the Netaji Indoor Stadium recently, it pledged to start of new unit of Shree Jain Vidyalaya in Howrah.

The six-storeyed building, the Howrah unit of Shree Jain Vidyalaya (at 25/1, Bon Behari Bose Road, near Sandhya Bazar), is a dream come true. It has started off very well and bright future awaits it with nearly 2,500 students in the second year. The girls section is in morning and the boys' in the day.

The Sabha's scheme to distribute textbooks free among needy students of rural Bengal is very heartening. Some 20 or 25 schools are selected each year and the Headmasters recommend the names of the needy students. They come to Shree Jain Vidyalaya and receive the sets of complete texts at a function.

The idea is to set up large book banks in district of West Bengal so that more and more students may be benefited.

The Sabha's munificence also goes to the disabled who are supplied with Jaipur foot.

Principal
Shree Jain Vidyalaya, Calcutta

THE ROLE OF THE EDUCATOR IN CONTEMPORARY SOCIETY

*(Guru Brahmah, Guru Vishnuh, Gurudeva
Maheshwarah, Guru Hi Sakshat Parabrahmah,
tasmay Shri Guruvay namah.)*

This ancient Sanskrit shloka very beautifully expresses the position of the teacher or the Guru in our society- He is placed above all the gods in the Hindu Trinity for it is he who enables the child to perceive the divine. And hidden in this shloka is an eternal truth, that the Guru or the teacher, or, if one wishes to use a more grandiloquent term, the educator is the guide and the pathfinder, who helps the child in his or her quest for beauty and truth.

Modern society is a complex one, one that seems to be constantly in a state of flux; and if the adult with his wisdom and maturity often finds himself floundering in the choppy seas of life, one can well imagine the condition of the child! He is confused, frightened, insecure and yet the future of mankind rests on his tiny, frail shoulder! What an onerous responsibility for one so young and what a mammoth task it is for the modern educator to rid the pupil of his fears and complexes and prepare him for the

future! The great Alexander of Macedonia has himself acknowledged, "I am indebted to my father for living, but to my teacher for living well."

All educators should cater to the need of society. They are the arbiters of social change and in today's complex world the role of the educator is a multifarious one. In a world of shifting loyalty he must strive to instil a sense of values in the children. As the best way of inculcating values and morals in young minds is by practising them oneself. The educator has to be very disciplined, and like Caesar's wife, be above reproach ! He or she must play an active role in moderating the syllabus of study so that it helps and does not hinder the growth and development of the child. Neither should this growth be one dimensional nor geared only towards material benefits. No one could have expressed the role of the educator better than the apostle of scientific knowledge in the 20th Century; Albert Einstein says, "It is essential that the student acquires an understanding of and a lively feeling for values. He must acquire a vivid sense of the beautiful and of the morally good. Otherwise he with his specialized knowledge—more closely resembles a welltrained dog than a harmoniously developed person."

The efforts of the educator therefore should be towards producing intelligent, aware, creative, enthusiastic, tolerant, well-informed and well-behaved students with a sense of culture and of values. Only then can be laid the foundations of a free, rational, democratic and secular world order. The educator's role in the task of nation building is of paramount importance. The health and welfare of a nation is determined by the health of its people and to develop a healthy attitude in people is the role of the educator, for the child is the father of man. In order to fulfil his role of guiding, directing and educating, the teacher-educator must be imaginative, encouraging, of sound moral character, free from superstitions and biases, honest, inspiring, articulate, caring, original and impartial. He must be aware of the social changes that are taking place all over the world, must open himself to correction and be able to motivate his pupils to work towards the betterment of both the underprivileged sections of society and of the environment. This apparently is a tall order but one that can be realized if one takes the task of educating to be a vocation and not a profession and if one approaches one's duties and responsibilities in a spirit of humanism.

The role of the Principal and the administrator is a special one for it is he who creates a free and healthy environment in his school, where the child, in the nurturing hands of capable teachers, can realize his full potential and grow to freedom and maturity. And in order to allow the winds of change to blow freely through his institution, the Principal can organize meaningful seminars and refresher courses which are well represented by educators, students and parents. The structure of education is a triangular one where the teacher, the pupil and the parent all have a significant role to play and the Principal, instead of operating in an ivory tower, should co-ordinate their various ideas and view-points in a coherent and socially useful manner. He should not be averse to hosting workshops dealing with new,

innovative techniques in education, for example the National School of Drama(NSD) programme on the use of drama in education, so that the personalities of his teachers and pupils may continue to remain fresh and enthusiastic. It is only then that the student can continue in his search for the ideals of "Satyam, Shivam, Sundaram", in a spirit of dynamic enquiry.

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांय, ।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय ॥

Principal,
Shree Jain Vidyalaya For Girls, Howrah.

ENVIRONMENTAL POLLUTION : A MENACE TO HUMANITY

In modern scientific world man has immense materialistic attainments, but he is living under great stress and strain. Human life has become more complex and there is no peace of mind. Man has to face many problems i.e. unemployment and indiscipline, malnutrition and corruption, chaos and anarchy. He perceives no end of his problems and life has no taste and colour. It is of late that human mind further is laxed with a new grave problem—the problem of environmental pollution. It has made human life miserable. Now pollution has become a global issue—a burning question of the time. Man strives tirelessly for a clean environment but finds no easy way to maintain it.

In general terms "Environment" means our surroundings that comprise of air, water, land etc. while 'pollution' refers to the acts of polluting, destroying the purity and sanctity of our habitat. Thus environmental pollution means making our surroundings unhealthy and unfavourable for living by our various reckless acts. Environmental pollution is in different forms—air pollution, water pollution,

land pollution, noise pollution, radio-active pollution and thermal pollution etc. These forms of pollution have caused many visible and invisible harms to mankind. There is release of materials through various sources in atmosphere making air unfavourable for breathing. Different kinds of substances mixing with water destroy its purity and cause danger to life. Reckless human acts have made landscape naked that generates several problems for a peaceful life.

Man is mad with his scientific knowledge and skill. He tries to win over nature and nature reacts to his unfolded sufferings. Man has deepened the problem of pollution with high mechanisation, speedy transportation and over industrialisation. Pollution is the creation of man because it is he who has polluted the environmental conditions, i.e. air and water, soil and topography, climate and vegetation. Chemical reactions caused by nuclear explosions and many scientific devices of man have brought about undesirable changes in environment. Pollution is rampant in air, water and land. The industrial units pour in atmosphere, Sulphur di-Oxide i.e. highly injurious to health. The smoke that comes out after burning of coal is highly harmful. The Chloride that emits from Aluminium factories pollutes air and causes immature death to plants and trees. Various insecticides produced by scientists have fatal effects upon our health. Due to water pollution millions of fishes are killed as a result of toxic sewage and industrial wastes. The excess use of chemical fertilisers has made food stuffs non-eatable. The smoke from ovens, chimneys and vehicles pollutes environment. The foul smell from drains and garbage in urban areas affect our free movement.

The metropolitan cities are hard-hit by the problem of pollution. In wake of modern facilities of life the number of vehicles has gone up enormously. New factories are being opened in suburbs to meet the demand of teeming population. The drainage and sewage system is not upto the mark. The problem of water pollution is acute. Calcutta is a glaring example of air, water and noise pollution. Pollution has disturbed the peace and happiness of all big cities of the world. Bhopal Gas Tragedy is still alive in our mind—a horrible picture of human destruction.

The sudden explosions have change the cycle of seasons and whether conditions. It has resulted into poor yield from farms and orchards. Tastelessness has developed in citrus fruits and food stuffs. Pollution

has caused immature death to younger plants. It has affected not only the living beings like man and animals, birds and insects, flowers and plants but also the symbols of our heritage like grand memorials, tombs, monuments and other historical buildings. They are in the process of decay and destruction. They are losing their original colour and are subject to ruin. Acidic air pollutants particularly Sulphur dioxide and Sulphuric Acid corrode metals and damage building structure. They have caused erosion of building surface, blackening of building paints, weakening and disintegrating of building construction. The effect of pollution is quite evident in the monuments and palaces of Rajasthan, Karnataka and Andhra Pradesh where the government machinery finds it too hard to maintain the historical buildings. Pollution has caused more decay than the wear and tear of time.

Gaseous pollution has direct effects on our health. Gaseous pollutants include Carbon dioxide, Mono oxide, Sulphur dioxide and gases from automobile exhausts. They cause acute illness leading to death. They bring upon chronic diseases i.e. Bronchitis, Asthma, Nervous impairment, eye irritation and hard hearing. Air pollution produces eye irritation and respiratory troubles in animals, too. The most serious effect is in the poisoning of livestock by Fluorides and Arsenic. They affect seriously digestion, bones and teeth causing loss of weight among animals, sanctines leading to lameness. Air pollution is also vital in affecting plant life. It causes widespread damage to trees, plants, fruits, vegetables and ornamental flowers. Fluorides and other pollutants which act as cumulative poisons to plants cause collapse of leaf-tissues, drying and discolouring of sepals and cheeking growth of petals that cure inward. Pollutants discharged into the environment like Carbon dioxide enter the atmosphere automatically. It may raise atmospheric temperature by about 1.30c. The exhaust gases from fired rockets may pollute the upper layer of atmosphere and Ozone layer when affected cannot protect earth surface from harmful Ultra-violet radiation. Reckless clearance of forests has caused change in the local pattern of heating of ground and atmosphere. Pollution has disturbed not only atmosphere but also human activities.

Soil and Land pollution is largely caused by industrial operations and building constructions. It further originates from industrial and urban wastes, radio-active materials, defective system of sanitation,

waste water and unscientific methods of agriculture. The introduction of nuclear fuel into the reactor also contributes to pollution. The explosion test of nuclear weapons also affects atmospheric composition. Thermal pollution mars the quality of environmental air and water. Noise or sound pollution is man made menace that originates from defective transport systems. The speedy road vehicles and faster aircrafts have been the source of 'Sonic Boom' that creates mental imbalance and anguish. It also causes impairment of hearing.

There are many factors relating to the varied effects of atmospheric or environmental pollution. Some of their global effects are known but many of their long effects are still unknown. Our knowledge of atmospheric composition and the inter face between air and water is inadequate. There is need of bringing to light some more pollutants and channelising active research work to fight against pollution. We must find out some long term solution of this great menace to humanity.

It is now open secret that environmental pollution has farreaching effects. So the seriousness of the problem must arouse global consciousness for an effective solution. It is a matter of some solace that a global summit conference was held recently by 178 nations in which the Heads of 115 nations participated and out of discussion between 13th and 14th June, 1992 a proposal was made to set up a Global Reserve Fund to fight against pollution. Many developing and non-developing countries of the world agreed to contribute 0.7% of their income to this fund. The only exception was U.S.A. that did not accept any conditional contribution. Environmental Pollution is serious problem that needs kind gesture of all and apathy of none. Active co-operation by all nations of the world will alone solve this problem. If the problem of environmental pollution is solved a bit, it will be a step forward in service of distressed humanity. Let this problem be treated as a great humanitarian problem that may invite global interest.

**Principal, Shree Jain Vidyalaya,
Howrah**

Our School : A Journey down the Memory Lane

Memory goes to the past when at a meeting students sang a song asking the members of the Society to have a beautiful school. After that the working Committee passed a resolution to seek a plot of land for a school. Shri Kishan Lalji Kankaria, Ajit Malji Parakh, Sri Phushrajji Bachhant, Tolaramji Mini consulted among themselves and authorised Shri Phush Rajji Bachhawat to look for the land. On going to 27th College Street he met Prabhu Das Bhai and asked him to help in getting a plot for a school.

He promptly said that, "Come along". He took him to his friend and asked him to show the plot. After seeing the plot, father advised to consult other members, too Prabhu Das Bhai asked father to take the land.

But a difficulty arose. The land was already given to Shri Magan Malji Parakh.

A deputation went to the office of Magan Malji Parakh and after much persuasion he agreed to give the land. He gave some money as donation also.

There was a paucity of fund. So the land lord was told about this difficulty. He promptly agreed, "you

give fifty thousand within two years without any interest."

That time fund raising was a difficult task. Donation came and Ms. Chaturbhuj Hanuman Mal asked only as trickles his brothers to donate.

Phusharajji went to Bikaner twice or thrice to have the sanction of a loan of fifty thousand from Sadhu Margi Sabha.

Shri Jeth Matji Sethia sanctioned the loan and told my father that he was giving it on his behalf to the Sabha. Some loans were collected from the local people of which some of it was given as donation.

The foundation stone was laid by Shri Deep Chandji Kankaria, a good personality and clean hearted.

As the time of construction members appointed Suraj Malji Bachhawat to see the construction work.

Shri Uday Chand Daga was appointed manager, a very honest man.

One day he came and said that the fund had exhausted. Hiralal Bachhawat asked his fellow ex-students to give some money that was promptly given and ladies also collected money. One day at a meeting Suraj Malji met Shanti Prasadji Jain and asked him to visit the school. He said "I have no time". Then the brother told him, "Well Sahuji, when you have no time, people will come to you. When you will have time no one will come." Sahuji laughed and came to school. The construction was closed owing to lack of funds. Sahuji asked what amount was required to finish that.

He gave the money and that part of construction was completed.

After completion of school we had to approach Shri Vijay Singhji Nahar for helping the school in all departments. He was very helpful and came to school many times. He was Deputy Chief Minister so his help was most needed.

Now the search for a Principal began. The appointment of Shri Ramanandji Tewari was a wonderful job. He retired recently. He was man of good personality and discipline. He maintained a good standard during his tenure.

Decoration of hall was taken by Shri Deep Chandji Kankaria. He sent his artists and masons to beautify the hall. The hall is a unique one. All the members who have helped the school in any way are welcome and to be thanked.

उन्नति के शिखर पर आरोहण

श्री जैन विद्यालय अपना हीरक जयन्ती महोत्सव मना रहा है, यह मेरे लिए बड़ी प्रसन्नता की बात है। विद्यालय की स्थापना। या 2 विद्यार्थी एवं एक अध्यापक श्री बच्चनसिंहजी से 1934 में हुई थी। फिर जापान की लड़ाई के कारण विद्यालय कुछ समय के लिए बंद कर देना पड़ा। कुछ वर्षों बाद वापिस जमुनालाल बजाज स्ट्रीट के छोटे से मकान में प्रारम्भ किया गया। बाद में श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा ने जिसके अन्तर्गत यह विद्यालय चल रहा है, सोचा कि यह स्थान अब छोटा पड़ता है तो सुकियस लेन की जमीन क्रय की गई एवं समाज के सदस्यों के अर्थ सहयोग से भवन निर्माण का कार्य शुरू किया गया, भवन की नींव श्री दीपचन्दजी कांकरिया के कर कमलों द्वारा लगाई गई।

1 अप्रैल, 1958 से अर्द्ध निर्मित भवन में ही माध्यमिक परीक्षा (हाई स्कूल) का पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर दिया गया। तब से लगातार विद्यालय उन्नति के शिखर पर आरोहण कर रहा है।

सबसे बड़ी गौरव की बात तो यह है कि हमारे इस विद्यालय के छात्रों, शिक्षकों, अभिभावकों एवं व्यवस्थापकों का सौहार्दपूर्ण संबंध प्रारम्भ से लेकर अब तक कायम है। यहां आज तक कभी हड़ताल या प्रदर्शन वगैरह नहीं हुए।

इसके अलावा यहां हर तबके के छात्र शिक्षा प्राप्त करते हैं। छात्रों की भर्ती भेदभाव रहित की जाती है। विद्यालय में हिन्दू, सिख, मुसलमान, हरिजन, जैन आदि सब धर्मों के छात्र भेदभाव रहित शिक्षा प्राप्त करते हैं। छात्रों को धार्मिक शिक्षण भी दिया जाता है।

विद्यालय का परीक्षा फल भी सदैव गौरवपूर्ण रहा है तथा यहां से शिक्षा प्राप्त छात्र अच्छे-अच्छे व्यापारी, वकील, डाक्टर एवं प्रशासक हुए हैं तथा कई छात्र उच्च सरकारी पदों पर प्रतिष्ठित हैं।

मैं इस विद्यालय के कार्य संचालन से बहुत वर्षों तक संबंधित रहा हूं एवं मुझे पदाधिकारियों, अध्यापकगण एवं छात्रों से जो अगाध प्रेम एवं आदर प्राप्त हुआ है उसे मैं कभी भूल नहीं सकता हूं। मैं परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि यह विद्यालय दिन-दुनी रात चौगुनी उन्नति करता रहे।

अहमदाबाद

विद्या के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता व प्रमोद हुआ कि आप “श्री जैन विद्यालय” की हीरक जयन्ती मना रहे हैं। किसी भी संस्था की हीरक जयन्ती उसकी प्रगति, प्रसिद्धि, उपयोगिता तथा कार्यकलापों का एक सुनहरा जीता जागता इतिहास है। पाठशाला के रूप में प्रारम्भ हुआ यह विद्यालय एक वटवृक्ष के रूप में विकसित, पल्लवित हो रहा है। कलकत्ता महानगर की अत्यन्त घनी बस्ती में स्थित होने के कारण इसकी महत्ता और भी अधिक बढ़ गई है।

हजारों-हजार छात्रों का यह सरस्वती मंदिर विद्या के क्षेत्र में अभूतपूर्व सफलता व श्रद्धा का केन्द्र बना हुआ है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बिना किसी डोनेशन के बच्चों को दाखिला मिल जाता है। वर्ना दाखिला और वह भी बिना डोनेशन के मिलना एक सातवां आश्चर्य है। विद्यालय के छात्र न केवल उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण होते हैं अपितु अपनी शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् अपने-अपने कार्य क्षेत्र में भी सफल नागरिक साबित हुए हैं। किसी भी संस्था की सफलता, विकास उसके समर्पित कार्यकर्त्ताओं पर निर्भर है। छात्रों के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शारीरिक विकास में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। मेरा बचपन इसी महानगरी में बीता है। अतः संस्था और कार्यकर्त्ताओं को नजदीक से देखने का अवसर मुझे सतत मिला है। एक से एक बढ़कर लगनशील कर्मठ कार्यकर्त्ताओं के सद् प्रयत्नों से ही यह संस्था फली-फूली है।

स्कूल की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर शामिल होने का सुयोग मिला था। आज उसी संस्था का हीरक जयन्ती समारोह मनाने जा रहे हैं। पूरे समाज को इस पर नाज है विशेषकर जैन समाज को।

में संस्था की हीरक जयन्ती के इस शुभ अवसर पर अपनी शुभ कामनाएं प्रेषित करता हूं।

—उपाध्यक्ष, भगवान महावीर अहिंसा प्रचार संघ, मद्रास

प्रथम छात्र का अविस्मरणीय संस्मरण

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा द्वारा संचालित श्री जैन विद्यालय की हीरक जयंती मनाई जा रही है, यह सुनकर मेरी प्रसन्नता अत्यधिक बढ़ गई। कारण यह है कि इस संस्था के साथ मेरा पांच पीढ़ियों से सम्बन्ध है।

मेरे स्वर्गीय पूज्य दादाजी भैरूदानजी गोलछा सभा के ट्रस्टी तथा सभापति होते हुए भी इस विद्यालय के “प्रथम सभापति” चुने गए थे। स्वर्गीय पूज्य पिताजी पूनमचन्दजी गोलछा एक कार्यकर्त्ता थे। मैं, मेरे पुत्र तथा पौत्र भी इस स्कूल में पढ़े हुए हैं। श्री जैन विद्यालय की स्थापना ता० १७ मार्च, १९३४ की शुभ घड़ी में एक छात्र तथा एक अध्यापक श्री बच्चन सिंहजी को लेकर हुई थी। मुझे इस विद्यालय का प्रथम छात्र होने का गर्व है। १४२-ए, जमुनालाल बजाज स्ट्रीट के एक मकान में दो तल्ला पर यह स्कूल प्रारम्भ हुआ था। १९३४ से १९४२ तक उसमें छात्र तथा छात्राएं दोनों ही एक साथ पढ़ते थे। उस समय कुछ छात्राएं भी पहली कक्षा में भर्ती हुई थीं जिनमें मेरी भावी पत्नी भी थीं।

मुझे जैन सभा ने प्रथम प्रधानाध्यापक स्वर्गीय बच्चन सिंहजी के सान्निध्य में पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिए सभा में रहने की छूट तथा सब तरह की सुविधा प्रदान की थी। मैंने करीब साढ़े छः-सात वर्ष तक सभा में रहकर अपना विकास किया। मैं जैन सभा का आभारी हूँ।

१९३४-४२ तक विद्यार्थियों को पीने का पानी छना हुआ मिलता था और आज भी मिल रहा है। उस समय में स्कूल में कोई फीस नहीं ली जाती थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण स्कूल ३ वर्ष बन्द रही। किन्तु पुनः प्रारम्भ हो गई।

मैं इस सभा तथा विद्यालय के कर्णधारों के प्रति सम्मान तथा विद्यालय के अध्यापकों के प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करता हूँ एवं कामना करता हूँ कि अभी विद्यालय जिस सम्मान के साथ प्रगति पथ पर बढ़ रहा है भविष्य में और भी तीव्रगति से अग्रसर होता रहे। विद्यालय में इस समय करीब २५०० छात्र पढ़ रहे हैं, यह प्रसन्नता की बात है। स्कूल के प्रति लगाव होने के कारण मैंने सन् १९३६, १९३९ तथा १९८४ के ग्रुप फोटो भी संभाल कर रखे हैं।

—६०-ए, नलिनी सेठ रोड, कलकत्ता-७

श्री जैन विद्यालय : एक सुनाम विद्या मन्दिर

श्री जैन विद्यालय सफल छात्र जीवन सुसंस्कार प्रदान करने की सुनाम परम्परा का एक सुन्दर प्रतीक है। यह विद्या मन्दिर अपने छात्रों को सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन व सम्यक् चरित्र की त्रिमुखी शिक्षा प्रदान कर उन्हें सफल, सार्थक, सुखी व सम्पन्न जीवन बनाने में अपेक्षित भूमिका का निर्वाह करता है।

श्री जैन विद्यालय अपना छात्र जीवन निर्माण कार्यारम्भ प्रभु स्तुति से करता है। यह प्रभु अर्चना छात्रों को आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करती है। आध्यात्मिक शक्ति सर्वोपरि शक्ति है। यह हमें उचित व सही मार्ग पर चलने के लिए अग्रसर करती है तथा गलत मार्ग पर चलने से रोकती है।

प्रभुवन्दन के पश्चात् श्री जैन विद्यालय अपने छात्रों को शैक्षणिक शिक्षा प्रदान करता है। यह शिक्षा साधारण परम्परागत तरीकों से हटकर आधुनिक, हृदयस्पर्शी व कारगर रूप से दी जाती है। अध्यापन कार्य में दक्ष अध्यापक गण प्रायः प्रत्येक छात्र से ऐसा मनःसम्पर्क रखते हैं जैसा कि भगवान अपने भक्तों से रखता है। प्रत्येक छात्र कुछ ऐसा महसूस करने लगता है मानो अध्यापक महोदय उसका व्यक्तिगत रूप से ध्यान रख रहे हैं। उसकी गतिविधि पर वे निगाह रखे हुए हैं। वह अपनी हर उलझन व समस्या के निराकरण हेतु निःसंकोच अपने संबंधित अध्यापक के पास जाता है तथा पूर्णतः संतुष्ट होता है। इसी अति-उत्तम परम्परा का सफल परिणाम विद्यालय का बोर्ड का परीक्षा फल है। शत-प्रतिशत छात्र उत्तीर्ण होते हैं तथा उनमें से काफी अधिक संख्या में छात्र प्रथम श्रेणी प्राप्त करते हैं।

श्री जैन विद्यालय अपने छात्रों की बहुआयामी उन्नति में पूर्ण सक्रिय है। यहां यह प्रयास किया जाता है कि प्रत्येक छात्र में छिपी हुई प्रतिभा को उजागर किया जाए। भगवान भास्कर जब उदित होते हैं तो सारी धरा प्रकाशमान होती है। ऐसे महसूस होता है कि प्रकृति स्वतः प्रकाशयुक्त

है लेकिन रात्रि के समय यह सारा प्रकाश लुप्त हो जाता है। श्री जैन विद्यालय यह प्रयास करता है कि इसके छात्र उस प्रकाश से प्रकाशित न होकर अपनी प्रतिभा से, अपने सुलक्षणों से, अपने कार्यकलापों से प्रकाशमान रहें।

आध्यात्मिक, शैक्षणिक शिक्षा के साथ-साथ पूर्ण स्वस्थ रहें, यह ध्यान में रखते हुए शारीरिक शिक्षाएं भी दी जाती हैं। छात्रों के बहुमुखी विकास के लिए अन्य कार्यक्रम जैसे वाद-विवाद, खेलकूद, पर्यटन, सेवाकार्य इत्यादि निरन्तर परम्परागत रूप से चलते रहते हैं। ऐसा है हमारा विद्यालय— श्री जैन विद्यालय।

सामाजिक संस्था की सफलता तभी मानी जाती है जब वह उन उद्देश्यों की पूर्ति में सार्थक होती है जिनके लिए उसका गठन किया जाता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्था के कार्यकर्ताओं को तन-मन-धन से सहयोग देना होता है। हमारा श्री जैन विद्यालय इस माप-दण्ड पर पूर्णतः सफल उतरता है। इस संस्था की शैक्षणिक परम्परा के तीन स्तम्भ हैं, श्री रामानन्दजी तिवारी, श्री कन्हैयालालजी गुप्त तथा श्री कामेश्वरप्रसादजी वर्मा यानी हमारे तीनों प्रधानाचार्य— इनके कार्यकाल में विद्यालय निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर हुआ है एवं हो रहा है। श्री स्थानकवासी जैन सभा हमारे विद्यालय का हृदय है। यह संस्था वस्तुतः विद्यालय का जीवन, प्राण है। इस संस्था के सेवाभावी कार्यकर्ताओं का सुफल परिणाम है, आज का श्री जैन विद्यालय।

शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् जब छात्र व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करता है तब वह अपने माता-पिता के इस निर्णय पर गौरवान्वित होता है कि उसे श्री जैन विद्यालय में शिक्षा दिलाई गई थी। यहां छात्रों में एक ऐसा घर जैसा वातावरण बनता है कि आगे कार्यकारी जीवन में भी सब एक-दूसरे के पूरक व सहयोगी बनते हैं। समाज एक-दूसरे के सहयोग से अग्रसर होता है।

मेरा व अन्य बहुत लोगों का यह अनुभव रहा है कि श्री जैन विद्यालय के छात्र अपने व्यावहारिक जीवन में अपने विद्यालय के छात्रों से व्यापारिक व सामाजिक संबंध बनाएं रखने में गर्व अनुभव करते हैं। फलतः सबकी उन्नति स्वाभाविक है।

मुझे गर्व है कि मैं श्री जैन विद्यालय का एक छात्र रहा हूं। अपने छात्र जीवन में कई वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में मैंने श्री जैन विद्यालय की तरफ से भाग लिया। मेरे को दी हुई शिक्षा का सफल प्रदर्शन करते हुए अनेक पुरस्कार मैंने प्राप्त किये। मैं अपने गुरुजनों का अतिप्रिय छात्र रहा हूं। उनके आशीर्वाद स्वरूप श्री जैन विद्यालय का “प्रथम छात्र” हेड ब्वाय बना तथा आज मैं श्री जैन विद्यालय का हिसाब परीक्षक भी (आडिटर) बन सका।

मैं प्रत्येक छात्र को यह सुझाव एवं परामर्श देना चाहता हूं कि वे श्री जैन विद्यालय से बहुत कुछ सीख समझ कर अपना भावी जीवन सफल बना सकते हैं। जरूरत है मन लगाकर इस विद्या मंदिर में तनमन से पढ़ने, लिखने एवं समझने की। अपने पूरे जीवन काल में अपने मन मंदिर में इस विद्यालय का सदा-सर्वदा आदर करें, यही कामना है।

विद्वत् खण्ड



घनश्याम दास बिड़ला सभागार में आयोजित “शिक्षा और सेवा” के नायक श्री सरदारमल कांकरिया के अभिनन्दन के अविस्मरणीय दृश्य।





तिलक एवं माल्यार्पण द्वारा सभा के ट्रस्टी श्री कन्हैयालाल मालू का स्वागत।



श्री सरदारमल कांकरिया अभिनन्दन समारोह के अवसर पर संपन्न विद्वत् गोष्ठी में श्री भूपराज जैन को सम्मानित कर रहे हैं सभा के ट्रस्टी श्री जयचन्द लाल रामपुरिया।



महिला उत्थान एवं विकास समिति की सह-संयोजिका श्रीमती लीला बोथरा को सम्मानित कर रहे हैं श्री सूरजमल बच्छावत।



सभा द्वारा आयोजित निःशुल्क विकलांग शिविर का उद्घाटन करते हुए महामहिम राज्यपाल प्रो० नुरुल हसन, साथ में क्रीड़ा एवं युवा कल्याण मंत्री श्री सुभाष चक्रवर्ती एवं सुन्दरलाल दुगड़।



विमला मित्री कम्प्यूटर केन्द्र के उद्घाटन समारोह के अवसर पर युवा उद्योगपति श्री विनोद बैद कम्प्यूटर शिक्षा का महत्व प्रतिपादित करते हुए।



विद्यालय सभागार में आयोजित करियर एवं गाइडेन्स सेमीनार में सुझाव प्रस्तुत करते हुए श्री मनीष बोथरा।



राजस्थान सरकार के उच्च शिक्षा मंत्री पं० ललित किशोर चतुर्वेदी के साथ सभा एवं विद्यालय परिवार।



सभा द्वारा पूर्वी भारत में आयोजित निःशुल्क प्रथम विकलांग शिविर के अवसर पर श्री पूरणमल कांकरिया का अभिनन्दन।



सभा द्वारा आयोजित स्नेहभोज का यह प्रसंग कितना सुखद एवं अविस्मरणीय है।



विद्यालय की हीरक जयन्ती के उपलक्ष्य में आयोजित चित्रमय संगीत संध्या।





विश्व मैत्री दिवस पर श्री गणेश ललवाणी द्वारा लिखित “वर्द्धमान महावीर” पुस्तक को लोकार्पित कर रहे हैं लोकसभा अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल।



लोकार्पित पुस्तक पर हस्ताक्षर कर रहे हैं लोकसभा अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल साथ में श्री सरदारमल कांकरिया।



विश्व मैत्री दिवस पर नेताजी इण्डोर स्टेडियम में श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता के छात्र सामूहिक वाद्य यंत्र का वादन करते हुए।



श्री जैन विद्यालय, हवड़ा में हिन्दी दिवस पर आयोजित परिचर्चा में उपस्थित श्रोतागण।



विद्यालय के हितैषी श्री विनय मोदी का शाल ओढ़ाकर सम्मान कर रहे हैं श्री सरदारमल कांकरिया।



हिन्दी दिवस पर श्री जैन विद्यालय, हवड़ा के छात्र-छात्राएं स्वागत गीत का गान करते हुए।



सभा के हीरक जयन्ती महोत्सव (1989) के अध्यक्ष प्रसिद्ध उद्योगपति श्री नवलमल फिरोदिया का सभा की ओर से सम्मान कर रहे हैं श्री सूरजमल बच्छावत।



सभा की हीरक जयन्ती के अवसर पर सम्पन्न विद्वत् गोष्ठी में चर्चा करते हुए डॉ० सागरमल जैन, श्री गणपत राजबोहरा, श्री भैवरलाल नाहटा, डॉ० भानी राम वर्मा, डॉ० नरेन्द्र भानावत।



सभा की हीरक जयन्ती के अवसर पर प्रसिद्ध उद्योगपति एवं समाजसेवी श्री गणपतराज बोहरा सभा के ट्रस्टी श्री कन्हैयालाल मालू को अभिनन्दन पत्र समर्पित करते हुए।



गणतंत्र दिवस समारोह पर श्री जैन विद्यालय, हवड़ा में झंडोत्तोलन करते हुए श्री बादल बोस।



प्रसिद्ध उद्योगपति श्री राजेन्द्र बांठिया का श्री जैन विद्यालय, हवड़ा में अभिनन्दन।



श्री जैन विद्यालय, हवड़ा में गणतंत्र दिवस समारोह पर श्री राजेन्द्र बांठिया के साथ सभा एवं विद्यालय के पदाधिकारीगण।



श्री जैन विद्यालय, हवड़ा सभागार में हिन्दी दिवस पर आयोजित परिचर्चा का संयोजन करते श्री भूपराज जैन, मंच पर विराजमान डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र, आचार्य श्री विष्णुकांत शास्त्री, श्री अक्षय चन्द्र शर्मा, श्री रिखव दास भंसाली एवं हवड़ा जिला विद्यालय निरीक्षक श्री विमान मुखर्जी।



हिन्दी दिवस परिचर्चा पर स्नेह भोज का एक दृश्य।



राजस्थान के प्रसिद्ध लोक गायकों के लोकगीतों के रस सागर में अवगाहन कर रहे हैं समारोह के अध्यक्ष श्री अभय सिंह सुराणा, प्रमुख अतिथि श्री श्याम सुन्दर आचार्य, श्री सरदारमल कांकरिया एवं श्री रेवती रमण शाह।



सभा द्वारा निर्माणाधीन श्री जैन
हॉस्पिटल एवं रिसर्च सेन्टर, हवड़ा
के भूमि पूजन के विहंगम दृश्य।





नवनिर्मित श्री जैन विद्यालय, हवड़ा का भूमि पूजन कर रहे हैं श्री रिधकरण बोधरा, श्री सूरजमल बच्छावत तथा श्री एवं श्रीमती सरदारमल कांकरिया।



नवनिर्मित श्री जैन विद्यालय, हवड़ा के शुभारम्भ अवसर पर आयोजित हवन का दृश्य।



इसी प्रसंग पर मंच पर विराजमान साहित्य मनीषी श्री कन्हैयालाल सेठिया, श्री रतन चौधरी, श्री रिखब चन्द जैन एवं श्री जगदीश राय जैन।



हीरक जयन्ती के उपलक्ष्य में
आयोजित अन्तः विद्यालय वाद
विवाद, रामचरित मानस एवं
भक्तामर स्तोत्र सस्वर पाठ
प्रतियोगिता 1994।





राजस्थान के प्रसिद्ध कवि श्री हरीश भादाणी श्री जैन विद्यालय, हवड़ा द्वारा आयोजित कला एवं शिल्प प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए।



हिन्दी दिवस पर अध्यक्ष श्री अक्षय चन्द्र शर्मा का सभा के अध्यक्ष द्वारा सम्मान।



विद्यालय की प्रधानाध्यापिका कक्ष में श्री हरीश भादाणी से अन्तरंग चर्चा के मधुर क्षण।



श्री जैन विद्यालय, हवड़ा में
आयोजित हिन्दी दिवस एवं वार्षिक
खेलकूद तथा पुरस्कार वितरण 1994





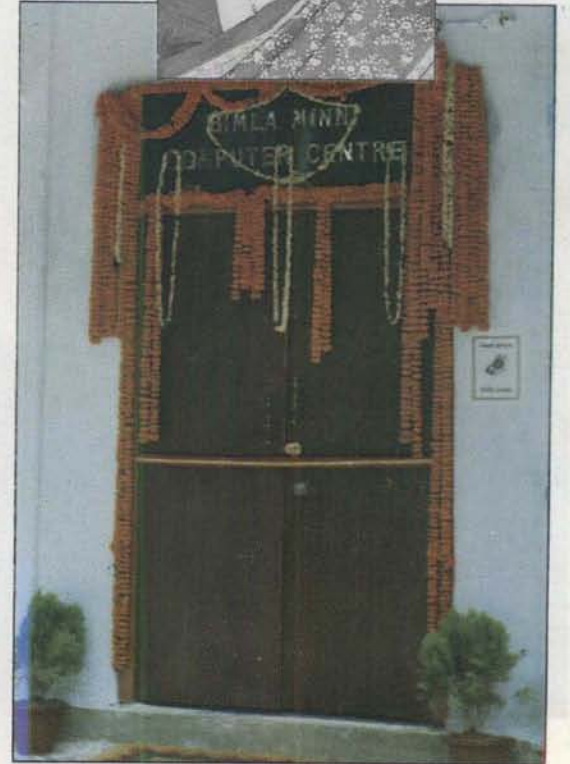
श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता के श्रीमती बिमला मित्री कम्प्युटर केन्द्र का निरीक्षण करते हुए अतिथिगण



निशुल्क रक्तदान शिविर का एक दृश्य



श्री जैन विद्यालय में लिफ्ट का उद्घाटन करती हुई
श्रीमती अमराव देवी कांकरिया



श्रीमती बिमला मित्री कम्प्युटर केन्द्र

ऐसी हो नींव, उत्कर्ष के शिखरों की

ज्ञान अमृत है और वह हर आत्मा में विद्यमान है। वस्तुतः ज्ञान ही आत्मप्रतीति है। आत्मप्रतीति से संवेदनशीलता और संवेदनशीलता से उपजती है अहिंसा, अनुकम्पा, करुणा, मैत्री एवं सह-अस्तित्व की भावना। इनकी विराटता जीवन का चरम उत्कर्ष है। अतः मानव जाति की विकास यात्रा उसकी ज्ञान विकास की यात्रा से आन्तरिक रूप से संबंधित है। ज्ञान का विकास मानव जीवन का विकास है।

जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसमें ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। अध्यात्म, कला, व्यापार, खेती, विज्ञान आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में शिक्षार्थी बनकर ही प्रवेश पाना होता है। आजीविका के सभी साधन, अभिरुचियों के नये आयाम, रचनाधर्मिता के नये कीर्तिमान शिक्षा के बिना निर्जीव हैं, निष्प्राण हैं। निष्प्राण कर्म करना, जीवन के लिए सबसे बड़ा भार ढोना है। जीवन रसपूर्ण सजीवता से भर जाए और रसपूर्ण सजीवता सृजनशक्ति का केन्द्र बने, यही हेतु है शिक्षा प्राप्ति के लिए संचालित संस्थानों का।

विद्यालय एक ऐसा शुभकर संस्थान है, जहां विद्यार्थी सहस्रों की संख्या में एक साथ धर्म, जाति, वर्ग से ऊपर उठकर “एगामनुस्स जाई” मनुष्य जाति एक है की उदात्त भावना से ज्ञानाराधना करते हैं।

प्राचीन काल के गुरुकुल हों अथवा आज के विद्यालय इनके उद्देश्यों में कोई अन्तर नहीं है। बदलाव जो आया है वह शिक्षापद्धति में, शिक्षा के साधनों में, स्थान, परिवेश एवं व्यवस्था में आया है। किन्तु शिक्षार्थी जो ज्ञान पिपासु है, जिज्ञासु है उसकी चित्तवृत्तियों में अर्थात् शिक्षार्थी को कैसा होना चाहिए, इस संबंध में चिन्तन न तब बदला था न अब।

जीवन का प्रथम चरण जीवन का प्रारम्भिक समय ज्ञान की आराधना

के लिए समर्पित है। जीवन के प्रारम्भ का समय जीवन के उत्कर्ष की नींव है, बुनियाद है। नींव कितनी मजबूत, सुस्थिर होनी चाहिए उत्कर्षों के गगनचुम्बी शिखरों के लिए? यह आज भी विचारणीय विषय है और प्राचीन युग में भी था।

तीर्थंकर भगवान महावीर की धर्मदेशना शिक्षार्थी के जीवन के स्वर्णकाल को समलंकृत करती है। उत्तराध्ययन सूत्र का ॥वां अध्ययन बहुश्रुत पूजा के नाम से सुविदित है। उसमें उल्लिखित सभी सूक्त मनुष्य जीवन की समग्र संभावनाओं को प्रस्फुटित करने वाला संगठित विधान है। विलक्षण प्रतिभाएं उजागर होती हैं तब जीवन-दीप का ज्ञान-प्रकाश जगत को आलोक से भर देता है। उसी की प्रतिभा उजागर होती है, जो शिक्षाशील है।

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले ति वुच्चइ।

अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्ममुदाहरे॥

णा सीले ण विसीले, ण सिया अइलोलुए।

अक्कोहणे सच्चरए, सिक्खासीले ति वुच्चइ॥

जो हंसी-मजाक (व्यंग) नहीं करता है, जो दान्त, शान्त रहता है, जो किसी का मर्म (रहस्य) प्रकाशित नहीं करता है, जो आचरणहीन न हो, जो दोषों से कलंकित न हो, जो क्रोध न करता हो, जो सत्य में अनुरक्त हो— इन आठ गुणों से व्यक्ति शिक्षाशील होता है।

इसी प्रकार पन्द्रह कारणों से सुविनीत कहलाता है। और विनीत को ज्ञान प्राप्त होता है— ‘विद्या ददाति विनयं।’

नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुतूहले,

अप्पं च हिक्खिवइ पबन्धं च न कुब्बइ।

मित्तिज्जमाणो भयइ सुयं लद्धं न मज्जइ।

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ

अप्पियस्सवि मित्तस्स रहे कल्लाण भासइ॥

कलह डपरवजिए, बुद्धेय अभिजाइए।

हिरिमं पडिसंहलीणे, सुविणीएत्ति वुच्चइ॥

जो नम्र है, अचपल एवं अस्थिर नहीं है, दम्भी नहीं है, तमाशबीन नहीं है, किसी की निन्दा नहीं करता है, जो क्रोध लम्बे समय तक पकड़ कर नहीं रखता, जो मित्रों के प्रति कृतज्ञ है, ज्ञान प्राप्त करने पर अहंकार नहीं करता है। गलती होने पर दूसरों का तिरस्कार नहीं करता है, मित्रों पर क्रोध नहीं करता है। जो वाक्, कलह एवं हाथापाई नहीं करता है। कुलीन है, लज्जाशील है, व्यर्थ चेष्टा नहीं करता है वह बुद्धिमान मान प्राप्त करने में तल्लीन रहता है।

“पियंकरे पियंवाई” जो प्रिय करने वाला और प्रियभाषी है, वह ज्ञान प्राप्त करता है।

एक प्रकार से विद्यार्थी जीवन की यह आचार संहिता है। जो ज्ञान साधना में उक्त गुणों को आत्मसात् किये हुए है, वह स्वयं प्रज्ञापुंज बनेगा।

उक्त चिन्तन के आलोक में विद्यार्थियों के जीवन संस्कारों को विकसित, पल्लवित, पुष्पित करने में सुविज्ञ अध्यापकों के साथ-साथ समाज के वरेण्य कार्यकर्ताओं का स्नेह संबन्ध भी विद्यालय के और विद्यार्थियों के भविष्य को ज्योतिर्मय बनाता है।

—वीरायतन, राजगीर

हिन्दी भाषा के विविध रूप

मुसलमानों के भारत आगमन से पूर्व फारसी तथा अरबी साहित्य में 'जबाने-हिन्दी' शब्द का प्रयोग भाषिक संदर्भ में भारतीय भाषाओं के लिए प्रयुक्त हुआ। भारत आगमन के बाद इन्होंने 'जुबाने-हिन्दी', 'हिन्दी जबान' अथवा 'हिन्दी' का प्रयोग दिल्ली के चतुर्दिक मध्य देश की भाषाओं के लिए किया। अमीर खुसरो के समय यही स्थिति मिलती है। संस्कृत से भिन्न जनपदीय भाषिक रूपों के लिए भाषा अथवा भाखा शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। कबीरदास ने 'संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर' कहकर इन्हीं भाषिक रूपों के सामर्थ्य की ओर संकेत किया है। जायसी ने अपने पद्मावत के भाषा रूप को भाषा के नाम से ही पुकारा है 'लिख भाषा चौपाई कहे'। तुलसीदास ने भी मानस को संस्कृत में नहीं अपितु भाषा में निबद्ध किया- 'भाषा निबद्ध मति मंजुल मातनोति'। तात्पर्य यह है कि संस्कृत से भिन्न मध्यदेश के जिन जनपदीय भाषिक रूपों को मात्र भाषा के नाम से पुकारा जा रहा था, उनमें से दिल्ली के चतुर्दिक मध्य देश के जनपदीय भाषिक रूपों को मुसलमानों ने भारत आगमन के बाद 'जुबाने-हिन्दी', 'हिन्दी जबान' अथवा 'हिन्दवी' शब्दों से पुकारा। 18वीं सदी तक हिन्दी, हिन्दवी, दक्खिनी, उर्दू, रेखता, हिन्दुस्तानी, देहलवी आदि शब्दों का समानार्थी प्रयोग मिलता है। इसी कारण नासिक, सौदा तथा मीर आदि ने एकाधिक बार अपने शेरों को हिन्दी शेर कहा है तथा गालिब ने अपने खतों में उर्दू तथा रेखता का कई स्थलों पर समानार्थी प्रयोग किया है।

यद्यपि 18वीं शताब्दी तक ब्रज अथवा अवधी भाषा रूपों को ही

मानक माना जाता रहा तथापि इस अवधि में दिल्ली का राजनैतिक दृष्टि से महत्व बना रहा। इस देहलवी को अवधी और ब्रज के समान मानक बनने का गौरव तो प्राप्त न हो सका, किन्तु फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इस भाषा रूप को महत्व प्राप्त हुआ। अपनी बात को अधिकाधिक व्यक्तियों तक संप्रेषित करने के लिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति ने इस भाषा रूप का प्रयोग किया। आज यह बात स्पष्ट हो गई है कि संतों की भाषा में खड़ी बोली के प्रचुर तत्व विद्यमान हैं। साहित्य की पारम्परिक अभिव्यक्ति ब्रज भाषा में होने के कारण इन्होंने केन्द्रक भाषा के रूप में भले ही ब्रज भाषा को अपनाया हो, किन्तु चूंकि इनकी रचनाओं का मूल लक्ष्य साहित्यिक नहीं अपितु अपने कथ्य एवं संदेश को जनमानस के प्रत्येक वर्ग तक संप्रेषित करना था, इस कारण तथा तत्कालीन खड़ी बोली एवं दक्खिनी हिन्दी में साहित्यिक सर्जन करने वाले बहुत से सूफी संतों से प्रभावित होने के कारण खड़ी बोली के बहुत से तत्व अनायास इनकी भाषा में समाहित हो गए। संतों के अतिरिक्त अन्य बहुत से शायर एवं कवि हुए जिन्होंने खड़ी बोली को अपनी साहित्यिक रचनाओं का आधार बनाया। इस बोली के अतिरिक्त 17वीं शताब्दी तक जिन साहित्यकारों ने साहित्य सर्जन किया उनमें ऐसे नाम भी हैं जिन्हें हिन्दी के इतिहासकार हिन्दी के साहित्यकार कहते हैं तथा उर्दू वाले उर्दू के शायर। अमीर खुसरो के अतिरिक्त वली कुतुब शाह (1565-1611) को दोनों ही अपने साहित्य के इतिहास में स्थान देते हैं। यह तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि उर्दू एवं आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की मूलाधार एक ही बोली है। इस बोली के आधार पर 17वीं शताब्दी तक रचित साहित्य जनजीवन की भावनाओं से अनुप्राणित अधिक रहा है, संस्कृत एवं अरबी-फारसी के साहित्यिक प्रभावों से संपृक्त कम रहा है। ऐसी बहुत-सी साहित्यिक कृतियां हैं जिनकी भाषा के विश्लेषण एवं विवेचन से इस बात की पुष्टि होती है। एक ओर पारम्परिक साहित्यिक ब्रज भाषा की कलात्मक एवं अलंकृत परम्परा से हटकर तथा दूसरी ओर संस्कृत की तत्सम शब्दावली का मोह त्यागकर बहुत से साहित्यकारों ने खड़ी बोली के जनमुलभ रूप को काव्य रचना का आधार बनाया। मीर (1722-1810) तथा गालिब (1797-1859) ने इसी भाषा को आधार बनाकर साहित्यिक रचना की, किन्तु इन्होंने अरबी फारसी भाषाओं की शब्दावली तथा शैलीगत उपादानों का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में किया। इस कारण इनकी रचनाओं में एक भिन्न रंग आ गया। 19वीं सदी में फोर्ट विलियम कॉलेज के पदाधिकारियों एवं अंग्रेजी शासकों के सुनिश्चित प्रयास के कारण हिन्दी एवं उर्दू शब्दों का प्रयोग भिन्नार्थक रूपों के लिए होने लगा। अंग्रेजों ने इन भाषिक रूपों के साथ साम्प्रदायिक भावना को जोड़ने का अभूतपूर्व प्रयास किया। हिन्दी एवं हिन्दुस्तानी अथवा रेखता की भिन्नता का प्रतिपादन सर्वप्रथम 1812 में फोर्ट विलियम कॉलेज के वार्षिक विवरण में केप्टन टेलर ने यह कह कर किया कि मैं केवल हिन्दुस्तानी अथवा रेखता का जिक्र कर रहा हूं जो फारसी लिपि में लिखी जाती है। इस हिन्दुस्तानी एवं रेखता से हिन्दी की भिन्नता को स्थापित करने के उद्देश्य से उन्होंने बल देकर कहा कि मैं हिन्दी

का जिन्न नहीं कर रहा हूँ जिसकी अपनी लिपि है तथा जिसमें अरबी, फ़ारसी शब्दों का प्रयोग नहीं होता है। इस प्रकार फोर्ट विलियम कॉलेज में एक भाषिक रूप का निर्माण संस्कृत की तत्सम शब्दावली के बहुल प्रयोग के साथ देवनागरी लिपि तथा दूसरे रूप का निर्माण अरबी फ़ारसी शब्दावली की बहुलता के साथ फ़ारसी लिपि में कराकर एक ही भाषा के दो रूपों को दो भिन्न भाषाओं के रूप में मान्यता प्रदान करने के लिए षड्यंत्र रचा गया।

प्रत्येक भाषा का जन समुदाय अपनी भाषा के विविध रूपों के माध्यम से एक 'भाषिक इकाई' का निर्माण करता है। एक भाषा के समस्त भाषिक रूप जिस क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं उसे उस भाषा का भाषा क्षेत्र कहते हैं। प्रत्येक भाषा में अनेक क्षेत्रीय एवं वर्गगत भिन्नताएं होती हैं। इन समस्त भिन्नताओं की समष्टिगत अमूर्तता का नाम भाषा है। यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि हम यह निर्णय किस प्रकार करें कि विभिन्न भाषिक रूप एक ही भाषा के भिन्न रूप हैं अथवा अलग-अलग भाषा रूप हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जिस क्षेत्र में भाषा के विविध रूपों में बोधगम्यता की स्थिति होती है तथा जिन्हें उस क्षेत्र के बहुमत भाषी एक भाषा के विविध रूप मानते हैं, वह क्षेत्र उस भाषा का 'भाषा-क्षेत्र' कहलाता है। भिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति परस्पर विचारों का आदान-प्रदान नहीं कर पाते तथा अपने-अपने भाषा रूपों को भिन्न भाषाओं के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में उन भाषा रूपों को अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। जब कोई तमिल भाषी व्यक्ति हिन्दी भाषी व्यक्ति से तमिल में बात करता है तो हिन्दी भाषी व्यक्ति उसकी बात संकेतों, मुद्राओं, भावभंगिमाओं के माध्यम से भले ही समझ जावे, भाषा के माध्यम से नहीं समझ पाता। इसके विपरीत जब ब्रज बोलने वाला व्यक्ति अवधी बोलने वाले से बातें करता है तो दोनों को विचारों के आदान-प्रदान में कठिनाई तो होती है किन्तु फिर भी वे किसी न किसी मात्रा में विचारों का आदान-प्रदान कर लेते हैं, एक दूसरे की बातों को समझ लेते हैं। भाषाओं की भिन्नता अथवा भिन्न भाषा रूपों की एक भाषा के रूप में मान्यता का यह व्यावहारिक आधार है। दो भाषिक रूपों को एक ही भाषा के रूप में अथवा भिन्न भाषाओं के रूप में मान्यता प्रदान करने में ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक आदि कारण तथा उन भाषिक रूपों की संरचना एवं व्यवस्था की समता अथवा भिन्नता की स्थिति महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। एक भाषा क्षेत्र में एकत्व की दृष्टि से एक भाषा होती है किन्तु भिन्नत्व की दृष्टि से उस भाषा क्षेत्र में जितने व्यक्ति निवास करते हैं उसमें उतनी ही 'व्यक्ति बोलियां' होती हैं। व्यक्ति बोलियों एवं उस क्षेत्र की भाषा के बीच प्रायः बोली का स्तर होता है। किसी भाषा की क्षेत्रगत एवं वर्गगत भिन्नताएं ही उसकी बोलियां हैं। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि भाषा की संरचक बोलियां होती हैं तथा बोली की संरचक व्यक्ति-बोलियां होती हैं।

प्रत्येक भाषा क्षेत्र में किसी बोली के आधार पर मानक भाषा का विकास होता है। भाषा के इस मानक रूप को समस्त क्षेत्र के व्यक्ति मानक अथवा परिनिष्ठित रूप मानते हैं तथा उस भाषा-क्षेत्र के पढ़े-लिखे व्यक्ति औपचारिक अवसरों पर इसका प्रयोग करते हैं। इस प्रकार किसी

भाषा का मानक भाषा रूप उस भाषा क्षेत्र में सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बन जाता है। इस भाषा रूप की शब्दावली, व्याकरण एवं उच्चारण का स्वरूप अधिक निश्चित एवं स्थिर होता है। कलात्मक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अभिव्यक्ति का माध्यम भी यही भाषा रूप होता है। चूंकि उस भाषा क्षेत्र के अधिकांश शिक्षित व्यक्ति औपचारिक अवसरों पर इसका प्रयोग करते हैं, इस कारण यह संपूर्ण भाषा क्षेत्र के व्यक्तियों के लिए मानक बन जाता है। जो व्यक्ति उस समाज के पढ़े-लिखे एवं साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के संपर्क में आते हैं वे भी इस मानक भाषा रूप को सीखने का तथा प्रयोग करने का प्रयास करते हैं।

व्यवहार में मानक भाषा को भाषा क्षेत्र की मूल भाषा अथवा केन्द्रक भाषा के नाम से पुकारा जाता है तथा बोल-चाल में अधिकांश व्यक्ति इस मानक भाषा रूप को भाषा के नाम से तथा भाषा क्षेत्र की समस्त क्षेत्रगत एवं वर्गगत भिन्नताओं को इस मानक भाषा की बोलियों के नाम से पुकारते हैं। किन्तु तत्त्वतः भाषा अपने क्षेत्र में व्यवहृत होने वाली समस्त क्षेत्रगत भिन्नताओं, वर्गगत भिन्नताओं, शैलीगत भिन्नताओं तथा विभिन्न प्रयुक्तियों की समष्टि का नाम है। बोलियों, शैलियों एवं प्रयुक्तियों से इतर जिस भाषिक रूप को व्यावहारिक दृष्टि से अथवा प्रयत्न लाघव की दृष्टि से 'भाषा' के नाम से पुकारा जाता है वह भाषा नहीं अपितु उस भाषा के किसी क्षेत्र विशेष के भाषिक रूप के आधार पर विकसित मानक भाषा होती है। इसी मानक भाषा को मात्र भाषा अभिधान से पुकारने तथा भाषा समझने की गलत दृष्टि के कारण हम बोलियों को भाषा का अपभ्रष्ट रूप, अपभ्रंश रूप, गंवारू भाषा जैसे नामों से पुकारने लगते हैं। वस्तुतः बोलियां प्रकृत अथवा प्राकृत हैं। भाषा का मानक रूप उस भाषा क्षेत्र की समस्त बोलियों के मध्य संपर्क सूत्र का काम करता है। इसी दृष्टि से यदि हिन्दी भाषा शब्द पर विचार करें तो इसके दो प्रयोग हैं। एक व्यावहारिक तथा दूसरा सैद्धान्तिक। व्यावहारिक दृष्टि से अथवा बोलचाल में हिन्दी भाषा के मानक रूप को अथवा परिनिष्ठित रूप को हम हिन्दी भाषा के नाम से पुकारते हैं, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले समस्त क्षेत्रीय भाषा रूपों, वर्गगत रूपों, शैलीगत प्रभेदों तथा विविध व्यवहार क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले प्रयोग रूपों की समष्टि का नाम हिन्दी भाषा है।

मानक हिन्दी की मूलधार बोली हिन्दी भाषा की खड़ी बोली है किन्तु खड़ी बोली एवं मानक हिन्दी समानार्थक नहीं हैं। जाने-अनजाने बहुत से व्यक्ति हिन्दी शब्द का प्रयोग खड़ी बोली के अर्थ में करते हैं। हिन्दी शब्द की अर्थवत्ता को सीमित करने के प्रयास इस देश में नियोजित रूप से होते रहे हैं। जुलाई 1965 में "आलोचना" के तत्कालीन सम्पादक शिवदान सिंह चौहान ने अपने संपादकीय में इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर यह प्रतिपादित किया कि "हिन्दी क्षेत्र के समस्त क्षेत्रीय रूप हिन्दी भाषा से अलग एवं पृथक् हैं"। उनके विचारों को उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करना समीचीन होगा जिससे यह समझा जा सके कि हिन्दी को उसके अपने ही घर में खंड-खंड कर देने का षड्यंत्र कितना गंभीर हो सकता है:

"हिन्दी को मातृभाषा बताना चूंकि देश-भक्ति का पर्याय बताया

जाता है इसीलिए यहां हिन्दी से जीविका कमाने वाले या हिन्दी भक्त के नाम से वोट मांगने वाले और बदले में हिन्दी को मातृभाषा घोषित करने वाले ऐसे देश-भक्तों की संख्या नित्य बढ़ती जाती है यद्यपि उनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है- पंजाबी, राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, हरियाणवी, कुमाँउनी, डोगरी, गढ़वाली आदि चाहे कोई और हो पर हिन्दी (खड़ी बोली) नहीं है”।

1965 के बाद साहित्य अकादमी ने भी हिन्दी क्षेत्र की बहुत सी उपभाषाओं को हिन्दी भाषा से अलग स्वतंत्र दर्जा दिलाने की दिशा में विशेष प्रयत्न किया।

हिन्दी को उसके अपने ही घर में तोड़ने की विखंडनवादी नीति के विरोध में अनेक चिंतकों का ध्यान आकर्षित हुआ। 1971 में भारतीय हिन्दी परिषद् के 25वें वार्षिक अधिवेशन में उपस्थित विश्वविद्यालयों के 300 से भी अधिक हिन्दी प्राध्यापकों की सभा ने साहित्य अकादमी की भाषा नीति की तीव्र आलोचना की तथा एक प्रस्ताव पारित करके साहित्य अकादमी के सभापति से अनुरोध किया कि वे हिन्दी क्षेत्र की संश्लिष्ट भाषा, साहित्य और संस्कृति की परम्परा को क्षेत्रों में खंडित करने का उपक्रम अविलम्ब समाप्त करावें। हिन्दी के व्यापक और संश्लिष्ट रूप का निर्माण उसके साहित्य की एक हजार वर्ष की लम्बी परम्परा ने किया है और किसी अकादमी को यह अधिकार नहीं है कि वह इस प्रकृति को उल्टी दिशा में मोड़े।

वस्तुतः हिन्दी भाषा का क्षेत्र बहुत बड़ा है तथा हिन्दी क्षेत्र में ऐसी बहुत सी उप भाषाएँ हैं, जिनमें पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत बहुत कम है किन्तु ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से संपूर्ण हिन्दी भाषा क्षेत्र एक भाषिक इकाई है तथा इस हिन्दी भाषा क्षेत्र के बहुमत भाषा-भाषी अपने-अपने भाषा रूप को हिन्दी भाषा के रूप में मानते एवं स्वीकार करते आए हैं। इस हिन्दी भाषा क्षेत्र में मानक हिन्दी के बोलचाल वाले भाषिक रूप का प्रकार्यात्मक मूल्य बहुत अधिक है। सम्पूर्ण हिन्दी भाषा क्षेत्र के दो उप भाषी अथवा बोली भाषी जब अपनी उप भाषाओं अथवा बोली रूपों के माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान नहीं कर पाते तो वे भाषा के इसी रूप के द्वारा संप्रेषण कार्य करते हैं। जिन भाषाओं का क्षेत्र हिन्दी भाषा क्षेत्र के समान विशाल होता है तथा जिस भाषा के बोलने वालों की संख्या हिन्दी भाषा के प्रयोक्ताओं के समान बहुत अधिक होती है उन भाषाओं में इसी प्रकार की स्थिति मिलती है। हिन्दी, चीनी एवं रूसी भाषाओं के भाषा क्षेत्रों की भाषिक स्थिति का अध्ययन भाषा क्षेत्र के क्षेत्रगत भिन्न भाषिक रूपों में परस्पर बोधगम्यता के आधार पर नहीं किया जा सकता। हिन्दी, चीनी एवं रूसी भाषाओं में से किसी भी भाषा के ‘भाषा क्षेत्र’ में प्राप्त सभी क्षेत्रगत भाषा रूपों में पारस्परिक बोधगम्यता की स्थिति नहीं है। इन तीनों भाषाओं में उनकी क्षेत्रगत भाषा रूपों के अतिरिक्त भाषा का एक ऐसा रूप मिलता है जिसके माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्ति परस्पर विचारों का आदान-प्रदान कर पाते हैं। भाषा के क्षेत्रगत भाषा रूपों में पारस्परिक बोधगम्यता की स्थिति होना एक बात है तथा किसी भाषा के सभी भाषा-क्षेत्रों के व्यक्तियों का अपनी भाषा के किसी विशिष्ट रूप के माध्यम से परस्पर बातचीत कर पाना दूसरी बात है। इस दूसरी

स्थिति में ‘पारस्परिक बोधगम्यता’ नहीं होती, ‘एक तरफा बोधगम्यता’ होती है।

इस स्थिति में क्षेत्र विशेष के व्यक्तियों से क्षेत्रीय भाषा रूप में बातें होती हैं किन्तु भाषा के दूसरे भाषा क्षेत्रों अथवा बोली क्षेत्र के व्यक्तियों से अथवा औपचारिक अवसरों पर उस भाषा के मानक रूप का अथवा मानक भाषा के आधार पर विकसित व्यावहारिक भाषा का प्रयोग किया जाता है। भाषा की उप भाषाओं अथवा बोलियों से मानक भाषा के इस प्रकार के सम्बन्ध को फर्ग्युसन ने बोलियों की परत पर मानक भाषा की ऊर्ध्व प्रस्थापना माना है तथा गम्पर्ज ने इस प्रकार की भाषिक स्थिति को ‘बाइलेकटल’ के नाम से अभिहित किया है।

प्रश्न उठता है कि हिन्दी भाषा का क्षेत्र क्या है? इस दृष्टि से हमारे संविधान में जो राज्य हिन्दी भाषी राज्यों के रूप में मान्य हैं उनके आधार पर हिन्दी भाषा की पहचान की जा सकती है। बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा दिल्ली-ये समस्त राज्य हिन्दी भाषी राज्य हैं। इन सम्पूर्ण हिन्दी भाषी राज्यों का क्षेत्र ही हिन्दी भाषा का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में कहीं-कहीं अन्य भाषाओं की बोलियों के भाषाद्वीप अवश्य हैं तथा इन हिन्दी भाषी राज्यों की सीमाओं से जहाँ-जहाँ हिन्दीतर भाषी राज्यों की सीमाएं लगती हैं वहाँ हिन्दी एवं अहिन्दी भाषाओं के ‘संक्रमण क्षेत्र’ भी हैं। तथापि अधिकांश क्षेत्र हिन्दी भाषा का क्षेत्र है तथा इस क्षेत्र में जितने भाषिक रूप बोले जाते हैं वे हिन्दी भाषा के ही अंग हैं।

हिन्दी की दो प्रधान साहित्यिक शैलियाँ हैं—

1. खड़ी बोली के आधार पर विकसित संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक रूप जिसे साहित्यिक हिन्दी भाषा के नाम से जाना जाता है।
2. खड़ी बोली के ही आधार पर विकसित अरबी फारसी निष्ठ साहित्यिक रूप जिसे उर्दू के नाम से पुकारा जाता है।

यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि खड़ी बोली हिन्दी भाषा का एक क्षेत्र विशेष में बोले जाने वाला भाषा रूप है- उसी प्रकार जिस प्रकार ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि भाषा रूप हिन्दी भाषा के क्षेत्रीय रूप हैं। खड़ी बोली हिन्दी भाषा का वह क्षेत्रीय रूप है जो मेरठ, रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर आदि जिलों तथा देहरादून आदि के सीमित भागों में व्यवहृत होता है। खड़ी बोली क्षेत्र में रहने वाले सभी वर्गों के व्यक्ति जो कुछ बोलते हैं वह खड़ी बोली है किन्तु हिन्दी की अन्य उप भाषाओं (ब्रज, हरियाणवी, अवधी, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, गढ़वाली, कुमाँउनी, मेवाती, मारवाड़ी, जयपुरी, निवाड़ी आदि) की भांति इस क्षेत्र में भी हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति परस्पर संभाषण अथवा औपचारिक अवसरों पर मानक भाषा का प्रयोग करते हैं। मानक भाषा का प्रयोग हिन्दी क्षेत्र के अन्य उप भाषा क्षेत्रों में भी होता है। इस मानक हिन्दी का विकास खड़ी बोली के आधार पर हुआ है। मानक हिन्दी की मूलआधार खड़ी बोली है। खड़ी बोली के आधार पर मानक हिन्दी विकसित तो हुई है किन्तु खड़ी बोली ही मानक हिन्दी नहीं है। मानक हिन्दी बनने के बाद इस पर ब्रज एवं हरियाणवी का भी प्रभाव पड़ा है तथा हिन्दी की अन्य उप भाषाओं के शब्द रूपों को भी इसने आत्मसात् किया

है। अखिल भारतीय संपर्क भाषा होने के कारण इसने हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के शब्दों, रूपों एवं शैली तत्वों को भी अपने में पचा लिया है। हिन्दी भाषा क्षेत्र के प्रत्येक उप भाषा एवं बोली क्षेत्र में मानक हिन्दी पर वहां की स्थानीय भाषिक विशेषताओं का प्रभाव पड़ता है तथा भारत के हिन्दीतर भाषी क्षेत्रों में मानक हिन्दी वहां की भाषिक विशेषताओं से रंजित हो जाती है। हिन्दी भाषा के मानक हिन्दी भाषा रूप को हिन्दी अभिधान से पुकारने का कारण केवल व्यावहारिक है। इस तथ्य से परिचित न होने के कारण ही 'उर्दू हिन्दी की साहित्यिक शैली है'- जैसे वाक्य को सुनकर या पढ़कर उर्दू के साहित्यकारों के मन में इस प्रकार का भाव-बोध जागृत होता है कि उर्दू को आधुनिक साहित्यिक हिन्दी की एक शैली मात्र कहा जा रहा है। वस्तुतः उर्दू हिन्दी की उसी तरह से एक साहित्यिक शैली है जिस प्रकार से आधुनिक साहित्यिक हिन्दी उसकी एक दूसरी शैली है।

खड़ी बोली के आधार पर जिस मानक हिन्दी का विकास हुआ है उसका मूल्य भाषिक दृष्टि से बहुत अधिक है। यह तो स्पष्ट है कि खड़ी बोली, मानक हिन्दी एवं साहित्यिक हिन्दी इन तीनों में अन्तर है।

खड़ी बोली हिन्दी भाषा का क्षेत्रीय रूप है, साहित्यिक हिन्दी आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त होने वाली साहित्यिक भाषा है तथा हिन्दी भाषा के प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति औपचारिक अवसरों पर तथा भिन्न उप भाषा अथवा बोली क्षेत्र के व्यक्तियों से जिस भाषिक रूप के माध्यम से व्यवहार करते हैं वह मानक हिन्दी अथवा मानक हिन्दी का व्यावहारिक रूप है। हिन्दी क्षेत्र की विभिन्न सुदूरवर्ती उप भाषाओं एवं बोलियों में पारस्परिक बोधगम्यता का तथा उनकी भाषिक संरचनात्मक व्यवस्थाओं में समानता का प्रतिशत भले ही कम हो फिर भी मानक हिन्दी भाषा अथवा उसके व्यावहारिक उप-मानक रूप के अत्यधिक उच्च प्रकार्यात्मक मूल्य के कारण सम्पूर्ण क्षेत्र में संप्रेषणीयता सम्भव है। सम्पूर्ण हिन्दी भाषा क्षेत्र में पारस्परिक भावात्मक एवं सामाजिक एकता तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संश्लिष्ट परम्परा ने भी सम्पूर्ण क्षेत्र को एक भाषिक इकाई के रूप में विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। दूसरे शब्दों में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं सामाजिक कारणों से सम्पूर्ण हिन्दी भाषा क्षेत्र में मानक हिन्दी के व्यावहारिक रूप का प्रसार अधिकाधिक सम्भव हो सका है। कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण हिन्दी भाषा क्षेत्र में इस व्यावहारिक हिन्दी को बोलकर अपनी यात्रा पूरी कर सकता है, हिन्दी क्षेत्र के किसी भी भूभाग के बाजार में जाकर सामान खरीद सकता है, किसी भी रेलवे स्टेशन पर उतरकर कुली तथा रिक्शेवाले से बातें कर सकता है, किसी भी होटल में जाकर बातचीत कर सकता है, किसी भी सरकारी अथवा अर्धसरकारी कार्यालय में जाकर सूचना प्राप्त कर सकता है। व्यावहारिक हिन्दी का पूरे भारत राष्ट्र में प्रचार, प्रसार एवं विकास होने के कारण भाषा व्यवहार की उपर्युक्त स्थितियों में से बहुत-सी स्थितियां हिन्दीतर भाषी राज्यों में भी उपलब्ध हैं। इस कारण मानक हिन्दी का यह व्यावहारिक रूप सम्पूर्ण भारत की (तथा पाकिस्तान की भी) सम्पर्क भाषा के रूप में व्यवहृत है। हिन्दी भाषा क्षेत्र की तो यह स्थिति है कि इस क्षेत्र

के किसी भी गांव में जाकर कोई व्यक्ति व्यावहारिक हिन्दी बोलकर किसी प्राथमिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति से बातें कर सकता है तथा उस गांव के किसी भी ऐसे व्यक्ति से जिसका अपने जनपद से इतर हिन्दी के अन्य भाषी क्षेत्र से सामाजिक सम्पर्क बना रहता है, वार्तालाप कर सकता है।

इस प्रकार हिन्दी की दो भिन्न उप भाषाओं अथवा बोलियों के व्यक्ति जब अपनी-अपनी उप भाषाओं अथवा बोलियों के माध्यम से परस्पर संभाषण नहीं कर पाते तो वे मानक हिन्दी अथवा व्यावहारिक हिन्दी के द्वारा परस्पर बातचीत करते हैं। हिन्दी के दो सीमांत क्षेत्रों में रहने वाले मैथिली एवं मारवाड़ी बोलने वाले व्यक्ति अपने क्षेत्रीय भाषिक रूपों के माध्यम से परस्पर विचारों का आदान-प्रदान भले ही न कर पाएं फिर भी वे अपनी क्षेत्रीय उप भाषाओं की परत पर ऊर्ध्व प्रस्थापित मानक-हिन्दी अथवा व्यावहारिक हिन्दी के द्वारा परस्पर बातचीत कर लेते हैं। मानक हिन्दी अथवा व्यावहारिक हिन्दी के अत्यधिक प्रकार्यात्मक मूल्य के कारण हिन्दी भाषा का जन समुदाय हिन्दी भाषा के विविध रूपों के मध्य संभाषण की स्थिति के कारण एक भाषिक इकाई का निर्माण करता है।

हिन्दी भाषा के विविध भाषा रूपों के मध्य मानक हिन्दी अथवा व्यावहारिक हिन्दी के कारण सम्भाषण प्रक्रिया से भाषिक एकता की चेतना का निर्माण हुआ है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक समन्वय के प्रतिमान के रूप में यह मानक अथवा व्यावहारिक हिन्दी सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र के सामाजिक जीवन में परस्पर आश्रित सह सम्बन्धों की स्थापना करती है। सम्पूर्ण हिन्दी भाषी क्षेत्र में साहित्यिक धरातल पर भी साहित्यिक हिन्दी की अविरल परम्परा रही है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने मैथिली, अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि सभी उप भाषा रूपों में रचित साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास की सीमा रेखा में आबद्ध किया है और हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के आरम्भ से हिन्दी के प्रत्येक उप भाषा क्षेत्र के साहित्यकार आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में साहित्य रचना कर रहे हैं।

इस प्रकार हिन्दी भाषा क्षेत्र में व्यवहृत होने वाले क्षेत्रगत, वर्गगत, शैलीगत, प्रयुक्तिपरक भाषिक रूपों तथा मानक हिन्दी, व्यावहारिक हिन्दी, आधुनिक साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू साहित्य सभी की समष्टिगत अमूर्तता का नाम 'हिन्दी भाषा' है। 'हिन्दी' की व्यापक अर्थवत्ता है और इस कारण उर्दू, फारसी लिपि में लिखी जाने वाली इसकी उसी प्रकार एक साहित्यिक शैली है जिस प्रकार 'आधुनिक साहित्यिक हिन्दी' देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली इसकी दूसरी साहित्यिक शैली है और इसी कारण भोजपुरी, मैथिली, मगही, मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, निमाड़ी आदि समस्त भाषिक रूप हिन्दी भाषा के अंग हैं, हिन्दी भाषा के उप भाषिक रूप हैं।

निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान
आगरा (30 प्र०)

राष्ट्र के विकास में समाजवाद का योगदान

“समाजवादी आन्दोलन की शुरुआत भारत में और दुनिया में एक अर्थ में तो बहुत पहले हो जाती है। वह अर्थ है अनासक्ति की मिलकियत और ऐसी चीजों के प्रति लगाव खतम करने का, या कम करने का, मोह घटाने का। इस अर्थ में समाजवादी आन्दोलन का आरम्भ भारत में और विश्व में बहुत पहले से है किन्तु जब से समाजवाद के ऊपर कार्ल मार्क्स की छाप बहुत पड़ी, तब से एक दूसरा अर्थ सामने आ गया। वह है सम्पत्ति की संस्था को खतम करने का, संपत्ति रहे ही नहीं, चाहे कानून से चाहे जनशक्ति से। पहला अर्थ था सम्पत्ति के प्रति मोह नहीं रहे और अब अर्थ हुआ है कि सम्पत्ति रहे ही नहीं। रूस अपनी क्रान्ति करके सम्पत्ति को मिटा चुका 1919 में। उसके बाद से सारी दुनिया में समाजवादी आन्दोलन की एक धारा ऐसी बही कि जो सम्पत्ति को मिटाना चाहती थी लेकिन “उसके साथ-साथ, रूस के साथ जुड़ जाती थी। साम्यवादी उसको कहेंगे कि वह अंतर्राष्ट्रीय धारा थी। मेरे जैसा आदमी कहेगा कि वह परदेशमुखी धारा थी।” ...राममनोहर लोहिया।

हिन्दुस्तान में असली समाजवादी धारा 1934 में आरम्भ हुई। पहले अलग धाराओं के लोगों ने मिलकर कांग्रेस में ही कांग्रेस समाजवादी दल का निर्माण किया, उनमें आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाशनारायण, राममनोहर लोहिया, नारायण गोरे, अच्युत पटवर्धन आदि अनेक नेता थे।

उन्होंने कांग्रेस में देश की सम्पूर्ण आजादी और समाजवादी समाज

की स्थापना को अपना उद्देश्य बनाया। यह गुट कांग्रेस के अन्दर अदरकी (मिर्च) गुट था, गरम दल। आजादी के लिए संघर्ष करने, सत्ता व समझौते के खिलाफ जूझने वाला गुट। इसका नेतृत्व जवाहरलाल नेहरू करते थे, किन्तु जब गरम लोगों के प्रस्ताव गिर जाते थे तो नेहरूजी कांग्रेस के बहुमत के साथ सत्ता आदि प्राप्त करने में भागीदार हो जाते थे। असल में देश के सबसे बड़े समाजवादी कहे जा सकते हैं, किन्तु वे कई मामलों में समाजवादियों से मत-भिन्नता रखते थे किन्तु उनकी बहादुरी से प्रभावित थे और इसीलिए देश की आजादी के संघर्ष में खासकर 1942 की क्रांति में समाजवादियों का बहुमूल्य योगदान रहा। “भारत छोड़ो आंदोलन में” समाजवादियों के योगदान की बहुत महान् भूमिका है, जिसकी तरफ इस लेख में केवल इशारा किया गया है। सन् 1942 के “अंग्रेजों भारत छोड़ो आंदोलन” में समाजवादी लोगों ने रूस मित्र राष्ट्रों के साथ युद्ध में होने के कारण उसे “जनयुद्ध” की संज्ञा दी और इसलिए वे आंदोलन के विरोध में रहे और ब्रिटिश हुकूमत का साथ दिया। साम्यवादियों के कई बड़े नेताओं ने अपनी इस महान् भूल को बाद में स्वीकार किया है, साथ ही आपातकाल में दक्षिण पंथी कम्युनिस्टों ने इंदिरा गांधी का साथ दिया और वामपंथी कम्युनिस्ट तटस्थ रहे। आज दोनों कम्युनिस्ट एक नहीं हो रहे। समाजवादियों के कई टुकड़े हो गए और आज देश में व्यापक समाजवादी आंदोलन की कमी है। प्रयास जारी हैं। रूस में साम्यवादी व्यवस्था के पतन और पूंजीवादी उपभोक्ता संस्कृति के दस्तक देने और विघटन होने से लोगों ने ऐसा मानना शुरू कर दिया है कि समाजवाद का अंत हो गया, किन्तु ऐसा नहीं है। अमरीकी साम्राज्यवाद और नई पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने दुनियां में गरीब और पिछड़े राष्ट्रों के शोषण का नया लुभावना रास्ता निकाला है। विदेशी बहुराष्ट्री कम्पनियों के प्रादुर्भाव व नई अर्थ-व्यवस्था ने आजादी के आंदोलन में उपजी त्याग और समता की संस्कृति और समाजवादी आंदोलन की उपलब्धियों को भारी चुनौती दी है और विश्व व्यापार संगठन के चक्कर में देश फंस गया है। ऐसी विषम परिस्थिति में भारत राष्ट्र की मुक्ति और निर्माण में समाजवादी आंदोलन के बहुमूल्य योगदान को याद करना प्रासंगिक है। खास-खास मुद्दे निम्न हैं:-

- 1 : देश के बंटवारे का विरोध किन्तु सक्रियता से आंदोलन न कर पाने के कारण बाद में बंटवारे को नकली बनाकर भारत पाक एका और ढीला-ढाला महासंघ बनाने का विचार दिया जो अंततोगत्वा भारत-पाक-बंगलादेश-काश्मीर आदि समस्याओं का स्थाई और शांतिपूर्ण हल होगा और युद्ध तथा साम्प्रदायिक झगड़ों से सबको मुक्ति दिलायेगा।
- 2 : देश में आजादी मिलने के बाद समाजवादी अर्थ-व्यवस्था और नियोजन की ओर झुकने के लिए संघर्ष। फलस्वरूप कांग्रेस ने समाजवादी मुखौटा ओढ़ा और बैंक, बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण हुआ तथा कई मूल उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में लगे। सार्वजनिक और निजी उद्योगों के दोष गिनाये।
- 3 : किसान मजदूर युवजनों के आंदोलन। उन्हें अपने हक दिलाने में काफी हद तक कामयाबी।
- 4 : गोवा मुक्ति आंदोलन में सक्रिय भूमिका। 1946 में डॉ. लोहिया

- ने वहां जाकर संघर्ष किया, गिरफ्तार हुए।
- 5 : नेपाल को राणाशाही से मुक्ति का आंदोलन।
- 6 : हैदराबाद को निजाम से मुक्त कर भारत में विलय का आंदोलन।
- 7 : देश की योजनाओं को दिशाहीन बताकर उन्हें देश में विषमता बढ़ाने के लिए जिम्मेदार बताया। खेती, पीने का साफ पानी, महिलाओं के लिए पाखाने, शिक्षा, रोजगार, सिंचाई आदि जनता की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के बजाय योजनाओं ने चंद पैसे वाले कालाबाजारी, ठेकेदार, भ्रष्ट अफसर और नेता पैदा किये। इस पर बाहर और संसद में तीन आने बनाम पंद्रह आने की बहस चलाकर डॉ. लोहिया ने योजनाओं का पर्दाफाश किया।
- 8 : देश में और प्रजातंत्र में राजनैतिक दल न केवल चुनावी प्रक्रिया में लगे बल्कि रचनात्मक काम, संघर्ष, वोट, फावड़ा और जेल को प्रतीक के रूप में स्थापित किया और श्रम की प्रतिष्ठा के लिए हर समर्थ व्यक्ति एक घण्टा देश के लिए श्रम करें, यह नारा दिया, काम भी हुआ।
- 9 : प्रजातंत्र में भी अपनी सरकार के खिलाफ बल्कि हर अन्याय और अत्याचार के खिलाफ अहिंसक सत्याग्रह और सिविल नाफरमानी का सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसे सरकारी और मठी गांधीवादियों ने अस्वीकार कर रखा था। दुनिया के सामने 20वीं सदी में दो ही विकल्प हैं गांधी या एटमबम। बेलोट या बुलेट नहीं बुलेट या सिविल नाफरमानी, ये बदलाव का विकल्प है।
- 10 : विदेश नीति में अतलांतिन और सोवियत गुटों को समान रूप से निरर्थक मानते हुए तीसरे गुट प्रजातंत्र और समाजवाद का गुट तैयार करना। संयुक्त राष्ट्र संघ में सभी देशों को बराबरी का अधिकार। वीटो का खात्मा और विश्व सरकार की स्थापना।
- 11 : पूंजीवाद और साम्यवाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों गोरों की संस्कृति और आर्थिक केन्द्रीकरण के प्रतीक हैं। सही दुनिया के निर्माण के लिए समाजवाद, लोकतंत्र, अहिंसा, विकेन्द्रीकरण और सिविल नाफरमानी के सिद्धांतों को अपनाने पर जोर। समाजवाद को अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करना और विश्व मैत्री कायम करना।
- 12 : अंग्रेजी के चलते समाजवाद की कल्पना निरर्थक है। इसलिए सार्वजनिक उपयोग, शिक्षा के क्षेत्र से अंग्रेजी हटाने एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी और समस्त देशी भाषाओं को माध्यम बनाना। इस हेतु सक्रिय आंदोलन सफल हुए किन्तु पुनः अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ रहा है।
- 13 : नदियां साफ करो। कृषि और ग्रामीण व्यवस्था से संबंधित मेले दिल्ली में नहीं, कुम्भ मेले में लगाओ ताकि कोटि-कोटि ग्रामीण जनता उसका लाभ उठाये।
- 14 : विकेन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था, छोटी मशीन की तकनीक अपनाना यानी जहां जरूरी हो जैसे देश की सुरक्षा और निर्यात के लिए बड़ी मशीन और जहां-जहां संभव हो छोटी मशीन ताकि रोजगार मिले।
- 15 : चौखम्भा राज। पंचायत, जिला, राज्य और केन्द्र में सत्ता का विकेन्द्रीकरण और पांचवां खम्भा विश्व पंचायत।

- 16 : अठारह साल के युवजनों को वोट का अधिकार।
- 17 : बुढ़ापे की पेंशन और बेरोजगारों को पेंशन।
- 18 : भूमि सेना और अन्न सेना का गठन।
- 19 : हिमालय बचाओ। तिब्बत पर चीन ने कब्जा किया उसका विरोध। तिब्बत पर चीन की सार्वभौमिकता मानकर राष्ट्र ने अपनी फौजें व संचार व्यवस्था हटा ली और चीन ने आक्रमण किया, हार हुई और आज भी लाखों वर्गमील जगह उसके कब्जे में है। मेकमोहन रेखा आजाद हिन्दुस्तान और आजाद तिब्बत के बीच सीमारेखा है अन्यथा हमारी सीमा कैलाश मानसरोवर और पूर्ववाहिनी ब्रह्मपुत्र नदी तक है।
- 20 : आरक्षण दिया जावे किन्तु उद्देश्य जाति विनाश हो। अंतरजातीय विवाह को बढ़ावा देना। आरक्षण शिक्षा के क्षेत्र में नहीं होना चाहिए। औरत, शुद्र, हरिजन आदिवासी और अल्पसंख्यक पिछले वर्गों को नौकरी, नेतागिरी में 60 सैंकड़ा आरक्षण।
- 21 : महंगाई भत्ते बढ़ाने से महंगाई कम नहीं होगी। दाम बांधना। खेती और कारखाने की वस्तुओं के बीच भावों का संतुलन। कारखाने की चीजें लागत मूल्य से डेढ़ से अधिक न बिकें।
- 22 : धर्म दीर्घकालीन राजनीति है और राजनीति अल्पकालीन धर्म। राजनीति और धर्म का विवेकपूर्ण समिश्रण। धर्मनिरपेक्ष राज्य।
- 23 : जयप्रकाशजी ने सर्वोदय आंदोलन अपनाया, समाजवादी आंदोलन विघटित हुआ किन्तु बाद में फिर उन्होंने गुजरात-बिहार आंदोलन का नेतृत्व किया और आपातकाल लगा, जिसमें विपक्ष को जेलें हुईं। जनता पार्टी उनके दबाव में बनी और केन्द्र से कांग्रेस की एक छत्र सत्ता हटी।
- 24 : 1967 में गैर कांग्रेस वाद की रणनीति से 9 राज्यों में कांग्रेस हारी।
- 25 : 1989 में बोफोर्स कांड, जनता दल का उदय और वी.पी. सिंह की सरकार केन्द्र में बनी।

आज भी समाजवादी अभियान चल रहा है। कांडला में कारगिल कम्पनी के खिलाफ नमक सत्याग्रह सफल रहा। जनता दल में भ्रष्टाचार और निष्क्रियता के खिलाफ बगावत। जनता दल (समता दल) का गठन। आज भी देश में समाजवादी रूझान के कई संगठन चल रहे हैं, किन्तु एक विशाल समाजवादी संगठन के अभाव में देश में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, विषमता, पूंजीवाद के खिलाफ कारगर आंदोलन नहीं चल पा रहा है। राष्ट्र का विकास अवरुद्ध है। क्या नई पीढ़ी इस विरासत का लाभ उठाकर नया नेतृत्व देगी? क्या देश को पूंजीवाद और अमरीकी तथा यूरोपीय आर्थिक साम्राज्यवाद से छुटकारा दिलाने और नई समतावादी समाज की रचना के लिए देश में सभी समाजवादी और साम्यवादी अपने-अपने तंग दायरों को छोड़कर एक होंगे और देश और दुनिया को नई राह दिखाएंगे? सही सोच, कर्म और संगठन की जरूरत है, उसे पूरा करने का संकल्प करें।

गांधी वाटिका, नीमच (म० प्र०)

□ आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री,

थक-थक कर औ चूर-चूर हो,
अमल-धवल गिरि के शिखरों पर,
प्रियवर, तुम कब तक सोये थे ?
रोया यक्ष कि तुम रोये थे ?
कालिदास, सच-सच बतलाना।¹

यह कविता यह ध्वनित कर रही है कि अज या रति या यक्ष के माध्यम से जिस विरह की व्यंजना कालिदास ने की है, वह उनके अपने अन्तर के विरह की अनुभूत वेदना थी। कवि की अपनी भोगी हुई विरहपीड़ा की प्रत्यक्षता और विरहपीड़ित स्वजनों की पीड़ा की साक्षिता सम्मिलित रूप से उसका वह अनुभव-कोष है जिसके आधार पर वह अपने पात्रों की विरह वेदना का चित्रण करता है। अपने अनुभवों को वाणी देने के लिए, तल्लीनता के साथ-साथ जिस तटस्थता की कुछ दूरी की आवश्यकता होती है उसकी सिद्धि के लिए कालिदास ने इन पात्रों के माध्यम से अपने विरहानुभव को व्यंजित किया था। अतः कालिदास के पात्रों की विरहव्यंजना में स्वयं कालिदास की विरहानुभूति और विरह सम्बन्धी तात्त्विक दृष्टि समाहित है, इस मान्यता का औचित्य स्वीकार्य है।

कालिदास की विरह-व्यंजना

‘कालिदास की विरह-व्यंजना’, इस शीर्षक का थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। इस शीर्षक से एक अर्थ यह ध्वनित होता है कि अपने साहित्य के पात्रों के द्वारा कालिदास ने विरह का जो रूप अंकित किया है उसकी विवेचना इस लेख में की जायेगी। इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि स्वयं कालिदास ने विरह का जो अनुभव किया है उसकी व्यंजना करने का दुष्प्रयास इस लेख का अभीष्ट है। यह दूसरा अर्थ कुछ अटपटा लगता है लेकिन मेरा विश्वास है कि ये दोनों अर्थ परस्पर पूरक हैं।

कालिदास ने विरह का जो मार्मिक तीव्र अनुभव किया होगा वही अनुभव भिन्न-भिन्न पात्रों के माध्यम से भिन्न-भिन्न कृतियों में भिन्न-भिन्न स्थितियों में प्रतिफलित हुआ होगा, यह अनुमान असंगत नहीं कहा जा सकता। अपनी इस मान्यता के समर्थन में हिन्दी के विदग्ध कवि नागार्जुन की एक मर्मस्पर्शी कविता के कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ—

कालिदास, सच-सच बतलाना,
इन्दुमती के मृत्युशोक से,
अज रोया या तुम रोये थे ?
कालिदास, सच-सच बतलाना।

रति का क्रन्दन सुन आँसू से,
तुमने ही तो दृग धोये थे ?
कालिदास, सच-सच बतलाना,
रति रोयी या तुम रोये थे ?

कालिदास, सच-सच बतलाना,
पर-पीड़ा से पूर-पूर हो,

इस विवेचन को आगे बढ़ाने के पहले विरह सम्बन्धी कालिदास की तात्त्विक दृष्टि पर थोड़ा विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। कालिदास की विरह सम्बन्धी धारणा प्रेम सम्बन्धी उनकी मान्यता पर अवलम्बित है। प्रेम अपने शिथिल अर्थ में विशेष कर कविता के शृंगारी सन्दर्भ में मनोनुकूल नर या नारी के प्रति मन की प्रवणता को व्यक्त करता है। प्रेम के और व्यापक तथा गंभीर अर्थ भी होते हैं किन्तु उपर्युक्त अर्थ में नर-नारी की कामासक्ति उसमें अनायास अन्तर्निहित रहती है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि कालिदास की दृढ़ मान्यता थी कि कामासक्ति एक सतही स्थिति है। केवल शारीरिक रूप का पिंड आकर्षण मनुष्य के हृदय में जिस उत्कंठा को जन्म देता है वह भोगपरायण है और उसके द्वारा उस गंभीर अनुभूति का उदय नहीं होता जिसे प्रेम कहा जा सकता है। अप्राप्त प्रिय की प्राप्ति होने के बाद अगर उसके प्रति आकर्षण शिथिल हो जाय, उसमें सातत्य न बना रहे तो यह मानना पड़ेगा वह प्रेम न होकर काम ही था।

कालिदास प्रेम में शरीर के मिलन को नकारते तो नहीं किन्तु उसी तक सीमित नहीं रहते। कालिदास नर-नारी के मिलन को बहुत सूक्ष्मता से, स्पष्टता से कलात्मक रूप में अंकित करते हैं। ऐसा करते समय किसी भी प्रकार की कुंठा का वे बोध नहीं करते। फिर भी कालिदास की दृष्टि में शरीर के धरातल का अतिक्रमण कर जब प्रेम ‘भावनिबन्धना रति’ की भूमिका पर अधिरोहण करता है, तभी सार्थक होता है। ‘भावनिबन्धना रति’ शब्द कालिदास का ही है। इन्दुमती के प्रति अज ने अपने प्रेम की अभिव्यक्ति इसी शब्द के माध्यम से की थी।² जब तक ऐसा नहीं होता तब तक यौवन और सौन्दर्य दोनों वास्तविक प्रेम को उद्दीप्त करने में समर्थ नहीं होते। यौवन तो जीवन के एक काल

विशेष की संज्ञा है, जिसमें विषय भोग के प्रति मन उन्मुख होता है। 'यौवने विषयैषिणाम्'³, यह उक्ति कालिदास ने रघुवंश के राजाओं के वर्णन के प्रसंग में स्वयं कही है। अर्थात् वे स्वीकार करते थे कि यौवनकाल में विषय की एषणा स्वाभाविक होती है। इस एषणा को रूप-सौन्दर्य और उकसा देता है। यह एषणा सौन्दर्य के प्रति यह आकर्षण कालिदास की दृष्टि में तब तक प्रेम संज्ञा प्राप्त करने में समर्थ नहीं, जब तक मंगलमय न हो। यह स्मरणीय है कि यौवन मूलतः विषयगत है, सौन्दर्य विषय में भी होता है और विषयी की दृष्टि में भी किन्तु प्रेम तो भाव में ही बल्कि भावविशेष ही है। विषयैषणा या भोगलालसा की तृप्ति तो पण्यस्त्रियों या पुरुषों के द्वारा भी की जा सकती है। ऐसा करने वालों के प्रति कालिदास के मन में सम्मान नहीं था। मेघदूत में विदिशा के निकट 'नीच' नामक पहाड़ी की गुफाओं में इस प्रकार की कामकेलि का संकेत कालिदास ने किया था।⁴ मुझे लगता है कि यह 'नीच' नाम साभिप्राय है जो आधार तक ही सीमित न होकर आधेय को भी अपनी लपेट में ले लेता है। अन्तःपुरों में विलासी राजाओं की प्रेमक्रीड़ा का चित्रण भी कालिदास को करना पड़ा था। अपने आश्रयदाताओं की रुचियों को ध्यान में रखना राजाश्रित कवियों की विवशता है। कालिदास भी उससे मुक्त नहीं थे। 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक अपने नाटक में कालिदास ने अग्निमित्र की प्रणयलालसा का चित्रण किया है जो धारिणी एवं इरावती जैसी रानियों के रहते हुए मालविका के सौन्दर्य से आकृष्ट होता है। विदूषक की चतुर्दृष्टि और परिस्थितियों की अनुकूलता से वह उसे पा भी लेता है, किन्तु इस नाटक में प्रेम की व्यंजना सतही ही है, उदात्त एवं ऊर्जस्वित नहीं।

जिसकी सिद्धि के लिए कोई बड़ी चीज दाँव पर नहीं लगायी जाये, वह वृत्ति आन्तरिक है, गंभीर है, मंगलमयी है, कालिदास संभवतः इसे नहीं मानते थे। उनकी धारणा थी कि सृष्टिरचना की इच्छा से भगवान् शिव ने अपने आपको स्त्रीपुरुष इन दो मूर्तियों में विभक्त कर दिया। इन स्त्री-पुरुषों में रूपासक्ति के कारण आकर्षण हो यह स्वाभाविक है किन्तु यदि यह आसक्ति केवल देहपरक है, उपभोगपरक है तो अन्धी कामासक्ति है जो उपभोग के बाद शिथिल हो जा सकती है और अपने स्वाभाविक परिणाम नवीन सृष्टि से कतरा सकती है या उसे अवांछित... दुःख-भाजन मान सकती है। इसीलिए वे प्रतिपादित करते हैं कि जब कामासक्ति को तपस्या से भस्म कर दिया जाता है तभी शुद्ध प्रेम की दीप्ति प्रकट होती है। कुमारसंभवम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् अपनी इन दोनों प्रौढ़ कृतियों में कालिदास ने शारीरिक आकर्षण के प्रथम आवेग को मंगलमय नहीं बताया है। काम जब पार्वती के सौन्दर्य को सम्बल बनाकर शिवजी के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करना चाहता है तब उसे भस्म हो जाना पड़ता है। पार्वती जब अपने रूप से शिवजी को रिझाने में असमर्थ होकर तपस्या से उन्हें पाने का संकल्प करती हैं तभी कालिदास उन्हें उदात्त प्रेम की उपलब्धि की अधिकारिणी मानते हैं:— 'अवाच्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।'⁵ किसी अन्य तरह, वैसा प्रेम और वैसा पति कैसे पाया जा सकता है।

जिस प्रेम को तपस्या के द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता, वह प्रेम मंगलमय नहीं होता। वह रूप भी मंगलमय नहीं होता जो तपस्या से परिशोधित न हो। कालिदास के मतानुसार वास्तविक उदात्त प्रिय अरूपहार्य⁶ होता है, रूप के द्वारा उसे भुलाया नहीं जा सकता। पार्वती को इसीलिए लगा कि केवल आकर्षण के चाकचिक्य द्वारा शिव जैसे पति को प्राप्त करने का दावा करने वाला रूप वास्तविक प्रेम को प्राप्त करने का उपयुक्त उपकरण नहीं है। इस रूप को भी तप से पवित्र होना चाहिए। कालिदास का निर्णय है कि 'भावनिबन्धना रति' के लिए तप करना, तपना, ताप झेलना आवश्यक है। महादेवी वर्मा की पंक्तियाँ याद आ गयीं—

ताप बिना खंडों का भिल पाना अनहोना,
बिना अग्नि के जुड़ा न लोहा, माटी, सोना !
ले दूटे संकल्प-स्वप्न, उर-ज्वाला में पिघलो।⁷

जब लोहा, माटी, सोना जैसे जड़ पदार्थ भी बिना अग्नि-ताप के जुड़ नहीं सकते तब शिवजी के खंडों के रूप में विभाजित नर-नारी के जो जोड़े सच्चे प्रेम के तप रूपी ताप से अपने हृदयों को जोड़ नहीं पाते वे शरीर के स्तर पर जुड़ कर भी वास्तव में जुड़ नहीं पायेंगे। इस प्रेम तप के अन्तर्गत प्रिय को प्राप्त करने के लिए सर्वस्व समर्पण रूपी एकनिष्ठ तप भी है, विरहताप भी और भूल हो जाने पर उसके संशोधन के लिए आन्तरिक पश्चात्ताप भी। बिना सच्चे पश्चात्ताप के अगर शकुन्तला को प्राप्त कर लिया होता दुष्यन्त ने तो शकुन्तला की क्या स्थिति होती? अन्तःपुरों में एक क्षण के आकर्षण से अपने को धन्य मानने वाली ऐसी सुन्दरियों के जीवन का करुण अवसान हम बार-बार देखते रहे हैं, सुनते रहे हैं, जिनकी ओर राजा दूसरी बार आँख उठाकर भी नहीं देखता। क्या शकुन्तला की परिणति भी वैसी ही नहीं हो जा सकती थी? कालिदास ने इस तथ्य को रेखांकित किया है कि जो तथाकथित प्रेम कर्तव्य में बाधक बनता है वह स्वामी के द्वारा दंडित और ऋषि के द्वारा अभिशप्त होता है। यक्ष स्वर्णकमल लाना भूल जाये, शकुन्तला आतिथ्य-धर्म को विस्मृत करके केवल अपने प्रिय की स्मृति में लीन रहे, यह अपेक्षित नहीं है। यह तो आसक्ति है जो धिक्कृत की जानी चाहिए। इसीलिए इस आसक्ति के प्रेरक कामदेव को उसकी कुचेष्टा के कारण भगवान् शिव दग्ध कर देते हैं। जब रूप का आकर्षण अपने को तप से पवित्र करता है, जब प्रेमी तप रूपी विरहताप या पश्चात्ताप से आसक्ति की समस्त श्यामता को दग्ध कर विशुद्ध कांचन के रूप में निखर उठता है तभी उसका प्रेम सार्थक होता है। पार्वती की तपस्या से रीझ कर शिव को भी कहना पड़ता है, हे अवनतांगि ! तुम्हारे इस अपूर्व तप के कारण मैं आज से तुम्हारा मोल लिया दास हूँ—

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलो।⁸

इस दृष्टि से विरह की वास्तविक महिमा यही है कि वह तपाग्नि से आसक्ति को भस्म कर मंगलमय प्रेम को उद्बुद्ध करता है।

इस विचारक्रम में मैं कालिदास के निरूपण के अनुसार ही विरह को कुछ व्यापक अर्थ में ग्रहण कर रहा हूँ। सामान्यतः काव्यशास्त्र के अनुसार शृंगार के अन्तर्गत विप्रलम्भ में ही विरह को सीमित किया जाता है। मृत्युजनित विच्छेद को शोक का हेतु मानकर उसका विवेचन करण रस के अन्तर्गत किया जाता है। किन्तु कालिदास ने मृत्युजनित विच्छेद को विरह ही कहा है। इन्दुमती की आकस्मिक अकालमृत्यु से मर्माहत अज की उक्ति है।

शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम्।

इति तौ विरहान्तरसमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥⁹

चन्द्रमा को शर्वरी और चकवे को चकवी पुनः प्राप्त हो जाती है अतः वे उनके विरह को सह लेते हैं, किन्तु हे अत्यन्तगता इन्दुमती! तुम तो फिर मुझे नहीं मिलोगी, बताओ फिर विरहाग्नि मुझे भस्म क्यों न कर दे। यह अत्यन्तगता बहुत मार्मिक शब्द है। अत्यन्तगता... जो सदा के लिए चली गयी, जो फिर लौट कर नहीं आयेगी, जिसको पुनः नहीं पाया जा सकेगा। उस अत्यन्तगता के प्रति निवेदित प्रेम क्या मृत्यु के द्वारा खंडित हो जायेगा? भावनिबन्धना रति को क्या मृत्यु नष्ट कर सकती है? क्या प्रेम देह के माध्यम से उद्भूत ही नहीं, देहसीमित भी होता है? क्या प्रेम विदेह नहीं हो सकता? और यदि हो सकता है तो दैहिक मिलन की संभावना मृत्यु के द्वारा खंडित हो जाने पर उस विदेह प्रेम को विरह की अनुभूति क्यों नहीं हो सकती? क्यों उसे केवल शोकानुभूति ही कहना चाहिए? अपने प्राणों को प्रिय के चिर अनजान प्राणों से बांध देने के अनन्तर प्राणों की बढ़ती विरह व्यथा को वाणी देने के विवश प्रयास में सुमित्रानन्दन पन्त ने कहा है-

यह विदेह प्राणों का बन्धन,
अन्तर्ज्वाला से तपता तन,
मुग्ध हृदय सौन्दर्य ज्योति को,
दग्ध कामना करता अर्पण।

नहीं चाहता जो कुछ भी आदान प्राणों से।¹⁰

पन्त जी ने इस कविता में स्वीकारा है कि प्रेम की विदेह सत्ता भी हो सकती है। मैं मानता हूँ कि कालिदास ने अज के विलाप में (और रति के विलाप में भी) जिस विरह को रेखांकित किया है, वह भावनिबन्धना रति की देहातीत विरह व्यंजना है। उसे प्रेम के अन्तर्गत ही मानना चाहिए, निरे शोक के अन्तर्गत नहीं। प्रेमी हृदय को अपने प्रेमपात्र की सत्ता का आभास प्रकृति के विविध रूपों में होता ही रहता है। अज को लगता है कि इन्दुमती उसे बहलाने के लिए कोयल को अपनी बोली, हंसिनी को अपनी चाल, हरिणी को अपनी चितवन और लता को अपनी लचक दे गयी है किन्तु प्रिया को अखंड... समग्र रूप में पाने के इच्छुक हृदय को इनमें उसकी आंशिक झलक पाकर संतोष कैसे हो सकता है, 'विरह तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः'।¹¹ करुण रस के इस प्रसंग में भी विरह की व्याप्ति कर कालिदास ने अपूर्व सहृदयता का प्रमाण दिया है। भावनिबन्धना रति के लिए यदि शरीर आरंभिक साधन मात्र है, उसके परवर्ती अस्तित्व की अनिवार्य शर्त

नहीं तो शरीर का बन्धन टूट जाने पर भी भाव का बन्धन नहीं टूटेगा और अपने प्रेमपात्र के विरह का अनुभव करने का अधिकार प्रेमी का बना रहेगा, यह बात समझ में आने लायक है।

कालिदास ने एक और अद्भुत स्थापना की है। वे विरह को सौन्दर्य और प्रेम दोनों की कसौटी मानते हैं। विरह को प्रेम की कसौटी मानने वाले कालिदास ने बड़े भोले अन्दाज में कहा है:—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-

दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति।¹²

हां, कहते हैं कुछ लोग कि विरह में स्नेह नष्ट हो जाता है, पर मालूम नहीं कैसे कहते हैं। शायद वे ही लोग कहते होंगे जिनकी दृष्टि शरीर-सीमित है। 'आँख से ओझल तो मन से ओझल' ऐसी बात जो कह सकता है वह वास्तविक प्रेमी है, कालिदास ऐसा नहीं मानते थे। वे तो मानते थे कि विरह में प्रेम और बढ़ जाता है। सीधी सी बात है प्रेमपात्र के सुलभ न होने के कारण उस पर जिसको उँड़ेला नहीं जा सकता वह तो संचित हो, होकर राशिभूत हो ही जायेगा। इस तरह कालिदास इस सत्य को रेखांकित करते हैं कि जो प्रेम विरह-काल में भी बढ़ता जाता है, वही सच्चा प्रेम है। अतः यह निर्विवाद है कि विरह ही प्रेम के खरे या खोटे होने की कसौटी है।

इससे एक कदम आगे बढ़कर कालिदास कुछ चौंकाने वाली बात कहते हैं कि विरह ही सौन्दर्य की भी कसौटी है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है, 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'¹³ अर्थात् चारुता का... सौन्दर्य का फल यही है कि वह प्रिय के प्रति सौभाग्य को प्रदीप्त करे। आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बताया है कि सौभाग्य एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। सुभग का वह आन्तरिक वशीकरण धर्म जो प्रेमपात्र को आकृष्ट करने में समर्थ है, सौभाग्य है।¹⁴ वह आन्तरिक वशीकरण धर्म वास्तव में किसी रूपवान या रूपवती में है कि नहीं, इसकी भी कसौटी विरह ही है। इसीलिए कालिदास ने कहा है, 'सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यंजयन्तीम्'¹⁵ अर्थात् हे सुभग, तुम्हारे आन्तरिक वशीकरण धर्म को विरह की अवस्था ही व्यंजित करती है। जिसका प्रिय उसके विरह में उसके सौन्दर्य को स्मरण नहीं करता, उसके सौन्दर्य को अपनी कल्पना से रंजित नहीं करता, अपनी भावना से भावित कर आत्मीय नहीं बना लेता और इस तरह अपने वशीकृत हृदय का प्रमाण नहीं देता कालिदास की दृष्टि में उसका सौन्दर्य वास्तविक सौन्दर्य ही नहीं है। कालिदास की यक्षिणी हो या शकुन्तला, उर्वशी हो या इन्दुमती या कोई और नायिका उसके वास्तविक सौन्दर्य का आस्वादन उसका प्रेमी विरह में उसके रूप के रोमन्थन के द्वारा करता है। कालिदास की दृष्टि के अनुसार यदि प्रेम की शारीरिक प्रक्रिया रम्य है तो उसकी स्मृति रम्यतर है। यथार्थ जगत् में प्रेमकेलि के द्वारा जो कुछ किया वह तो सीमित है लेकिन उसकी कल्पनामिश्रित स्मृति की व्याप्ति तो असीम है। जब हम प्रिया के सौन्दर्य का बार-बार स्मरण करते हैं तो उसमें केवल प्रिया का वस्तुगत सौन्दर्य नहीं आता, उसमें अपनी समस्त कल्पना, भावना के साथ हम आते हैं। रवीन्द्रनाथ ने इस प्रक्रिया को उजागर

करते हुए कहा है—

शुधु विधातार सृष्टि नह तुमि नारी !

पुरुष गड़ेछे तोरे सौन्दर्य संचारि,

आपन अन्तर हते !

पड़ेछे तोमार परे प्रदीप्त वासना,

अर्थेक मानवी तुमि अर्थेक कल्पना ।¹⁶

अर्थात् हे सुन्दरी नारी, तुम केवल विधाता की सृष्टि नहीं हो। पुरुष ने अपने हृदय से सौन्दर्य का संचार कर तुम्हें गढ़ा है। तुम्हारे रूप को आलोकित करती रही है पुरुष की वासना की प्रदीप्त रश्मियाँ! तुम आधी मानवी हो और आधी कल्पना। इस आधी कल्पना को प्रेमी अपनी स्मृति के द्वारा रूपायित करता है। जिस प्रकार पुरुष अपनी कल्पना से अपनी प्रिया को संवारता है, उसी प्रकार नारी भी अपनी कल्पना से रंजित कर अपने प्रिय को अपनाती है। प्रेमी हृदय अपने प्रिय या अपनी प्रिया के सौन्दर्य को सौभाग्य-समलंकृत करके ही स्मरण करता है। विरह में तो प्रिय को पाने का एक ही उपाय है सम्पूर्ण सत्ता से उसका स्मरण। अतः यह विरहावस्था ही स्मरणीय प्रिय के सौन्दर्य की कसौटी बनकर उसको सम्यक् रूप से उरेहने का अवसर प्रदान करती है।

प्रेमी की स्मृति में प्रेमपात्र का जो सौन्दर्य निखरता है, उसका मर्म-मधुर चित्रण कालिदास ने बहुत रस लेकर किया है। जिस प्रकार कालिदास ऐसा चित्रण करते नहीं थकते, उसी प्रकार सहृदय पाठक भी उन जीवन्त भावपूर्ण चित्रों का रसास्वादन करते नहीं थकते। प्रस्तुत है कालिदास के साहित्य से उद्धृत विरहकातर प्रेमियों द्वारा अपने प्रेमपात्रों के कल्पनारंजित, स्मृत्याधारित कुछ मनोहारी चित्र !

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी,

मध्ये क्षामा चकित हरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभिः ।

श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां,

या तत्र स्याद्युवति विषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥¹⁷

संयोग के समय की खिली कमलिनी की शोभा वाली प्रिया की छवि यक्ष के स्मृति पटल में उभरती है, छरहरा तन, छोटे-छोटे दांत, कुंदरू जैसे लाल ओठ, पतली कमर, चकित हरिणी के से नेत्र, गहरी नाभि, बड़े नितम्बों के कारण मन्द-मन्द चाल, कुच भार से नमित कलेवर... अर्थात् ब्रह्मा की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति ! किन्तु अब, अब वह कैसी लग रही होगी ! यदि मैं विरह कातर चकवे के समान छटपटा रहा हूं तो वह भी विरहिणी चकवी के समान अकेली, अल्प भाषिणी, किसी किसी तरह कठिन विरह के दिनों को झेलते-झेलते पाले की मारी कमलिनी के सदृश निष्प्रभ हो गयी होगी क्योंकि वह मेरा दूसरा प्राण ही तो है। रोते-रोते सूजी आंखें, गर्म उसांसों से फीके पड़े ओठ, हाथ पर टिका कपोल, लम्बे बालों से ढंका आधा दिखने वाला उसका मुख... मेघ से अधदंके, धुंधले उदास चन्द्रमा जैसा लगता होगा। वह मलिन वसना मन बहलाने के लिए जब लगातार बहते आंसुओं से भीगी वीणा को पोंछ कर गोद में लेकर उसे बजा कर मेरे नाम का गीत गाने

का प्रयास करती होगी तब मेरी स्मृति की कौंध के कारण उसके सधे हुए स्वर्णों का आरोह-अवरोह असंतुलित हो जाता होगा। दिन तो फिर भी किसी तरह कट जाता होगा लेकिन रात...। दिन में उसे कभी अकेली न छोड़ने वाली उसकी प्यारी सखियां भी जब रात में सो जाती होंगी तब भी वह धरती पर एक करवट पड़ी जागती होगी, हार के दूरे मोतियों के समान उसके आसपास बिखरे होंगे आंसू और वह बड़े हुए नखों वाले हाथ से अपनी इकहरी वेणी के रुखे, उलझे बालों को अपने गालों पर से बार-बार हटाती होगी। दीवाल की जालियों से छनकर आने वाली चन्द्र किरणों को पूर्व अनुभवों के अनुरूप अमृत शीतल समझ कर अपना मुख उनकी ओर वह ज्यों ही करती होगी त्यों ही उनकी दाहकता से झूलस जाने के कारण अपनी आंसू भरी आंखों को पलकों से ढंक लेती होगी मानो वह मेघ घिरे दिन की स्थल कमलिनी हो जो न खिल सकती हो, न मुंद सकती हो ! और भी कितनी कितनी कल्पनाएं करता है अपनी प्रिया की विरह कातरा स्थिति के बारे में यक्ष का प्रेमी हृदय ! उसे लगता है कि वह अपने मन को टटोल-टटोल कर अपनी प्रिया के मन की बात को जान सकता है... दोनों का मन एक ही जो हो गया है। तभी तो प्रेमी कहता है, 'अपने मन से जान लो मेरे मन की बात !' इसी विश्वास की कलात्मक अभिव्यंजना कालिदास ने उत्तर मेघ के अनेकानेक छन्दों में की है।

विलक्षण है विरही यक्ष का प्रिया के नाम संदेश ! पहले प्रिया को आश्वस्त करने के लिए वह अपनी कुशल कहकर प्रिया की कुशलता जानना चाहता है। कैसी कुशल है भला यह ! बैरी ब्रह्मा रोके हुआ है मिलन का मार्ग, अतः अभी मिलना तो संभव नहीं, किन्तु अपनी अंगकृशता से तुम्हारी अंगकृशता का, अपने प्रगाढ़ विरह ताप से तुम्हारे तदनुरूप विरह ताप का, अपने निरन्तर अश्रु प्रवाह से तुम्हारे अश्रु प्रवाह का, अपनी मिलनोत्कंठा से तुम्हारी उत्कंठा का, अपनी जलती हुई लम्बी-लम्बी सांसों से तुम्हारी उसांसों का ठीक-ठीक अनुमान तो कर ही रहा हूं। यह भी मत समझना कि तुम दूर हो तो मुझे तुम्हारा आभास नहीं होता। नहीं, नहीं, आभास तो होता रहता है। प्रियंगुलता में तुम्हारे अंगों का, चकित हरिणी की आंखों में तुम्हारी चितवन का, चन्द्रमा में तुम्हारे मुख का, मयूरपिच्छ में तुम्हारी केश राशि का, नदी की लघु लोल लहरियों में तुम्हारे भ्रूविलास का आभास तो होता रहता है, किन्तु समग्रता में तो कोई भी तुम्हारे सदृश नहीं है। कितना मर्मस्पर्शी छन्द है—

श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं,

वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्,

हनैकस्मिन्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥¹⁸

प्रकृति के विविध उपकरण प्रिया के अंगों की झलकें भले दे लें किन्तु अपनी समग्रता में तो वह अद्वितीय ही है, कालिदास को इसका पक्का विश्वास था। उनके द्वारा चित्रित विरही प्रेमी बार-बार इस सत्य को दुहराते हैं। इन्दुमती के शोक में अज की उक्ति है :-

कलमन्यभूतासु भाषितं, कलहंसीषु मदालसं गतम्।

पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥¹⁹

अर्थात् हे इन्दुमती ! तुम्हारी मीठी बोली कोयलों को, तुम्हारी मन्द-मन्द चाल कल हंसिनियों को, तुम्हारी चंचल चितवन हरिणियों को और तुम्हारा प्रीति द्योतक हाव-भाव वायुदोलित लताओं को प्राप्त हो गया। इसी तरह पुरुषा को भ्रम हुआ था कि कहीं उसकी क्रोध शीला प्रिया ही तो नदी नहीं बन गयी है क्योंकि इसकी लहरें उसकी चढ़ी हुई भौहों के समान, व्याकुल पक्षियों की पंक्ति उसकी करधनी के समान और इसकी फेन उसकी ढीली पड़ी, खींची जाती हुई साड़ी के समान लग रही हैं।²⁰

यक्ष को लगता है कि प्रिया के विरह में भी मैं सकुशल हूँ, यह सुनकर तो प्रिया को अच्छा नहीं लगा होगा, उसे क्रोध ही आया होगा और वह रुठ गयी होगी तो अपनी पीड़ा का निवेदन करते हुए कहता है कि जब मैं प्रस्तर शिला पर गेरू से तुम्हारी प्रणय कुपिता... रुठी हुई छवि को अंकित कर तुम्हें मनाने के लिए अपने को तुम्हारे चरणों में गिरा हुआ चित्रित करना चाहता हूँ तभी आंसू इस प्रकार उमड़ते हैं कि कुछ देख ही नहीं पाता। देखो, क्रूर काल को चित्र में भी हमारा मिलना नहीं सुहाता।

जब कल्पित अपराध से रुठी हुई प्रिया की भावना इतना विगलित कर देती है तब वास्तविक अपराध की स्मृति हृदय को कितना पीड़ित कर सकती है। इसका निरूपण कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में बहुत विदग्धतापूर्वक किया है। अपराध बोध की ज्वाला से दग्ध हो रहा दुष्यन्त अतीत के मर्मबेधी क्षणों को स्मरण के माध्यम से पुनः जीने की प्रक्रिया में कह उठता है, जब मैंने शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर दिया था और महर्षि कण्व के शिष्यों ने उसे डाँटकर यहीं रहने को कहा था तब उसने आँखों में आंसू भर कर जिस दृष्टि से मुझ क्रूर को देखा था, वह दृष्टि विषाक्त शल्य की तरह मुझे दग्ध कर रही है—

पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रसर कलुषामर्पितवती

मयि क्रूरे यत्रत्सविषमिव शल्यं दहति माम्।²¹

उसने मुझे अपना विश्वास दिया था। मैंने उसके विश्वास को खंडित किया। विश्वास खंडन के चरम क्षणों में जिस दृष्टि से उसने मुझे देखा था, उसमें जो वेदना थी, आक्रोश की जो ज्वाला थी वह मेरे हृदय को अब जला रही है। हाय, मैंने क्यों नहीं उस समय उसको पहचाना। प्रमाद का यह शल्य रह रहकर उसके हृदय में चुभता ही रहता है। यह आन्तरिक पश्चात्ताप उसको इस योग्य बनाता है, वह पात्रता देता है कि वह शकुन्तला को पुनः प्राप्त कर सके और शकुन्तला के सौन्दर्य को, उसके समर्पण को सच्चा मान दे सके।

इसी मनःस्थिति में वह शकुन्तला का चित्र बनाता है। चित्र बनाने समय सात्त्विक भाव स्वेद के कारण उसकी उँगलियाँ पसीज जाती हैं जिससे चित्र कोरों पर उसकी उँगलियों के काले धब्बे पड़ जाते हैं। भवावेश के कारण उसकी आँखों से आंसू चित्रित शकुन्तला के गाल पर टपक पड़ते हैं। सानुमती और विदूषक को जो चित्र बिल्कुल जीवन्त

लगता है, दुष्यन्त की भावभरी आँखों में वह अधूरा है, क्योंकि परिवेश को मूर्त करने वाली बहुत सी बातें अभी तक उठेही नहीं गयी हैं। शकुन्तला चित्र में भी सजीव तभी लगेगी जब उसकी पूरी पृष्ठभूमि उभरेगी। दुष्यन्त को लगता है इसके लिए तो मालिनी नदी अंकित करनी होगी जिसके रेतीले तट पर हंस के जोड़े हों, दोनों ओर हिमालय की तलहटी में हरिण बैठे हों, एक ऐसा पेड़ हो जिस पर बलकल टंगे हों और जिसके नीचे एक हरिणी अपनी बाईं आँख कृष्ण मृग के सींग से रगड़ कर खुजला रही हो—

कार्या सैकतलीन हंस मिथुना द्योतोवहा मालिनी,

पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।

शाखालम्बितबलकलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः

शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥²²

इसमें कृष्ण मृग के सींग से हरिणी का अपनी बाईं आँख खुजलाना अत्यंत मार्मिक है। दुष्यन्त संकेतित करना चाहता है कि जिस तपोवन में इतने घने विश्वास का वातावरण था कि सामान्य हरिणी तक को यह पक्का बोध था कि जब मैं अपनी आँख अपने प्रिय के सींग से लगा दूंगी और खुजली मिटाने लगूंगी, उसका सींग हिले-डुलेगा नहीं, मेरी आँख घायल नहीं होगी। उस चरम विश्वास की भूमि पर मैंने शकुन्तला के साथ प्रवंचना की, धिक्कार है मुझे ! विरह की पीड़ा के साथ-साथ अपराध बोध की जो मर्मन्तुद वेदना दुष्यन्त को झूलसाती है, वही उसके काम को दग्ध कर प्रेम में रूपान्तरित करती है। राज सुलभ विलास भाव भस्म हो जाता है पश्चात्ताप की उस आग में और तप्त कांचन की तरह शकुन्तला के प्रति उसका सच्चा अनुराग निखर उठता है।

विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी के वियोग में पुरुषा का जो विलाप है, उन्मत्त विलाप, वास्तव में वही विक्रमोर्वशीयम् को उच्चकोटि के नाटक का गौरव प्रदान करता है। उस विलाप के माध्यम से कालिदास मानव हृदय को प्रकृति के साथ एक करते हैं। उन्होंने बार-बार निर्दिष्ट किया है कि प्रकृति जड़ नहीं चेतन है। शकुन्तला पति गृह जाने लगती है तो तपोवन की सारी प्रकृति उसको आशीर्वाद देती है, उसको अनेकानेक उपहार देती है और उसके आसन्न विरह के बोध से कातर होकर आंसू बहाती है। उसी चेतन प्रकृति से पुरुषा बार-बार अपनी प्रिया उर्वशी का पता पूछता है। हां, कालिदास को भी ज्ञात है कि बहुत से ऐसे पंडित हैं, जो प्रकृति को चेतन नहीं मानते। उन्हीं को सन्तुष्ट करने के लिए उन्होंने 'मेघदूत' में लिख दिया है :-

कामार्त्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु²³ अर्थात् कामार्त्त कहां भेदकर पाते हैं चेतन और अचेतन में। मेघ होगा स्थूल लौकिक दृष्टि से धूम, ज्योति, सलिल और मरुत का सम्पुञ्ज किन्तु प्रेमी उसमें अपनी चेतना का आरोप कर उसे चेतनवत् मानकर उसके द्वारा अपनी प्रिया को सन्देश भेज ही सकता है। यह रम्य कवि कल्पना आज भी सहृदय मन को मोहती है। कठिन बौद्धिकों को तब भी यह बचकानी लगती होगी, आज भी लग सकती है।

किन्तु पुरुषा तो यक्ष को भी पार कर जाता है। अपनी प्रखर विरह-आर्त्ति

में वह एक-एक तरु से, लता से, कोयल से, हंस से, गजराज से, निर्झर से, नदी से अपनी प्रिया के बारे में पूछता फिरता है। जरूर उन्होंने वाल्मीकि रामायण का आधार लिया होगा। बाद में तुलसी के राम भी लता, तरु-पांती से, खग, मृग मधुकर श्रेणी से मृगनयनी सीता का सन्धान पूछते चित्रित किये गये हैं। भारतीय चित सहज ही स्वीकार कर लेता है इस मनःस्थिति की कारुणिकता को और एक दृष्टि से इसकी संगति को भी। यदि हम एक ही चेतना को विश्व ब्रह्माण्ड में प्रसारित मानते हैं, तो फिर ये तरुलता, खग-मृग क्यों नहीं व्याकुल प्रेमी हृदय की पीड़ा के प्रति सहानुभूति सम्पन्न हो सकते, बोल न पाने की विवशता दूसरी बात है।

आह, कैसी आशुकोपी थी पुरुवा की प्रिया उर्वशी। आखिर क्या अपराध था पुरुवा का? यही कि उसने विद्याधर कन्या उदयवती को एक नजर देख लिया था। 'नजर आखिर नजर है, बेइरादा उठ गयी होगी'! पर मानिनी उर्वशी को यह असह्य था। राजा के अनुनय-विनय को ठुकरा कर क्रोधवश कार्तिकेय के विधान का उल्लंघन कर वह कुमारवन में प्रविष्ट हुई और शापवश लता बन गयी। अपने अपराध का इतना कठोर दंड पाकर पुरुवा उद्भ्रान्त हो गया। कालिदास ने नेपथ्य गीतों के माध्यम से पुरुवा की मनःस्थितियों को संकेतित करने की अपूर्व कुशलता दिखायी है। प्रिया विरह की यंत्रणा से उन्माद ग्रस्त गजराज की भांति पुरुवा चतुर्थ अंक में मंच पर आता है। उसका सारा व्यवहार उन्मत्तवत् है। उसकी हृदयद्रावी विरह पीड़ा अपनी प्रिया का साहचर्य पुनः प्राप्त करने की आतुरता में समझ ही नहीं पाती है कि वह प्रिया का पता किससे पूछे और किससे न पूछे। कभी काले बादलों में चमकती बिजली और उससे बरसती वारिधारा को देखकर उसे भ्रम होता है कि कोई राक्षस बाण बरसाते हुए उसकी प्रिया को हर कर ले जा रहा है और कभी कन्दली के जल भरे लाल-लाल फूल उसे अपनी प्रिया के क्रोधारुण, अश्रुसिक्त नेत्रों का स्मरण करा देते हैं। कालिदास ने इस पूरे विरह प्रकरण के द्वारा पुरुष हृदय के आवेगपूर्ण, आकुल-व्याकुल, उफनते हुए उन्मत्तित प्रेम को अंकित किया है।

पुरुवा के विरह में यदि भादों की पगलायी नदी का हर-हराता प्रखर प्रवेग है तो अज के विरह में लोहे को पिघला देने वाले घनीभूत ताप का अन्तर्दाह। नारद जी की वीणा से खिसक कर गिरी माला के आघात से जब इन्दुमती की मृत्यु हो गयी तब अपनी सहज धीरता का त्याग कर अज क्रन्दन कर उठे। न केवल अज का विलाप, उसका परवर्त्ती आचरण भी इन्दुमती के प्रति उसकी 'भावनिबन्धना रति' का मार्मिक प्रमाण है। उसे लगता है कि यह माला ऐसी क्रूर बिजली की तरह गिरी जिसने तरु को तो तिलतिल कर दहने के लिए अछूता छोड़ दिया, किन्तु उससे लिपटी हुई लता को जला दिया। निर्जीव इन्दुमती की फूलों से गुंथी, भौरों के समान काली लटें जब वायु वेग से हिल उठती थीं तो अज को लगता था कि शायद वह जी उठे किन्तु वह अप्रतिबोधशायिनी प्रिया तो सदा के लिए जा चुकी थी। जो कभी न लौटने वाली हो, वही तो अत्यन्तगता कहलाती है। हां, वह अपने बहुत से गुण यहां

की प्रकृति को दान कर गयी है किन्तु समग्र की विरह व्यथा क्या अंशों के सहारे झेली जा सकती है! अज को ठीक ही लगता है कि केवल वही नहीं और भी बहुतेरे इन्दुमती के इस अप्रत्याशित भाव से चले जाने से तिलमिला उठे हैं। वह उलाहना देता हुआ सा कह उठता है, प्रिये इन्दुमती! तुम्हीं ने तो इस आम्र वृक्ष के साथ उस प्रियंगुलता के विवाह का संकल्प किया था, वे अब भी प्रतीक्षारत हैं। तुम्हारे कोमल पदाघात से फूल उठने वाला अशोक वृक्ष सशोक होकर रो रहा है, यह अधगुंथी मौलसिरी की माला पूरी होना चाहती है, तुम्हारे सुख-दुःख की सहचरी सखियां, प्रतिपदा के चन्द्रमा के सदृशवर्धनशील तुम्हारा यह पुत्र और मैं तुम्हारा एकनिष्ठ प्रेमी हम सब तुम्हारे इस निष्ठुर प्रयाण से मर्माहत हैं। पर मृत्यु भी कभी किसी का अनुनय-विनय सुनती है। अज कह उठता है, इस निष्करण मृत्यु ने इन्दुमती के बहाने मेरा सब कुछ हर लिया क्योंकि वही तो मेरी गृहिणी थी, सचिव थी, ऐकान्तिक सखी थी, ललित कलाओं में मेरी प्रिय शिष्या थी! उसके चले जाने से मेरा धैर्य छूट गया, प्रीति चुक गयी, गान वाद्य निरस्त हो गये, क्रतुएं उत्सवहीन हो गयी, आभरण निष्प्रयोजन हो गये, शैया सूनी हो गयी! प्रिय को ही सर्वस्व मानने वाले प्रामाणिक प्रेम की विरहानुभूति को झलकाने वाले ये श्लोक आज भी विरह की कसौटी बने हुए हैं—

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।

गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीवमद्य मे॥

गृहिणी, सचिवः, सखी मिथः, प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥²⁴

स्वाभाविक ही था कि अज के विलाप से द्रवित होकर आसपास के वृक्ष भी अपनी शाखाओं से रस स्राव कर रोने लगे। कालिदास के साहित्य में प्रकृति सर्वत्र मानव की संवेदनशील सहचरी के रूप में ही अंकित हुई है। इन्दुमती का क्रियाकर्म कर जब अज नगर में प्रविष्ट हुए तो प्रातःकालीन निष्प्रभ चन्द्रमा के समान उनके वियोग विधुर मुख को देखकर पौरवधुओं के नेत्रों से आँसुओं का प्रवाह फूट पड़ा।

गुरु वशिष्ठ के सान्त्वनादायी ज्ञान सन्देश के समक्ष अज नतमस्तक तो रहे किन्तु उसको पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाये। कालिदास ने लिखा है कि इस उपदेश को वहन करने वाले वशिष्ठ जी के शिष्य को अज ने इस प्रकार विदा किया मानो अपने शोकपूर्ण हृदय में स्थानाभाव के कारण उस उपदेश को ही लौटा दिया। पर उनका विशुद्ध प्रेम उनके कर्त्तव्य में बाधक नहीं बना। आठ वर्षों तक वे अपने किशोर पुत्र दशरथ के युवा होने की प्रतीक्षा करते रहे, उसको राजधर्म की शिक्षा देते रहे। प्रिया के विरह शोक की बर्छी से बिद्ध हृदय लिये ये आठ वर्ष उन्होंने व्यक्तिगत जीवन में काटे प्रिया इन्दुमती का चित्र देख देखकर, स्वप्नों में उसका क्षणिक समागम लाभकर! तदनन्तर पुत्र को सिंहासन पर बैठाकर अनशन कर परलोक में प्रिया से मिलने की कामना लिये अज ने शरीर त्याग दिया। प्रेम और कर्त्तव्य दोनों के निर्वाह का ऐसा मर्मस्पर्शी उदाहरण विश्व साहित्य में विरल है।

नारी हृदय की विरह-वेदना भी कालिदास ने बहुत सजग, बहुत संवेदनशील लेखनी से अंकित की है। वैसे तो नर और नारी दोनों के हृदयों में प्रेम का प्रस्फुटन बहुत सी बातों में समान ही होता है फिर भी दोनों में शीलगत कुछ अन्तर होता ही है। कालिदास ने पुरुष की तुलना में नारी का प्रेम अधिक मर्यादित और निष्ठायुक्त चित्रित किया है। तदनु रूप उसके विरह वर्णन में भी अधिक गंभीरता दृष्टिगोचर होती है। कालिदास ने दुष्यन्त, पुरुवा के विरह वर्णन में उन्हें अपने अपराध के प्रति पश्चात्ताप परायण भी अंकित किया है। यह निष्ठा हीनता जन्य अपराध बोध कालिदास के किसी नारी पात्र के विरह वर्णन में नहीं है। हां, अपने सौन्दर्य के प्रति अभिमान का तथा प्रेमगर्विता की भूमिका में पति पर किये गये प्रणय शासन का अपराध बोध जरूर उनकी विरहकातर उक्तियों को और मर्मस्पर्शिता प्रदान करता है।

पार्वती को अपने सौन्दर्य-सामर्थ्य का उचित गौरव बोध था। जब उन्होंने देखा कि उनका सौन्दर्य कामदेव के पूरे सहयोग के बावजूद शिवजी के हृदय पर बहुत हल्का प्रभाव ही डाल सका और उससे क्षुब्ध हुए शिवजी ने कामदेव को भस्म ही कर दिया, तब उन्होंने अपने सौन्दर्य को धिक्कारा और यह स्वीकार कर लिया कि महादेव का प्रेम केवल सौन्दर्य के बल पर नहीं पाया जा सकता... वह वस्तुतः 'अरूपहार्य' है। सच तो यह है कि उन्हें भी इस दुर्घटना के बाद ही प्रेम के और गहरे पक्ष का अनुभव हुआ। कालिदास के अनुसार शिवजी के ऊपर चलाया गया कामदेव का बाण उनकी हुंकार से डर कर लौटा और कामदेव के भस्म हो जाने के बावजूद वह पार्वती के हृदय को क्षत-विक्षत कर गया। उससे धधकी विरह ज्वाला को शमित करने में ललाट एवं मस्तक पर चन्दन का प्रगाढ़ प्रलेप एवं तुषाराच्छादित शिला पर शयन भी असमर्थ सिद्ध हुए। अपने रूंधे हुए गले से जब पार्वती शिव चरित्र के गीत गाने लगती तब उस करुण स्वरलहरी को सुनकर वनवासिनी किन्नर राजकन्याएं रो पड़ती थीं। शिव के ध्यान में डूबी पार्वती सपने भी शिवजी के ही देखा करती। मुश्किल से एक क्षण के लिए आंख लगने पर स्वप्न में साथ छोड़कर जाते हुए शिवजी को देखकर पार्वती चौंककर उठती और कहाँ जा रहे हो नीलकंठ! कहकर उनके कंठ में अपनी बाहुएं डालकर उन्हें रोकने का प्रयास करती। अपने ही बनाये हुए शंकर के चित्र को वास्तविक मानकर उन्हें उपालंभ देने लगती कि विद्वज्जन तो तुम्हें सर्वगत सर्वज्ञ कहते हैं तब फिर कैसे तुम अपने प्रेम में डूबी इस जन की पीड़ा को नहीं जान पाते! अद्भुत हैं ये दोनों श्लोक :-

त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठं व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पित बाहुबन्धना ॥
यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥²⁵

इसी प्रखर विरह वेदना ने पार्वती को प्रेरणा दी कि जिसे रूप से नहीं रिझाया जा सका उसे सर्व-समर्पण-परक तपस्या से प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। पार्वती की कठिन तपस्या और उसकी सहज

एकनिष्ठा के समक्ष शिवजी को भी झुकना पड़ा। पार्वती का प्रेम सार्थक हुआ। उसे महादेव के सदृश पति मिला और उनका लोकोत्तर दिव्य प्रेम भी।

शिवजी के क्रोधानल से कामदेव को भस्म होता देखकर रति मूर्छित हो गयी थी। जब वह सचेत हुई तब तक महादेव अन्तर्धान हो चुके थे और पार्वती को उसके पिता हिमालय ले जा चुके थे। सद्यः विधवा हुई रति अपने पति त्रिभुवन जयी पति, कमनीय कलेवर कामदेव के स्थान पर पुरुषाकृति राख की ढेर देखकर विह्वल हो धरती पर लोटने लगी, उसके बाल बिखर गये, उसका कातर क्रन्दन सुनकर मानो वनभूमि भी रोने लगी। उसे लगा कि उसका हृदय अत्यन्त कठोर है, प्रियतम की यह स्थिति देखकर भी अभी तक वह विदीर्ण नहीं हुआ। वह कामदेव को सम्बोधित करते हुए कहने लगी कि मैंने तो तुम्हें अपने प्राण सौंप दिये थे, फिर तुम सेतुबन्ध को तोड़कर जलं प्रवाह जिस तरह कमलिनी को पीछे छोड़कर त्वरित बह जाता है, उसी तरह मुझे छोड़कर कहाँ चले गये। तुम तो कहा करते थे कि मैं तुम्हारे हृदय में बसती हूँ, लगता है वह केवल छल था, उपचार मात्र था। नहीं तो बताओ तुम तो जलकर अंगहीन... अनंग हो गये और मैं अभागिन ज्यों की त्यों रह गयी। यदि मैं सचमुच तुम्हारे हृदय में बसी होती तो तुम्हारे साथ जलकर मुझे भी राख हो जाना चाहिए था। बड़ी पीड़ा से भरी उक्ति है यह, जो प्रियतम के कथन की लाक्षणिकता को अभिधा में बदल देना चाहती है—

हृदये वससीति मत्प्रियं, यद्वोचस्तद्वैमि कैतवम् ।

उपचारपदं न चेदिदं, त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥²⁶

स्मृति हमारे हृदय में छिपे हुए भावों को कैसे उजागर करती है, इसका एक अत्यन्त प्रभविष्णु उदाहरण प्रस्तुत किया है कालिदास ने रति के एक कथन के द्वारा! जिसके प्रति किसी का सहज प्रेम होता है, वह दूसरे काम करता हुआ भी बीच-बीच में अनायास ही उसे देख लेता है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया बिना कुछ कहे हृदय के प्रेम को व्यक्त कर देती है। रति को याद आता है कि कामदेव जब गोद में धनुष रखकर बसन्त से हंस-हंसकर बातें करता रहता था, अपने बाण सीधे करता रहता था तब बीच-बीच में नयनों की कोरों से मुझे देख भी लिया करता था—

क्रजुतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिषण्णधन्वनः ।

मधुना सह सस्मितां कथां नयनोपान्तविलोकितं च तत् ॥²⁷

तुलसी ने वन गमन के समय राम-सीता के प्रेम की एक ऐसी ही झलक दी है। ग्राम वधुएँ लक्ष्य करती हैं कि वनमार्ग में जाते समय राम स्वाभाविक रूप से बार-बार सीता की ओर देख लेते हैं। वे राम के इस सहज स्नेहपूर्ण आचरण पर मुग्ध होती हैं और जानते हुए भी कि उनसे सीता का क्या सम्बन्ध है इस सृष्टि के लिए पूछ ही तो लेती हैं :-

सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं ।

पूछत ग्रामबधू सिय सों, कहो सांवरे से सखि रावरे को हैं ?²⁸

यह तो सहज प्रेम का अनजाना, प्रयास-निरपेक्ष व्यवहार है, जब-तब अन्य कार्यों के बीच भी प्रिय को स्वाभाविक रूप से देख लेना एवं उसके माध्यम से उस तक अपना प्रेम पहुंचा देना! इसकी मधुरता को प्रेमी हृदय भलीभांति जानते हैं। इसीलिए रति ने अपने प्रिय के इस व्यवहार को याद रखा है। उस प्राणशोषी विरह में भी अपने प्रति कामदेव के सच्चे प्रेम को व्यक्त करने के लिए वह इस मधुर प्रक्रिया का उल्लेख करती है।

अपने प्रियतम के सखा वसन्त का स्मरण आते ही रति को इस कठिन समय में उसकी अनुपस्थिति खलती है और वह व्याकुल होकर कह उठती है, कहीं वसन्त भी तो महादेव की क्रोधाग्नि से भस्म नहीं हो गया। यह सुनते ही वसन्त उसे आश्वासन देने के लिए वहां उपस्थित होता है। उसे देखते ही रति का शोक और भड़क उठता है। वह छाती पीट-पीटकर, फूट-फूटकर, फफक-फफक कर रोने लगती है। कालिदास की सटीक टिप्पणी है, दुःख में अपने स्वजन को देखते ही दुःख उसी प्रकार वेग से निकलने लगता है मानो देर से रुकी हुई जलराशि को बाहर निकलने के लिए खुला द्वार मिल गया हो—

तमवेक्ष्य सरोद सा भृशं स्तनसम्बाधमुरो जघान च।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥²⁹

इस मनोवैज्ञानिक उक्ति की सत्यता स्वतः प्रमाणित है। आहत हृदय जब अपने किसी सच्चे स्वजन का सान्निध्य पाता है तो अपनी पीड़ा उसके साथ बांट लेना चाहता है।

क्या कालिदास ने भी अपनी विरह वेदना अपने श्रोताओं-पाठकों के साथ बांट लेनी चाही थी? कौन जाने! पर यह तो निर्विवाद है ही कि कालिदास ने विरह वेदना के मार्मिक अनुभवों की जो कलादीप्त, समर्थ व्यंजना की है, वह सम्पूर्ण मानव जाति की अमूल्यनिधि है। मिलनजन्य सुख कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि दूसरे को ईर्ष्यान्वित करे किन्तु विरहजन्य दुःख? वह यदि सच्चा है और उसे यदि सही ढंग से व्यक्त किया गया है तो कभी ऐसा नहीं होता कि दूसरे के हृदय को उर्वर न कर दे। महादेवी वर्मा ने ठीक ही लिखा है—

दुख के पद छू बहते झर-झर,
कण-कण से आंसू के निर्झर,
हो उठता जीवन मृदु, उर्वर,
लघु मानस में वह असीम जग को आमंत्रित कर लाता।³⁰

कालिदास ने अपने लघु मानस में असीम जग को आमंत्रित किया है कि हम सब उनकी अनुभूत विरह वेदना से गुजर कर अपनी सौन्दर्य चेतना को, अपनी प्रेम-चेतना को पवित्र करें, उन्हें तप के द्वारा शुद्ध करें और वास्तविक प्रेमी होने की साधना में प्रवृत्त हों।

सन्दर्भ - निर्देश

- 1 नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएं खंड-2 पृ. 25
- 2 रघुवंशम् 8/52
- 3 वही 1/8
- 4 मेघदूतम् पूर्वमेघः 27
- 5 कुमारसंभवम् 5/2
- 6 वही 5/53
- 7 महादेवी साहित्य खंड-3 पृ. 464
- 8 कुमारसंभवम् 5/86
- 9 रघुवंशम् 8/56
- 10 आधुनिक कवि (2) सुमित्रानन्द पन्त, कवि की हस्तलिपि
- 11 रघुवंशम् 8/60
- 12 मेघदूतम् उत्तर मेघः 55
- 13 कुमारसंभवम् 5/1
- 14 कालिदास की लालित्य योजना पृ. 69
- 15 मेघदूतम् पूर्व मेघः 31
- 16 संचयिता-मानसी पृ. 285
- 17 मेघदूतम् उत्तर मेघः 22
- 18 वही 46
- 19 रघुवंशम् 8/59
- 20 विक्रमोर्वशीयम् 4/52
- 21 अभिज्ञानशाकुन्तलम् 6/9
- 22 वही 6/17
- 23 मेघदूतम् पूर्व मेघः 5
- 24 रघुवंशम् 8/66-67
- 25 कुमारसंभवम् 5/57-58
- 26 वही 4/9
- 27 वही 4/23
- 28 कवितावली 2/21
- 29 कुमारसंभवम् 4/26
- 30 आधुनिक कवि (1) महादेवी वर्मा गीत 17

हिन्दी पत्रकारिता : विरासत की रोशनी और साम्प्रतिक दशा

विज्ञप्त तथ्य है कि जातीय अभीप्सा की गतिमान ऊष्मा ने पत्रकारिता के चरित्र को प्राण-पुष्ट बनाया। विरासत की उज्ज्वल साधना याद आती है कि साम्राज्यशाहीतोप के प्रतिरोध में क्रियाशील और जयी भारतीय पत्रकारिता ने अपने समय की चुनौती का पूरी शक्तिमत्ता से मुकाबला किया था। आदि पर्व के पत्रकारों की साधना का एकांत लक्ष्य था साम्राज्यशाही अभिशाप से मुक्ति। इसके लिए बड़ी से बड़ी यातना झेलने को वे प्रस्तुत रहते थे। और जब-तब विकट आतंक रचने वाली परिस्थिति तथा बड़े से बड़े प्रलोभन उन्हें आदर्शच्युत करने में विफल रहे। मांडले जेल की यातना झेलने वाले तिलक और अपनी गृहस्थी को जीवित रखने के लिए स्तरहीन परिस्थिति से आहत होने वाले पं० अमृतलाल चक्रवर्ती की आस्था-निष्ठा शेष तक अक्षत रही। लोकमान्य तिलक के पूर्ववर्ती, उनके समकालीन समानधर्मा और उनकी आदर्श-सरणि से यात्रा करने वाली परवर्ती पत्रकार-पीढ़ी ने निजी स्वार्थ को ताक पर रखकर अपनी प्रातिभ शक्ति और जीवन-चर्चा को देश के मुक्ति-संग्राम में नियोजित कर दिया था। पत्रकारिता की अतीत पीढ़ी के कृती पुरुषों को यह बोध था कि पत्रकार की भूमिका लोकनायक की भूमिका होती है। इसी विवेक और गुरुतर भूमिका से समृद्ध है पत्रकारिता की विरासत।

आजादी के बाद के जातीय परिदृश्य को देखकर सहज ही धारणा बनती है कि साधना-संघर्ष का काल शेष हो गया और हर क्षेत्र में क्रियाशील भोग की उद्धत लीला ही आज की संस्कृति है। मूल्य-निष्ठा और अनुशासन-आग्रह को अप्रासंगिक पुरा राग मानकर अपना भाग्य जगाने के लिए उसके विपरीत पथ से यात्रा करना आज का चालू कौशल है, जिसकी सिद्धि ही सिद्ध होने का प्रमाण समझी जा रही है। अनुशासनहीनता का अंधड़ और विलासप्रियता की सनकी स्पर्द्धा दिन-दिन समृद्ध होती जा रही है। पत्रकारिता के चेहरे-चरित्र में आजादी के बाद के पिछले दशकों में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। पूंजी का वर्चस्व पुष्ट हुआ है। साधना-सुविधा में अभूतपूर्व समृद्धि आई है। अपने पद की गुस्ता-महत्ता से उदासीन आज का पत्रकार 'देश के दुर्भाग्य को अपना दुर्भाग्य' मानने और अपनी विरासत के उज्ज्वल अध्याय को अपना आदर्श बनाने को तैयार नहीं है। समाज के दूसरे वर्ग के लोगों की तरह वह निजी समृद्धि और विलास - वैभव में जीने की आकुल स्पृहा से आन्दोलित होकर रंगीन राहों - घाटों पर दौड़ता नजर आ रहा है। पत्रकारिता की विकसित सुविधाओं और अनुकूल साधनों का विधायक दिशा में यदि नियोजन नहीं हो रहा है और पीड़क यथार्थ है कि समाज-संस्कार की सजातीय और विशिष्ट भूमिका से साम्प्रतिक पत्रकारिता काफी हद तक विरत हो चुकी है, तो यह धारणा पुष्ट होती है कि पत्रकार के व्यक्तित्व में खलन आया है और पत्रकारिता का धवल धरातल बड़ी तेजी से प्रदूषित हो रहा है। वर्तमान ढाही के लक्षणों को लक्ष्य कर मूल्य-भित्तिक पत्रकारिता के पुराने पुरस्कर्ता आसन्न अंधकार के प्रति चिंतित थे। बाबूराव विष्णु पराड़कर, गणेश शंकर विद्यार्थी और शिवपूजन सहाय ने पत्रकार-कुल की धवलता का बार-बार तीव्र आग्रह प्रकट किया था। मगर पूंजी के प्रताप ने पत्रकारिता की मूल्य - मर्यादा को बुरी तरह क्षत कर दिया। व्यवसायवाद ही एकमात्र आदर्श बन गया। खलन को नये मुहावरों से महिमामन्वित करते गर्वपूर्वक कहा जाने लगा है कि पत्रकारिता आज व्यवसाय है, आदर्श का सवाल उठाना अप्रासंगिक राग टेरना है। आत्मरलाधा के साथ ऐसी घोषणा करने वाले निरापद जिन्दगी के कायल, आज के सुविधाजीवी लोग यह भूल जाते हैं कि हर व्यवसाय की स्वतंत्र प्रकृति और आचार-संहिता होती है। अन्य व्यवसायों से भिन्न प्रकृति होती है पत्रकारिता की। इस भिन्नता में ही उसकी विशिष्टता और महत्ता है। मगर समाज के अर्थ-सम्पन्न लोगों की तरह उपभोक्ता संस्कृति को ही अपने विलासोन्मुख आचरण द्वारा अपना धर्म मानने वाले आज के पत्रकार वृत्ति-विशिष्टता के बोध और उससे जुड़े गुरुतर दायित्व से उदासीन हो गये हैं। परिणामतः व्यावसायिक, राजनीतिक प्रलोभनों की रंगीन माया में भटकना और अपनी विपथगामी यात्रा से अपने कुलगोत्र के प्रति अन्यथा धारणा को जन्म देना उनकी लाचारी बन गयी है।

चिन्ताशील जगत् को यह स्थिति उन्मथित करती रहती है कि जो भाषा सामाजिक-राजनीतिक कुकर्म पर बेलग टिप्पणी करती थी, पत्रकार

की जो भूमिका मूल्यों के संरक्षण का आश्वासन जगाती थी, वह आज के राजनीतिकों के आचरण की तरह संदिग्ध हो गयी है। भाषा की विश्वसनीयता का टूट जाना सांस्कृतिक संकट का संकेत है।

पत्रकारिता राजनीतिकों के मुहावरे की प्रतिध्वनि जान पड़ने लगी है। पुराने पत्रकार अपने विवेक और समृद्ध व्यक्तित्व से राजनीति का दिशा-निर्देश करते थे, राजसत्ता के प्रतिपक्ष की भूमिका में अग्रणी थे। वे साम्राज्यशाही नृशंसता का जिस दृढ़ता और युयुत्सु मुद्रा में मुकाबला करते थे, उसी जागरूकता से, औचित्य के आग्रह से, स्वदेशी राजनेताओं की च्युति पर टिप्पणी करते उन्हें संकोच नहीं होता था। महात्मा गांधी जैसे लोकनायक पर बाबूराव विष्णु पराडकर ने कड़ी टिप्पणी की थी। आज के पत्रकार राजनीति और राजसत्ता का आनुकूल्य उपलब्ध करने के लिए उनके मुहावरे में बोलने लगे हैं। उपभोक्ता संस्कृति के अभिशाप को लक्ष्य कर राजनेताओं की तरह आवाज ढेरने वाले पत्रकार स्वयं व्यावसायिक चाकचिक्य के प्रति सतृष्ण हो गये हैं और उपभोक्ता संस्कृति ही इनकी संस्कृति बनती जा रही है। पत्रकार बुद्धिजीवी - वर्ग की उस सरणि के यात्री हैं, समाज के लिए जिसकी भूमिका प्रत्यक्ष - प्रभावी होती है। इसलिए इस पथ के यात्री के लिये अपेक्षाकृत अधिक जागरूकता की जरूरत होती है। किंचित अनवधानता लोक के अमंगल का कारण बन सकती है। वृन्दावन हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर आयोजित प्रथम पत्रकार सम्मेलन के अध्यक्ष बाबूराव विष्णुपराडकर ने पत्रकार - कुल को संबोधित करते हुए कहा था, “पत्र बेचने के लोभ में अश्लील समाचार को महत्व देकर तथा दुराचरणमूलक अपराधों का चित्ताकर्षक वर्णन कर हम परमात्मा की दृष्टि में अपराधियों से भी बड़े अपराधी ठहर रहे हैं, इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए। अपराधी एकाध पर अत्याचार करके दण्ड पाता है और हम सारे समाज की रुचि बिगाड़कर आदर पाना चाहते हैं।”

साम्प्रतिक पत्रकारिता की भाषा-मुद्रा लोक-हितैषी भूमिका नहीं मानी जा सकती। समाज का भाषा - संस्कार पत्रकारिता का महत्वपूर्ण प्रयोजन है, जिसके प्रति हिन्दी की पुरानी पत्रकार - पीढ़ी सचेत थी। हिन्दी के आदि पत्रकार पं० जुगलकिशोर शुक्ल तक में भाषा शुद्धता का आग्रह और संकरता— सजगता थी। परवर्तीकाल में भाषा-धरातल की धवलता के प्रश्न को लेकर पत्रकारों ने इतिहास प्रसिद्ध विवाद की सृष्टि की थी, जिसकी विधायक उपलब्धि थी भाषा समृद्धि। आज अपने व्यवसाय के लिए लोक का विविध रूपों में उपयोग करने वाले पत्रकार भाषा विषयक अपने गुरुतर दायित्व को कदाचित् समझ नहीं रहे हैं और इसे अपेक्षित गुरुता देने को तैयार नहीं हैं। भाषा के अविकसित रूप और भ्रम-भ्रंश को संस्कृत करने की ओर प्रवृत्त न होकर लोकप्रियता का कायल पत्रकार पत्रकारिता की परिनिष्ठित भाषा - मुद्रा को जागरूक आयास द्वारा संकरता की उस पटरी से चलाने लगा है जो भाषा-संस्कार को चिढ़ाती है तथा कथित जनवाद का कदाचित् यह भी एक प्रयोजन है और भाषा की अधोगामी यात्रा क्षिप्रतर होती जा रही है, जो पत्रकारों के दायित्व से जुड़ा एक महत्वपूर्ण मुद्दा है।

ऐतिहासिक तथ्य है कि पुराने पत्रकार अनेकमुखी प्रतिकूलता के बावजूद अपनी निष्ठा से अपने समय की चुनौती का सामना करते थे। जिस समाज को वे संबोधित कर रहे थे वह उनकी लड़ाई में सहयात्री बनने को तैयार नहीं था। उस समाज का राजनीतिक संस्कार अविकसित था। अज्ञान की कठोर जमीन से उनकी आस्था की लड़ाई थी। मगर वे उस ऊंचे जातीय आदर्श से प्रेरणा-स्फूर्त थे कि “राजनीति और समाजनीति का संशोधन जैसा समाचार पत्रों से होता है, वैसा दूसरे उपाय से नहीं हो सकता।” देश-प्रीति की इस प्रेरणा से उन्होंने पत्रकारिता की विकट-राह को अपनी यात्रा के लिये चुना था। आज स्थिति पूरी तरह बदल गयी है। पत्रकारिता की विकसित सुविधाओं के आकर्षण से इस विधा से, निरापद और विलासपूर्ण जीवन के आकांक्षी जुड़ रहे हैं। इसलिए स्वाभाविक रूप में अपने धर्म की बुनियादी आचार-संहिता का भी उन्हें ध्यान नहीं रहता। विलास की अमर्यादित भूख और व्यवसायवाद की प्रभुता के सामने निष्ठा की रक्षा कर पाना बड़ी चुनौती है। आज इस चुनौती का सही कोण से सामना करने वाले पत्रकार विरल हैं। परिणामतः पत्रकारिता की स्वकीय सत्ता दिन-दिन निष्प्रतिभ हो रही है। तकनीकी साधन-समृद्धि लोक-मंगल का निमित्त बनकर ही सार्थक हो सकती है, इस समझ का तिरस्कार कर चलने वाले आज के अधिकतर पत्रकार व्यवसाय-प्रभुता के सामने नमित हो गये हैं। कृती साहित्यकार अज्ञेय, भारती, रघुबीरसहाय और मनोहर श्याम जोशी ने पूंजीपति-प्रतिष्ठान के समृद्ध साधन का विधायक उपयोग कर अपने जागरूक विवेक तथा दक्षता का प्रमाण दिया था। उनमें सम्पादक की गरिमा-रक्षा की अपेक्षित सजगता और कौशल था। ‘भारत’ से सम्बद्ध श्री हेरम्ब मिश्र और ‘नई दुनिया’ तथा ‘नव भारत टाइम्स’ से जुड़े स्व० राजेन्द्र माथुर की प्रखर भूमिका, आश्वासन के क्षीण आधार के रूप में, स्मरणीय है।

और स्मरणीय है पीड़क तथ्य वर्तमान इतिहास का कि सत्ता पर बैठी स्वदेशी राजनीति ने बुद्धिजीवियों के सामने ‘आपातकाल’ के रूप में चुनौती खड़ी की थी, जो आजाद देश की पत्रकारिता के सामने सबसे बड़ी चुनौती थी, तो बड़े-बड़े और नामवर लोगों की गुमानी मुद्रा म्लान पड़ गई थी। कुछेक अपवाद रहे हैं, पर सामान्य स्थिति यही रही है कि चुनौती का हर अवसर उनकी लोकहित-विवर्जित भूमिका और चारित्रिक दौर्बल्य को बेनकाब करता रहा है। पत्रकारों को कृती भूमिका का आमंत्रण देने वाली स्वाधीन भारत की ऐतिहासिक घटना थी, स्वदेशी सरकार के कुशासन स्वेच्छाचारिता और दाम्भिकता के प्रतिरोध में सक्रिय जयप्रकाश नारायण का आंदोलन। उस आंदोलनके पक्ष-समर्थन में क्रियाशील इण्डियन एक्सप्रेस प्रतिष्ठान की भूमिका आजाद देश की स्मरणीय युयुत्सु भूमिका थी। कुछेक लघुपत्रिका के उद्योक्ताओं के प्रखर स्वर ने पराडकर जी की ‘रणभेरी’ जैसी पत्रिकाओं की युयुत्सु-मुद्रा की याद ताजा कर दी थी। हिन्दी पत्रकारिता की जन्मभूमि कलकत्ता से प्रकाशित ‘चौरंगी वार्ता’ और उसके उद्योक्ता डॉ. राजेन्द्र सिंह तथा अशोक सेकसरिया की भूमिका जातीय निष्ठा और चारित्र्य-प्रेरित भूमिका थी। दूसरे प्रदेशों और दूसरी भाषाओं में जातीय उद्वेलन के उस अंधकार काल में समय

की चुनौती का सामना करने वाले उल्लेखनीय आयोजन हुए थे। बांग्ला में श्री गौर किशोर घोष की भूमिका स्वदेशी आंदोलन काल के पत्रकारों की उदग्र मुद्रा की याद ताजा करने वाली भूमिका थी।

निःसंदेह स्वाधीन देश की पत्रकारिता ने सामान्यजन को राजनीतिक गतिविधियों के प्रति, राजनीतिक अपराधों के प्रति सुमुख - सचेत बनाया है। लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था के साथ ही पत्रकारिता ने लोगों को अमर्यादित रूप से अधिकार सजग बना दिया है और उसी परिमाण में संवेदना और संस्कृति बोध क्षत हुआ है। पत्रकारिता की साहित्यिक-सांस्कृतिक भूमिका बेहद कमजोर हुई है। राजनीति के वर्चस्व का यह एक शोचनीय दुष्परिणाम है। 'कल्पना' के बन्द होने के बाद हिन्दी में आज वैसी एक भी साहित्यिक पत्रिका नहीं है, जिसे हिन्दी के विवेक और प्रतिभा का सही प्रस्तुति-माध्यम कहा जा सके। 'कृति' 'कखग' और 'युगचेतना' अपने समय की स्तरीय साहित्यिक पत्रिकाएँ थीं, जिनकी यात्रा बहुत छोटी थी। 'नयाप्रतीक' को वात्स्यायनजी 'प्रतीक' नहीं बना पाये। पं० विद्यानिवास मिश्र की 'अभिरुचि' की यात्रा कुछ अंक के बाद ही अवरुद्ध हो गयी। 'आलोचना' की तरह ये भी प्रकाशन-प्रतिष्ठान की पत्रिकाएँ थीं। इलाहाबाद से बालकृष्ण राव के सम्पादन में प्रकाशित 'माध्यम' का स्तर और रूप-विन्यास पुरानी पत्रिकाओं और 'कल्पना' जैसा ही समृद्ध था, लेकिन सामान्य परिदृश्य को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि विजातीय आदर्श से प्रेरित और शिविर - विशेष से अनुशासित लघु पत्रिका - आंदोलन वह भूमिका पूरी नहीं कर सका, जिसकी सहज अपेक्षा थी और जिसे आजादी के पूर्ववर्ती साहित्यिक उद्योताओं के आयोजन ने पूरा किया था। स्मरणीय है, लघु पत्रिका ही थी हिन्दी की प्रथम पत्रिका 'उदन्त मार्तण्ड' और परवर्ती काल की 'उचितवक्ता' और 'नृसिंह' जैसी राजनीतिक पत्रिकाएँ तथा 'मतवाला' एवं 'हंस' जैसी असंख्य साहित्यिक पत्रिकाएँ।

पराधीनता काल के दैनिक पत्रों की भी साहित्यिक भूमिका महत्वपूर्ण थी। इस दृष्टि से काशी के 'आज' और इलाहाबाद के 'भारत' की भूमिका अग्रणी थी। आज व्यावसायिक घराने के दैनिक पत्रों के रविवारीय अंक में साहित्य - सामग्री के लिए अलग पृष्ठ जरूर रहता है, जो उनका धन पक्ष है, लेकिन विचार घोषणा देने वाली सामग्री यदाकदा ही दीख पड़ती है। साहित्य और विचार सामग्री छापने वाले पत्रों में 'नव भारत टाइम्स' और दिल्ली का 'जनसत्ता' अग्रणी रहे हैं। इस दृष्टि से जयपुर, काशी और इन्दौर के दैनिक पत्र तथा रांची से श्री हरिवंश के सम्पादन में निकलने वाले 'प्रभात खबर' की साहित्य-सुमुखता उल्लेखनीय है। संवेदना-विकास की जैसी उत्कट आकांक्षा पुराने पत्रकारों में थी वैसी आज होती तो दैनिक पत्र से भी साहित्य-संस्कृति का महत्वपूर्ण प्रयोजन एक अंश तक पूरा हो सकता था। 'जनसत्ता'-सम्पादक श्री प्रभाष जोशी के साहित्य-कला पर केन्द्रित निबन्ध, दैनिक 'प्रभात खबर' की सम्पादकीय टिप्पणियों के उपजीव्य और सांस्कृतिक संवेदना, अपराध बोझिल युग - प्रवाह के बीच, किंचित् आश्वास-बोध जगाती है कि साहित्य-संस्कृति से पत्रकारों का सरोकार अभी पूरी तरह मरा नहीं है।

सम्प्रति डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का 'दस्तावेज' और 'अक्षरा' विशिष्ट साहित्यिक लघु पत्रिकाएँ हैं, जो सम्पादक की शिविर मुक्त दृष्टि, सम्पादन-दक्षता एवं बलवती निष्ठा के आधार पर, क्षीण रूप में ही सही, आश्वस्त करती हैं। 'आलोचना', 'अभिरुचि', 'माध्यम' और 'नया प्रतीक' से भिन्न 'कखग' की तरह नितांत निजी उद्योग से निकलने वाली पत्रिका 'दस्तावेज' अपनी भूमिका से सम्पादक-उदार-दृष्टि का परिचय देती है। शिविरवाद के इस अंधे युग में यही विधायक दृष्टि है और यही काम्य है।

स्मरणीय है कि देश की अस्मिता-उद्धार की सहज चिन्ता से राजनीति से जुड़ना जब गर्व का विषय माना जाता था, तब भी मूल्यों के पक्षधर पत्रकार साहित्य-संस्कृति की स्वतंत्र सत्ता-महत्ता से परिचित थे, उस धरातल को अक्षत और पुष्ट रखने के लिए सजग-सक्रिय रहते थे। पत्रकारिता के उस महत्वपूर्ण आयाम को साम्प्रतिक सम्पादक-पत्रकार अधिक समृद्ध कर सकते थे।

किन्तु हीन-साध साधन-आनुकूल्य का भरपूर लाभ नहीं उठा पाती। संदर्भ-विशेष में अज्ञेय ने सटीक टिप्पणी की थी, 'मूलतः समस्या वही है : एक स्वाधीन व्यक्तित्व का निर्माण, विकास और रक्षण।' व्यक्तित्व-बल के अभाव में ही लघु पत्रिका आंदोलन, मुखर दावा-दर्प के बावजूद, वह प्रभाव नहीं जगा सका जो पूर्ववर्ती उद्योताओं की निष्ठा ने पैदा किया था और जिसे इतिहास गर्वपूर्वक रेखांकित करता है। कई लघु पत्रिकाओं ने विकल्प-मंच का संभावना-संकेत दिया था, किन्तु संभावना कायदे से रूपायित नहीं हो सकी। न केवल हिन्दी बल्कि दुनिया की सारी भाषाओं में लघु पत्रिका की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। 'मूल में वे ही संपादक थे जिनसे धनी घृणा करते थे, शासक क्रुद्ध रहा करते थे और जो एक पैर जेल में' रखकर धर्मबुद्धि से पत्र-संपादन किया करते थे। उनके परिश्रम और कष्ट से पत्रों की उन्नति हुई, पर उनके वंश का लोप हो गया। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा और शिविर-प्रतिबद्ध दुराग्रह ने लघु-पत्रिका-आंदोलन की अपेक्षित भूमिका को, जो उदीयमान पीढ़ी के लिए वरदान सिद्ध होती, कमजोर बना दिया। इस प्रकार पूंजी-प्रताप के कुप्रभाव और अनावश्यक राजनीतिक दबाव के प्रतिरोध का आश्वासन शिथिल हो गया।

पत्रकारिता की अधोगति को वर्तमान दुर्गत समाज का स्वाभाविक परिणाम मानते पक्ष-विशेष पर दोषारोपण करना कुछ जागरूक लोगों को भी गलत लगता है। मगर दुनिया का और आधुनिक भारत का इतिहास साक्षी है कि मानवीय संवेदना को क्षत करने वाले औद्धत्य का अपने व्यक्तित्व-बल से पत्रकारों-संपादकों तथा विद्याकुल के कृती-पुरुषों ने प्रखर प्रतिरोध किया था। स्वधर्म के सहज आग्रह से समाज के अधोमुखी प्रवाह पर उन्होंने बेलाग टिप्पणी कर अपने दायित्व-बोध का प्रमाण दिया था। समाज की अधोगति को युगधर्म मानकर साक्षी-गोपाल बने रहना या विलास-लीला का सहचर बन जाना विद्या-व्यक्तित्व के संदर्भ में लज्जास्पद है। यह कोरा आदर्श वचन नहीं हकीकत है कि विशिष्ट राह के यात्री की जिम्मेदारी गुरुतर होती है और स्वाभाविक

रूप में औरों की अपेक्षा उसकी तपस्या बड़ी होती है। पत्रकार और दूसरे बुद्धिजीवी दूसरे वर्ग की भोग-संस्कृत जीवन-चर्या को ही अपना आदर्श मान लें तो फिर मूल्यों की सुरक्षा का आश्वासन क्या रह जाएगा ? हर काल में बौद्धिक वर्ग की भूमिका प्रतिपक्ष की भूमिका रही है। इसी वर्ग ने अपने समय की चुनौती-वाहिनी का अपनी मनीषा और धवल चरित्र से मुकाबला किया है, सांस्कृतिक सुस्ती के काल में नये चैतन्य की रचना की है। इसी विशिष्ट भूमिका की आज अपेक्षा है। धवल-चरित्र ही समाज की अपेक्षा पूरी कर सकता है। और कृती-पुरुष आत्मावलोकन को विकास की अनिवार्य शर्त मानते हैं। अपनी प्रातिभ-साधना द्वारा हिन्दी पत्रकारिता को विशिष्ट धरातल पर प्रतिष्ठित करने वाले अज्ञेय ने गहरे ममत्व के साथ साम्प्रतिक पत्रकारिता-परिदृश्य पर आत्मावलोकन की शैली में विचार किया था। शुभ चिन्ता के आवेग में पीड़ित होकर अज्ञेय ने टिप्पणी की थी, जो पत्रकारिता के धर्म से जुड़े बन्धुओं के लिये ध्यातव्य है, “हिन्दी पत्रकारिता के आरम्भ के युग में हमारे पत्रकारों की जो प्रतिष्ठा थी वह आज नहीं है। साधारण रूप से तो यह बात कही जा ही सकती है, अपवाद खोजने चलें तो भी यही पावेंगे कि आज का एक भी पत्रकार, सम्पादक वह सम्मान नहीं पाता जो कि पच्चास-पच्चाहत्तर वर्ष पहले के अधिकतर पत्रकारों को प्राप्त था। आज के सम्पादक, पत्रकार अगर इस अंतर पर विचार करें तो स्वीकार करने को बाध्य होंगे कि वे न केवल कम सम्मान पाते हैं, बल्कि कम सम्मान के पात्र हैं या कदाचित् सम्मान के पात्र बिल्कुल नहीं हैं। जो पाते हैं वह पात्रता से नहीं, इतर कारणों से। अप्रतिष्ठा का प्रमुख कारण यह है कि उनके पास मानदंड नहीं है। यही हरिश्चन्द्र कालीन

सम्पादक-पत्रकार या उतनी दूर न जावें तो महावीर प्रसाद द्विवेदी का समकालीन भी हम से अच्छा था। उनके पास मानदंड थे, नैतिक आधार थे और स्पष्ट नैतिक उद्देश्य भी। उनमें से कोई ऐसे भी थे जिनके विचारों को हम दकियानूसी कहते, तो भी उनका सम्मान करने को हम बाध्य होते थे, क्योंकि स्पष्ट नैतिक आधार पाकर वे उन पर अमल करते थे - वे चरित्रवान थे। आज विचार क्षेत्र में हम अग्रगामी भी कहला लें तो कर्म के नैतिक आधारों की अनुपस्थिति में निजी रूप से हम चरित्रहीन ही हैं और सम्मान के पात्र नहीं हैं।” पत्रकार-कुल के प्रख्यात कृती पुरुष की तीखी टिप्पणी उद्धृत करने की मेरी लाचारी, आशा है, क्षम्य समझी जाएगी। पत्रकार के राष्ट्रीय दायित्व-बोध पर विचार करते ‘प्रताप’ सम्पादक गणेश शंकर विद्यार्थी ने जो बात कही थी, आज के श्रीहीन संदर्भ में अनायास याद आती है। अपने समानधर्मा पत्रकारों को उनके गुरुतर जातीय दायित्व के प्रति सचेत करने सन् 1930 में गणेशशंकर विद्यार्थी ने लिखा था, “पैसे का मोह और बल की तृष्णा भारतवर्ष के किसी भी नये पत्रकार को ऊंचे आचरण के पवित्र आदर्श से बहकने न दे।”

हिन्दी के समाचार पत्र भी उन्नति के राजमार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। मैं हृदय से चाहता हूँ कि उनकी उन्नति उधर हो या न हो, किन्तु कम-से-कम आचरण के क्षेत्र में पीछे न हटें। मूल्यों के पक्षधर किसी भी जागरूक व्यक्ति की यह न्यूनतम अपेक्षा हो सकती है। इस अपेक्षा के प्रति सुमुख-सचेत होकर ही पत्रकार अपने दायित्व का निर्वाह कर सकते हैं, अपनी उज्ज्वल विरासत को समृद्धतर कर सकते हैं।

7-बी, हरिमोहन राय लेन, कलकत्ता - 700 015

राहुल सांकृत्यायन : चिन्तन की दिशायें

राहुल सांकृत्यायन हिन्दी नवजागरण के निर्मित और निर्माता दोनों थे। राहुल सांकृत्यायन के सम्बन्ध में लिखते हुए उनके बौद्धिक मित्र डॉ. महादेव साहा ने राहुल की तुलना यूरोपीय नवजागरण के अग्रदूतों के साथ की है। बौद्ध दर्शन के अध्ययन में निमग्नता का काल हो अथवा साम्यवादी विचार धारा से प्रेरित हो यायावरी का काल, राहुल अपनी सोच-समझ, विचार-विवेचन में एक महान् पुरुष थे। यूरोपीय नवजागरण के अग्रदूतों की ही तरह उनके ज्ञान की सीमा नहीं थी। अपने इस मन्तव्य के लिए उन्होंने फ्रेडरिक एन्गल्स की पुस्तक “प्रकृति का द्वन्द्ववाद” की भूमिका से उद्धरण दिया है। एन्गल्स ने यूरोपीय नवजागरण के अग्रदूतों की चर्चा करते समय लिउनार्दो दा विंची, अल्ब्रेख्ट डूशर, मेकियावेली, लूथर जैसों के अवदान का हवाला देकर कहा है कि ये सभी केवल एक विषय में पारंगत रहे हों, ऐसा नहीं। एक ही साथ बहुतेरे विषयों के जानकार थे। इनकी सफलता का रहस्य यह था कि ये तत्कालीन आंदोलनों से जीवनी शक्ति प्राप्त करते थे। जन संघर्षों में कभी कलम तो कभी तलवार लेकर शरीक होते थे। जीवन की इस वास्तविकता के बीच वे तरह-तरह के वैज्ञानिक सूत्रों के आविष्कर्ता थे तो राजनैतिक चिन्ताधारा के प्रवक्ता एवं सामाजिक तथा धार्मिक अवरोधों के संस्कारक भी थे।

एंगल्स के मत का सारांश इसलिए देना पड़ा कि राहुल के बहुआयामी

व्यक्तित्व में ये सारी विशेषताएं विद्यमान थीं। राहुल भी एक साथ ही बौद्ध त्रिपटकाचार्य, पुरातात्विक, साहित्यकार, घुमक्कड़, इतिहासकार, लिपिविशेषज्ञ, भाषाविद् एवं समाजशास्त्री थे। भारतीय अस्मिता की तलाश में भटकने वाले राहुल तथा बिहार के किसान आंदोलन में सक्रिय राजनीतिज्ञ राहुल एक ही थे। साम्राज्यवादी शिकंजे से देश को मुक्त देखना उनका सपना था और सामन्ती समाज व्यवस्था के दुष्परिणामों तथा कुसंस्कारों से मुक्त समाज व्यवस्था का निर्माण उनकी आकांक्षा थी। इस सबके लिए उन्होंने साम्यवादी चिन्ता-धारा का सहारा लिया था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने आजीवन संघर्ष किया। राहुल की चिन्ता-धारा ने एक बड़े समुदाय को जागरूक किया। राहुल ने एक ऐसे समय में यह काम शुरू किया था, जब हिन्दी भाषा में इस विषय की पुस्तकों का अभाव था। राहुल सांकृत्यायन की सामाजिक दृष्टि का दस्तावेज उनकी पुस्तकें हैं।

राहुल जी का जन्म 1893 में हुआ था और मृत्यु 1963 में हुई थी। यह काल भारतीय इतिहास में चुनौतियों का काल है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद का उत्कर्ष और अपकर्ष, स्वाधीनता संग्राम, स्वाधीनता प्राप्ति, बाद के करीब 25 वर्ष, दो विश्वयुद्ध, रूस में समाजवाद की स्थापना, हिन्दू-मुस्लिम झगड़े, हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग की स्थापना, भारत विभाजन, साम्प्रदायिक दंगे, गांधीवाद और समाजवाद, क्रांतिकारियों का बलिदान, किसान मजदूर आंदोलन, सामन्ती एवं पूंजीवादी मूल्यों की टकराव, वर्ण-व्यवस्था, अछूतों का उभार, मौलवाद की कड़कता, भाषाई एवं सांस्कृतिक आंदोलन, इतिहास की पुनर्व्याख्या, साम्यवादी चिन्ताधारा का प्रसार, राजनीति में मूल्यों की गिरावट, बढ़ती अवसरवादिता इस प्रकार के बहुतेरे परिवर्तन भारतीय जीवन में हो रहे थे, जिनका प्रभाव जनमानस पर पड़ रहा था। राहुलजी उन बुद्धिजीवियों में नहीं थे जो निरपेक्षता का बाना पहन कर खुद को और देशवासियों को धोखा देते हैं। राहुल ऐसे बुद्धिजीवी थे, जिन्होंने प्रगति का समर्थन और प्रगतिविरोधी ताकतों का विरोध किया है। एक साधारण से निबन्ध के द्वारा उनके विचारों का परिचय देना दुष्कर है। इसमें कुछ ऐसे विचारों को ही प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसे राहुल जी अवैज्ञानिक एवं प्रगति विरोधी मानते थे। उनके ये विचार आज के संदर्भ में और भी प्रासंगिक हो उठे हैं। अतएव उनके शतीवर्ष में इस चर्चा की विशेष प्रासंगिकता है।

भारतीय अस्मिता की तलाश, वैज्ञानिक चिन्ताधारा का प्रसार और देश निर्माण, राहुल की चिन्ताधारा का त्रिकोण है। जिसके केन्द्र में भारतीय जन के पूर्ण विकास की कामना ही मुख्य थी। चाहे इतिहास हो, चाहे धर्म, संस्कृति या दार्शनिक चिन्ताधारा, समाज व्यवस्था का ढांचा, भाषा, सबके प्रति राहुल की वैज्ञानिक दृष्टि एक-सी है। जो तर्क सम्मत नहीं है, वह अग्राह्य है। इसी से स्थिरता या जड़ता का नाम-निशान उनके चिन्तन में गायब है।

शुरुआत राहुल की इतिहास संबंधी अवधारणा से की जाय। राहुल

भारत की प्राचीन आर्यभाषाओं के पंडित थे। आकर ग्रन्थों को पढ़ा था। धर्म और संस्कृति का अध्ययन किया था। इसके अलावा देश-विदेश की और भी कई भाषाओं को जानते थे। इतिहास में रुचि थी, इतिहास लेखक भी थे। ऋग्वैदिक आर्य, अकबर, मध्य एशिया का इतिहास, कई महापुरुषों की जीवनियाँ, पुरातात्विक निबन्ध उनके इतिहास प्रेम के प्रमाण हैं। भारतीय मनीषा की उपलब्धियों पर राहुल को गर्व था, किन्तु झूठे दम्भ के वे कटु आलोचक थे।

राहुलजी भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ही तरह आज के प्रचलित इतिहास को इतिहास नहीं मानते थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इतिहास के संबंध में प्रश्न उठाकर कहा था कि स्कूलों में पढ़ाया जाने वाला इतिहास इतिहास नहीं है। राहुल 'जन-इतिहास' के पक्षधर थे। उन्होंने लिखा है कि, "हमारा इतिहास तो राजाओं और पुरोहितों का इतिहास है जो कि आज की तरह उस जमाने में भी मौज उड़ाया करते थे। उन अगणित मनुष्यों का इस इतिहास में कहाँ जिक्र है, जिन्होंने कि अपने खून के गारे से ताजमहल और पिरामिड बनाये, जिन्होंने कि अपनी हड्डियों की मज्जा से नूरजहां को अतर से स्नान कराया, जिन्होंने कि लाखों गर्दन कटाकर पृथ्वीराज के रनिवास में संयोगिता को पहुंचाया? उन अगणित योद्धाओं की वीरता का क्या हमें कभी पता लग सकता है जिन्होंने कि सन् सत्तावन के स्वतंत्रता युद्ध में अपनी आहुतियाँ दी? दूसरे मुल्क के लुटेरों के लिए बड़े-बड़े स्मारक बने, पुस्तकों में उनकी प्रशंसा का पुल बांधा गया। गत महायुद्ध में ही करोड़ों ने कुर्बानियाँ दी, लेकिन इतिहास उनमें से कितनों के प्रति कृतज्ञ है? (तुम्हारी क्षय पृष्ठ 31-32)

राहुल जन-इतिहास चाहते थे, किन्तु इतिहास का झूठा दंभ उन्हें पसन्द नहीं था। हर दृष्टि से भारत को सबसे गौरवशाली सिद्ध करने की झोंक राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान दिखाई पड़ी थी और आज भी कुछ अतिरिक्त परम्परा प्रेमियों में यह झोंक विद्यमान है जिसकी एक तर्कसंगत परिणति फासिज्म में होती है। इतिहासाश्रयी इस राजनीतिक चिन्ताधारा से राहुल सजग थे। इतिहास की विकृत व्याख्या उन्हें पसन्द नहीं थी। इस झोंक का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा है कि, "जिस जाति की सभ्यता जितनी पुरानी होती है उसकी मानसिक दासता के बन्धन भी उतने ही अधिक होते हैं। भारत की सभ्यता पुरानी है, इसमें तो शक ही नहीं और इसलिए इसके आगे बढ़ने के रास्ते में रुकावटें भी अधिक हैं। मानसिक दासता प्रगति में सबसे अधिक बाधक होती है। ...वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में भारत में राष्ट्रीयता की बाढ़ सी आ गई, कम से कम तरुण शिक्षितों में। यह राष्ट्रीयता बहुत अंशों में श्लाघ्य रहने पर भी कितने अंशों में अंधी राष्ट्रीयता थी। झूठ सच जिस तरीके से भी हो, अपने देश के इतिहास को सबसे अधिक निर्दोष और गौरवशाली सिद्ध करने अर्थात् अपने ऋषि मुनियों, लेखकों और विचारकों, राजाओं और राजसंस्थाओं में बीसवीं शताब्दी की बड़ी से बड़ी राजनैतिक महत्व की चीजों को देखना हमारी इस राष्ट्रीयता का एक अंग था। अपने भारत को प्राचीन भारत और उसके निवासियों को हमेशा दुनिया के सभी राष्ट्रों से ऊपर साबित करने की दुर्भावना से प्रेरित हो हम जो कुछ भी अनाप-शनाप ऐतिहासिक खोज के नाम पर लिखें, उसको यदि

पाश्चात्य विद्वान न माने तो झूठ से फतवा पास कर देना कि सभी पश्चिमी ऐतिहासिक अंग्रेजी और फ्रांसीसी, जर्मन और इटालियन, अमेरिकन और रूसी, डच और चेकोस्लाव सभी बेईमान हैं। सभी षड्यंत्र करके हमारे देश के इतिहास के बारे में झूठी-झूठी बातें लिखते हैं। वे हमारे पूजनीय वेद को साढ़े तीन और चार हजार वर्षों से पुराना नहीं होने देते (हालांकि वे ठीक एक अरब बानवे वर्ष पहले बने थे)। इन भलमानसों के ख्याल में आता है कि अगर किसी तरह से हम अपनी सभ्यता, अपनी पुस्तकों और अपने ऋषि मुनियों को दुनिया में सबसे पुराना साबित कर दें, तो हमारा काम बन गया। इस बेवकूफी का भी कहीं ठिकाना है कि बापदादों के झूठ-मूठ के ऐश्वर्य से हम फुलें न समायें और हमारा आधा जोश उसी की प्रशंसा में खर्च हो जाय।"

(दिमागी गुलामी)

हमने ऊपर चर्चा की है कि राहुल का इतिहास और परम्परा प्रेम अंध राष्ट्रीयता पर आधारित नहीं था। उनका कथन था, "अपनी मानसिक दासता की बेड़ी की एक-एक कड़ी को बेदर्री के साथ तोड़कर फेंकने के लिए तैयार होना चाहिए।" राहुल की ऐतिहासिक अवधारणा वैज्ञानिक थी। आज की इतिहास चर्चा के संदर्भ में यह अवधारणा अधिक उपयोगी है। राहुलजी संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश के पंडित थे। उन्होंने इन भाषाओं के आकर ग्रन्थों का अध्ययन कर ऋग्वैदिक आर्य, बोलगा से गंगा, सिंह सेनापति तथा जय यौधेय, दिवोदास जैसे ग्रन्थ लिखे, जिनमें प्राचीन भारत की संस्कृति का चित्र मिलता है।

इतिहास की ही तरह ईश्वर और धर्म के बारे में भी उनकी अवधारणा थी। भारतीय इतिहास में आज ईश्वर और धर्म को अहम मुद्दा बना दिया गया है। राहुल विकासवाद के सिद्धांत को मानने वाले थे। अतएव ईश्वर और धर्म संस्थानों के बारे में वे मौलवादियों से एकदम भिन्न थे। उनकी इन धारणाओं पर विचार करते समय उनके चिन्तन के विकास-क्रम को ध्यान में रखना होगा। बचपन में सनातनी हिन्दू संस्कारों में पले राहुल किस प्रकार आर्य समाज, बौद्ध धर्म फिर साम्यवाद की ओर बढ़ते गये और अन्त में कम्युनिस्ट की हैसियत से मरे। यह सब उनकी मानसिकता का बेरोमीटर है। आत्मवाद से अनात्मवाद की ओर उनकी दार्शनिक परिणति है। जिसका ठेठ अर्थ है कि राहुल सांस्कृत्यायन भारतीय लोकायत दर्शन परम्परा के मनीषी थे।

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति का यह कथन उन्हें बहुत प्रिय था :-
वेद प्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नानेधर्मेच्छा जाति वादाय लेपः।
संतापारंभः पापहानायचेतिध्वस्तप्रज्ञा नां पंचलिंगा नि जाड्ये ॥

(प्रमाण वार्तिक स्ववृत्ति 1/342)

"वेद (=ग्रंथ) को प्रमाणता किसी (ईश्वर) का (सृष्टि) कर्तापन (=कर्तृवाद), स्नान (करने) में धर्म (होने) की इच्छा रखना जातिवाद (=छोटी-बड़ी जाति पांति) का घमंड और पाप दूर करने के लिए (शरीर को) संताप देना (=उपवास तथा शारीरिक तपस्याएं करना) - ये पांच हैं अकल मारे (लोगों) की मूर्खता (=जड़ता) की निशानियाँ।"

दर्शन - दिग्दर्शन - पृष्ठ 803-4 प्र० संस्करण,

धर्मकीर्ति को राहुल ने “भारतीय हेगल” कहा है।

धर्मकीर्ति के साथ सिद्ध सरहपा के इन दोहों को साथ रख लेने पर राहुल के विचारों को और सफाई से समझा जा सकता है। सरहपा राहुल के प्रिय लेखक हैं। अत्युक्ति न होगी अगर कहें कि राहुल आज के सरहपा है विभिन्न अर्थों में।

जड़ णग्गा विअ होई मुत्ति ता सुणह सिआलह।

लोमु (3) पांडणें अत्थि सिद्धि ता जुवइणिअम्बह॥

पिच्छीमहणे दिट्ठ मोक्ख (ता मोरह चमरह)

उच्छे भोअणे होइ जाण ता करिह तुरंगह॥

चर्यामीति कोशः पृष्ठ 188

सं० प्रबोधचन्द्र बागची, शांति भिक्षु,

सरहपा ने यहां जैनियों के बाह्याचार पर व्यंग किया है।

अगर हम राहुल के इस वाक्य से उनके धर्म और ईश्वर संबंधी अवधारणा की चर्चा करें कि “मजहब और खुदा गरीबों का सबसे बड़ा दुश्मन है” तो उनके विचारों को समझने में सहूलियत होगी। अपनी “साम्यवाद ही क्यों?” पुस्तक में राहुल ने साम्यवाद तथा धर्म और ईश्वर पर विचार करते समय लिखा है कि “मनुष्य जाति के शैशव की मानसिक दुर्बलताओं और उससे उत्पन्न मिथ्या विश्वासों का समूह ही धर्म है। यदि उसमें और भी कुछ है, तो वह है पुरोहितों और सत्ताधारियों के धोखे फरेब, जिनसे वह अपनी भेड़ों को अपने गले से बाहर जाने देना नहीं चाहते। मनुष्य के मानसिक विकास के साथ-साथ यद्यपि कितने ही अंश में धर्म ने भी परिवर्तन किया है, कितने ही नाम भी उसने बदले हैं, तो भी उनसे उसके आंतरिक रूप में परिवर्तन नहीं हुआ है। वह आज भी वैसा ही हजारों मूढ़ विश्वासों का पोषक और मनुष्य की मानसिक दासताओं का समर्थक है, जैसा कि पांच हजार वर्ष पूर्व था।”

और ईश्वर? उसके संबंध में राहुल का कहना है कि “धर्म और ईश्वर का प्रायः अटूट संबंध है- यह भी मनुष्य के शैशव काल के भयभीत अन्तःकरण की सृष्टि का एक विकसित रूप है। वस्तुतः ईश्वर मनुष्य का मानसपुत्र है।”

ईश्वर का खयाल हमारी सभी प्रकार की प्रगति का बाधक है। मानसिक दासता की वह जबर्दस्त बेड़ी है। शोषकों का वह अस्त्र है, क्योंकि उसके सहारे वह कहते हैं- “धनी गरीब उसके बनाये हुए हैं वह जो करता है, सब ठीक करता है उसकी मर्जी पर अपने को छोड़ दो।” राहुल समाजशास्त्री थे। हर वस्तु के कार्यकारण पर गंभीरता से विचार करते थे। ईश्वर और धर्म की चर्चा में वे इस नतीजे पर पहुंचे कि “ईश्वर पूंजीपतियों के बड़े काम की चीज है। यदि ईश्वर का खयाल पहले से न होता तो आज वह उसका आविष्कार करते। यही वजह है कि थके दिमाग वाले शोषकों के पोषक कितने ही वैज्ञानिक धर्म और ईश्वर के समर्थक देखे जाते हैं।” अगर राहुल जिन्दा होते तो जोर देकर इतना वे और कहते कि “ईश्वर आज के राजनीतिज्ञों के भी बड़े काम की चीज है। वे कितने ईश्वर भक्त हैं कि देश की एकता को भी दांव

पर चढ़ा कर मन्दिर, मस्जिद की तलाश में निरीहों का खून बहा रहे हैं।”

ईश्वर और धर्म के संबंध में यह धारणा किसी एक मजहब या सम्प्रदाय के सम्बन्ध में नहीं थी। विश्व के नक्शे में धर्म का जो अमानवीय रूप उभरा है उसी के विश्लेषण पर उन्होंने यह राय कायम की थी।

“तुम्हारी क्षय” पुस्तक में उनके विचार उल्लेखनीय हैं। उनका कहना है कि यह दलील गलत है कि सभी धर्म समान भाव से सदुपदेश देते हैं। उनका कहना है कि दुनिया के सभी मजहबों में भारी मतभेद है। ये मतभेद सिर्फ विचारों तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि पिछले दो हजार वर्षों का इतिहास बतला रहा है कि इन मतभेदों के कारण मजहबों ने एक-दूसरे के ऊपर जुल्म के कितने पहाड़ ढाए। यूनान और रोम के अमर कलाकारों की कृतियों का आज अभाव क्यों दीखता है? इसलिए कि वहां एक मजहब आया जो ऐसी मूर्तियों के अस्तित्व को अपने लिए खतरे की चीज समझता था। ईरान की जातीय कला, साहित्य और संस्कृति का नामशेष-सा क्यों हो जाना पड़ा? क्योंकि उसे एक ऐसे मजहब से पाला पड़ा जो ईसानियत का नाम भी धरती से पिटा देने पर तुला हुआ था। मेक्सिको और पेरू, तुर्किस्तान और अफगानिस्तान, मिस्र और जावा जहां भी देखिये, मजहबों ने अपने को कला, साहित्य और संस्कृति का दुश्मन साबित किया और खून खराबी? इसके लिए तो पूछिये मत। अपने-अपने खुदा और भगवान के नाम पर अपनी-अपनी किताबों और पाखंडों के नाम पर मनुष्य के खून को उन्होंने पानी से भी सस्ता कर दिखलाया। पोप और पेत्रियार्क, एंजिल और ईसा के नाम पर प्रतिभाशाली व्यक्तियों के विचार स्वातंत्र्य को आग और लोहे के जरिये दबाते रहे। कितनों को जीते जी आग में जलाया, कितनों को चर्खी से दबाया।

भारतीय धार्मिक मदान्धता पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा कि “हिन्दुस्तान की भूमि ऐसी धार्मिक मदान्धता की कम शिकार नहीं रही। इस्लाम से आने के पहले भी क्या मजहब ने वेदमंत्र बोलने और सुनने वालों के कानों में पिघले रांगे और लाख को नहीं भरा? ...इस्लाम के आने के बाद तो हिन्दू धर्म और इस्लाम के खूरेज इगड़े आज तक चल रहे हैं। कहने के लिए इस्लाम शक्ति और विश्वबन्धुत्व का धर्म कहलाता है, हिन्दू धर्म ब्रह्मज्ञान और सहिष्णुता का धर्म बतलाया जाता है। किन्तु क्या इन दोनों धर्मों ने अपने इस दावे को कार्यरूप में परिणत करके दिखलाया है?”

राहुलजी के प्रश्न का उत्तर है नहीं। न तब और न आज। राहुल ने बड़े कठोर शब्दों में लिखा- “हिन्दुस्तानियों की एकता मजहबों के मेल पर नहीं होगी, बल्कि मजहबों की चिता पर।” धर्म का यह हिंसात्मक और फोबी रूप राहुल को पसन्द नहीं था। जिन दिनों राहुल सक्रिय राजनीति कर रहे थे उन दिनों उन्होंने निहित स्वाधों द्वारा धर्म का घृणित उपयोग देखा था। इस प्रकार धर्म और ईश्वर के मसले पर राहुल कटु से भी अधिक कटु थे। सभाओं में वे अपनी बात कहने में हिचकिचाते नहीं थे।

बिहार की बहुतेरी जनसभाओं में उन्हें सक्रिय विरोध का सामना

भी करना पड़ा था। धर्म के व्यावहारिक रूप को देखकर वे कटु हो उठे थे।

नवजागरण के बीच हर समझदार को जिन समस्याओं से टकाराना पड़ा था उनमें ही एक हिन्दू और मुसलमान की समस्या थी। दोनों धर्मों के व्यवहार पक्ष की भूमिका का उल्लेख ऊपर किया गया है। किन्तु इसके तल में प्रवेश कर राहुलजी ने कहा था कि “इस समस्या की बुनियाद किसी मजबूत पत्थर पर नहीं है। कोई आर्थिक प्रश्न ऐसा नहीं है जो इस समस्या की जड़ में हो और आर्थिक प्रश्न ही किसी बात को मजबूत बनाता है। यह सारा झगड़ा उच्चवर्ग और मध्यवर्ग का बनाया है। हिन्दू मुस्लिम झगड़ों से उनका (बड़ों का) कोई नुकसान नहीं होता। मरते और जेल जाते हैं, तो साधारण गरीब लोग।” राहुल जी के इस विश्लेषण में उल्लेखनीय है किसी वस्तु के विरोध में अर्थ की भूमिका एवं गरीबों को मौलवाद से अलग करके देखना। आज की राजनीति में वस्तुतः इस धार्मिक मुद्दे को लेकर जितना परेशान उच्चवर्ग या मध्यवर्ग है, उतना गरीब या किसान मजदूर नहीं। पारस्परिक भाई-चारे के द्वारा इस समस्या का समाधान संभव है बशर्त मौलवादियों की भूमिका ध्यान में रहे। राहुल का कहना है, उच्च और मध्यवर्ग के चरित्र का पर्दाफाश करना आवश्यक है। प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य तथा प्रबंधों में यह काम किया था।

सामन्ती समाज व्यवस्था की ही उपज एक और समस्या हमारे बीच बार-बार आती रही है और हम उसके सही उपचार की अपेक्षा सामयिक मरहम पट्टी कर देते रहे हैं। राहुल ने लिखा है कि “समाज की बेड़ियां जेलखाने की बेड़ियों से भी सख्त है।” अछूत या हरिजन समस्या इसी तरह की एक सामाजिक व्याधि है। वर्णव्यवस्था की जंजीरों से जकड़ा अभिशप्त अछूतों का वृहत वर्ग अपनी सामाजिक मुक्ति के लिए तड़फड़ा रहा है। न जाने कब और किस अशुभ घड़ी में इस व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ था मगर आज भी वह गुंजलक मारकर बैठी हुई है। कभी हम उसको धार्मिक पूजा पाठ के बहाने मंदिर प्रवेश की ओर ठेलते हैं तो कभी सामाजिक न्याय के नाम पर नौकरी के टुकड़े फेंकते रहे हैं। इस प्रकार सतही समाधान कर अपनी उदारता का दंभ करते हैं। इस मंडल और कमंडल के बीच उन्हें झूठे और सामयिक भुलावे में रखे हुए हैं। राहुलजी ने इस पर लिखा है कि “धर्म पुस्तकें इस अन्याय के आध्यात्मिक और दार्शनिक कारण पेश करती हैं।” यह भेद भाव हिन्दू-मुसलमान दोनों में है। मुसलमानों में भी मोमिन और गैर मोमिन का सवाल पैदा होता है। राहुलजी ने अछूत समस्या के मूल में आर्थिक स्वतंत्रता का अभाव बताते हुए लिखा है कि “(हरिजनों) उनके लिए मंदिरों के द्वार खोलने के लिए प्रचार करने में हमें समय नहीं खोना चाहिए। यह काम केवल व्यर्थ ही नहीं, बल्कि खुद हरिजनों के लिए खतरनाक भी है। यह पुरोहितों की चालाकी और धर्मान्धता ही है जो कि उनकी वर्तमान अधोगति का कारण है। इन सरल मनुष्यों को ऐसी सरल सस्ती औषधि न दीजिए। पुजारी, धर्म और मन्दिर को जहन्नम में जाने दीजिए। अगर आपके सामने अपने देश और अपने लिए कोई आदर्श है तो उनकी (हरिजनों) आर्थिक विषमताओं का अध्ययन कीजिए और उनको दूर करने की चेष्टा कीजिए। औद्योगिक योजना में सरकार हरिजनों को अधिक

से अधिक आगे बढ़ाने का अवसर प्रदान कर सकती है।”

इन विषयों के अलावा भी राहुलजी ने जमींदारी, किसान, खेतिहर-मजदूर, शिक्षा, सदाचार, समाज जैसे विषयों पर भी विचार किया है। इस दृष्टि से उनकी पुस्तक “दिमागी गुलामी” एवं “तुम्हारी क्षय” पठनीय है। इसी तरह “साम्यवाद ही क्यों” पुस्तक में उन्होंने सरल भाषा में साम्यवाद के मुद्दों का परिचय दिया। ये तीनों पुस्तकें राहुलजी की समाज चेतना को समझने में बड़े काम की हैं।

राहुल की समाज चेतना के दार्शनिक आधार की जानकारी के लिए उनकी पुस्तक “दर्शन दिग्दर्शन” का अध्ययन आवश्यक है। जिसमें उन्होंने विविध दार्शनिक धाराओं का मूल्यांकन कर अनात्मवादी लोकायत दर्शन की ओर दृष्टि आकर्षित की है। राहुल का सारा प्रयास रूढ़ियों से मुक्ति का प्रयास है। मानसिक दासता से मुक्ति पाने के लिए राहुल ने कहा है कि “हमें अपनी मानसिक दासता की एक-एक कड़ी को बेदर्री के साथ तोड़कर फेंकने के लिए तैयार होना चाहिए। बाहरी क्रांति से कहीं ज्यादा जरूरत मानसिक क्रांति की है।” मानसिक दासता से मुक्ति का प्रयास भी नवजागरण का प्रयास है। प्रश्न है क्या हम मानसिक दासता की बेड़ी तोड़ने को तैयार हैं? हमारे मन में इस प्रश्न को उठा देने में ही आज राहुल की सार्थकता है।

राहुल के चिन्तन का मुख्य उल्लेखनीय आयाम है, मानव समाज के विकास की द्वन्द्वात्मक परख। इसी के आधार पर उन्होंने समाज का विश्लेषण कर दुख और दारिद्र्य को समझने का प्रयास किया था। कहना न होगा कि यही द्वन्द्ववाद उनके चिन्तन की कसौटी थी। जिससे उन्होंने शोषक, शोषित, अमीर, गरीब, उपेक्षितों को देखा था। शोषकों को राहुल ने जोंक शब्द से संबोधित किया है। परिभाषा है “जोंक-जो अपनी परवरिश के लिए धरती पर मेहनत का सहारा नहीं लेतीं। वे दूसरों के अर्जित खून पर गुजर करती हैं। मानुषी जोंकें पाशाविक जोंकों से ज्यादा भयंकर होती हैं।” राहुल इन शोषक जोंकों का अन्त चाहते थे। इन्हीं ने सामाजिक संतुलन बिगाड़ रखा है, ऐसा उनका विश्वास था। इसी दृष्टि से उन्होंने दो-दो महायुद्धों में लिप्त शक्तियों की पहचान की थी। राहुल की चिन्तन धारा सामन्तवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद के विरोध की धारा है, जिसने संकीर्णता, मौलवाद, विकृतिवाद, रूढ़िवाद, विच्छिन्नतावाद, साम्प्रदायिकता को विकास के पथ में बाधक माना है।

अन्त में राहुल की पुस्तक “भागो नहीं (दुनिया को) बदलो” के प्रथम संस्करण से एक उद्धरण देकर बात खत्म करना चाहूंगा। “मैं किसी एक आदमी को दोषी नहीं मानता। आज जिस तरह का मानुष जाति का ढांचा दिखाई पड़ता है, असल में सब दोष उसी ढांचे का है। जब तक वह ढांचा तोड़कर नया ढांचा नहीं बनाया जाता, तब तक दुनिया नरक बनी रहेगी। ढांचा तोड़ना भी एक आदमी के बूते का नहीं है, इसलिए उन सब लोगों को काम करना है, जिनको इस ढांचे ने आदमी नहीं रहने दिया।”

राहुल ने आजीवन ढांचे को तोड़ने का प्रयास किया। ठीक ही है अकेले बस का नहीं था। ढांचे को तोड़ने का प्रयास करना ही उनको स्मरण करना है।

हिन्दी विभाग, वर्धमान विश्वविद्यालय

जैन आगम साहित्य में प्रकीर्णक ग्रन्थों का स्थान

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। हिन्दुओं के लिए वेद, बौद्धों के लिए त्रिपिटक, पारसियों के लिए अवेस्ता, ईसाईयों के लिए बाइबिल, और मुसलमानों के लिए कुरान का जो स्थान और महत्व है, वही स्थान और महत्व जैनों के लिए आगम साहित्य का है। सम्पूर्ण जैन आगम साहित्य—अर्द्धमागधी आगम साहित्य और शौरसेनी आगम साहित्य, ऐसी दो शाखाओं में विभक्त है। इनमें अर्द्धमागधी आगम साहित्य न केवल प्राचीन है अपितु वह महावीर की मूल वाणी के निकट भी है। शौरसेनी आगम साहित्य का विकास भी अर्द्धमागधी आगम साहित्य के प्राचीन स्तर के इन्हीं आगम ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। अतः अर्द्धमागधी आगम साहित्य शौरसेनी आगम-साहित्य का आधार एवं उसकी अपेक्षा प्राचीन भी है।

प्राचीन काल में अर्द्धमागधी आगम साहित्य—अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य, ऐसे दो विभागों में विभाजित किया जाता था। अंग प्रविष्ट में ग्यारह अंग आगमों और बारहवें दृष्टिवाद को समाहित किया जाता था। जबकि अंग बाह्य, में इनके अतिरिक्त वे सभी आगम ग्रन्थ समाहित किये जाते थे, जो श्रुतकेवली एवं पूर्वधर स्थविरों की रचनाएं माने जाते थे।

वर्तमान में आगमों के अंग, उपांग, छेद, मूलसूत्र और प्रकीर्णक आदि विभाग किये जाते हैं। यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम विधिमार्गग्रंथा

(13वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है।¹ सामान्यतया प्रकीर्णकों का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रन्थ ही किया जाता है। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि के अनुसार तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण, प्रकीर्णकों की रचना करते थे। परम्परागत मान्यता है कि प्रत्येक श्रमण, एक-एक प्रकीर्णक की रचना करता था। समवायोंगसूत्र में “चौरासीं पण्णगसहस्साहं पण्णत्ता” कहकर ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों के चौरासी हजार प्रकीर्णकों की ओर संकेत किया गया है?² आज यद्यपि प्रकीर्णकों की संख्या निश्चित नहीं है, फिर भी आज 45 आगमों में दस प्रकीर्णक माने जाते हैं। ये दस प्रकीर्णक निम्नलिखित हैं:-³

- (1) चतुःशरण (2) आतुरप्रत्याख्यान (3) भक्तपरिज्ञा (4) संस्तारक (5) तंदुलवैचारिक (6) चन्द्रकवेध्यक (7) देवेन्द्रस्तव (8) गणिविद्या (9) महाप्रत्याख्यान और (10) वीरस्तव।

इन दस प्रकीर्णकों के नामों में भी भिन्नता देखी जा सकती है। कुछ ग्रन्थों में चन्द्रकवेध्यक और वीरस्तव के स्थान पर मरणसमाधि और गच्छाचार को गिना गया है।⁴ कहीं संस्तारक को नहीं गिनकर उसके स्थान पर गच्छाचार और मरणसमाधि को गिना गया है।⁵

दस प्रकीर्णकों को श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय आगमों की श्रेणी में मानता है। परन्तु प्रकीर्णक नाम से अभिहित इन ग्रन्थों का संग्रह किया जाये तो निम्न बाईस नाम प्राप्त होते हैं⁶—

- (1) चतुःशरण (2) आतुरप्रत्याख्यान (3) भक्तपरिज्ञा (4) संस्तारक (5) तंदुलवैचारिक (6) चन्द्रकवेध्यक (7) देवेन्द्रस्तव (8) गणिविद्या (9) महाप्रत्याख्यान (10) वीरस्तव, (11) ऋषिभाषित (12) अजीवकल्प (13) गच्छाचार (14) मरणसमाधि (15) तित्थोगालि (16) आराधनापताका (17) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (18) ज्योतिष्करण्डक (19) अंगविद्या (20) सिद्धप्राभृत (21) सारावली और (22) जीवविभक्ति।

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं, यथा—“आउरपच्चकखान” के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रकवेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान—ये सात प्रकीर्णक तथा कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति—ये दो प्रकीर्णक, अर्थात् वहां कुल नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है।⁷

यद्यपि यह सत्य है कि प्रकीर्णकों की संख्या एवं नामों को लेकर जैनाचार्यों में परस्पर मतभेद देखा जाता है। साथ ही आगमों की शृंखला में प्रकीर्णकों का स्थान भी द्वितीयक है, किन्तु यदि हम भाषागत प्राचीनता और अध्यात्म-प्रधान विषय-वस्तु की दृष्टि से विचार करें तो कई प्रकीर्णक, कुछ आगमों की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित आदि ऐसे प्रकीर्णक हैं, जो उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं।⁸ ऋषिभाषित की प्राचीनता और उसकी विषयवस्तु की विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए

प्रो. सागरमल जैन लिखते हैं, “यह सुनिश्चित सत्य है कि यह ग्रन्थ जैन धर्म एवं संघ के सुव्यवस्थित होने के पूर्व लिखा गया था। इस ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि इसके रचनाकाल तक जैन संघ में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का पूर्णतः अभाव था।”⁹ सुप्रसिद्ध जैन मनीषी श्री जोहरीमलजी पारख के अनुसार इस प्रकीर्णक की प्राचीनता एवं विषयवस्तु आदि की दृष्टि से बहुत महत्ता है। इसके स्वयं के संदर्भों के बल पर यह प्रकीर्णक आगम में शुमार होने योग्य है।¹⁰

विषय वस्तु की दृष्टि से सर्वाधिक आठ प्रकीर्णक समाधिमरण से संबंधित हैं, यथा (1) महाप्रत्याख्यान (2) आतुरप्रत्याख्यान (3) मरण विभक्ति (4) मरणसमाधि (5) मरणविशुद्धि (6) संलेखनाश्रुत (7) भक्तपरिज्ञा और (8) आराधना।

समाधिमरण से संबंधित इन सभी ग्रन्थों को एक ग्रन्थ में समाहित करके उसे “मरणविभक्ति” नाम दिया गया है। उपलब्ध मरणविभक्ति में महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान आदि उपरोक्त आठ प्रकीर्णक ग्रन्थ समाहित हैं। इन आठ ग्रन्थों में से मरणविभक्ति, मरणसमाधि, संलेखनाश्रुत, भक्त परिज्ञा, आतुर-प्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान इन ग्रन्थों के नाम हमें नन्दीसूत्र मूल और उसकी चूर्णी में मिलते हैं।¹¹ किन्तु शेष दो ग्रन्थों- मरणविशुद्धि और आराधना के नाम नन्दीसूत्र मूल और उसकी चूर्णी में उपलब्ध नहीं हैं। समाधिमरण का विवेचन करने वाले इन प्रकीर्णक ग्रन्थों में रागात्मकता एवं आसक्ति त्याग पर विशेष बल दिया गया है। ये समस्त प्रकीर्णक समाधिपूर्वक मरण करने की प्रक्रिया एवं उसके महत्व का प्रतिपादन करते हैं। साधक को समाधिमरण की स्थिति में अपनी मनोवृत्तियों को किस प्रकार रखना चाहिए, इसका भी इनमें सुन्दर विवेचन हुआ है।

चन्द्रकवेय्यक प्रकीर्णक अध्यात्म साधना प्रधान प्रकीर्णक है। इसमें मुख्य रूप से गुरु-शिष्यों के संबंधों एवं शिष्यों को वैराग्य की दिशा में प्रेरित करने वाली उपदेशात्मक गाथाओं का संकलन है।

देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक अध्यात्मपरक अथवा आचारपरक न होकर स्तुतिपरक ग्रन्थ है। देवलोक एवं देवनिकाय की जानकारी कराने वाला यह प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें जैन खगोल एवं भूगोल का भी आंशिक विवरण प्राप्त होता है।

मानुषोत्तर पर्वत के आगे स्थित द्वीप समुद्रों का सांगोपांग एवं सुव्यवस्थित विवरण द्वीपसागर प्रज्ञप्ति प्रकीर्णक में उपलब्ध होता है। जैन परम्परा में जगत की संरचना संबंधी जानकारी कराने वाला यह एक मात्र पद्यात्मक ग्रन्थ है।

तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक में मानव जीवन के विविध पक्षों, यथा- गर्भावस्था, मानव शरीर रचना, उसकी सौ वर्ष की आयु के दस विभाग, उनमें होने वाली शारीरिक क्रियाएं एवं उसके आहार आदि का पर्याप्त विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में शारीरिक विकृतियों के साथ ही नारी-चरित्र की विकृतियों को भी उभार कर प्रस्तुत किया गया है, ताकि व्यक्ति का उनके प्रति रागभाव एवं आसक्ति समाप्त हो। प्रस्तुत ग्रन्थ

के ग्रन्थकार की नारी निन्दा के पीछे मूलभूत दृष्टि मनुष्य की कामासक्ति को समाप्त करना है। वहां नारी-निन्दा, निन्दा के लिए नहीं है, अपितु मनुष्य को अध्यात्म और वैराग्य की दिशा में प्रेरित करने के लिए ही है।

महानिशीथसूत्र, वृहत्कल्पसूत्र तथा व्यवहार सूत्र आदि छेदसूत्रों के आधार पर रचित गच्छाचार प्रकीर्णक में साधु-साध्वियों के गच्छ की आचार परम्परा का विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है। ग्रन्थ में आचार्य, साधु और साध्वी ऐसे तीन भागों में उनकी योग्यता और गुणों का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

गणिविद्या प्रकीर्णक में दिवस, तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त, शकुन एवं ज्योतिष व निमित्त आदि का विवेचन किया गया है। ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक में भी गणित ज्योतिष की अति प्राचीन व मौलिक सामग्री उपलब्ध है। इस प्रकार प्रत्येक प्रकीर्णक प्रायः सुसंहत विशिष्ट विषय-वस्तु वाला है।

प्रकीर्णक ग्रन्थों की विषय-वस्तु का श्वेताम्बर परम्परा मान्य आगम ग्रन्थों एवं दिगम्बर परम्परा मान्य शौरसेनी साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से खड़ा होता है कि इसमें उपलब्ध होने वाली समान गाथाएं प्रकीर्णक साहित्य से आगम, निर्युक्ति तथा यापनीय परम्परा मान्य मूलाचार व भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में गई है अथवा उनमें से ये गाथाएं प्रकीर्णक ग्रन्थों में ली गई हैं? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दे पाना एक जटिल समस्या है।

आगम ग्रन्थों में जहां प्रकीर्णक साहित्य की गाथाएं मूल अंग के रूप में ही प्रतीत होती हैं। वहां इस संभावना से अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वहाँ से ये गाथाएं प्रकीर्णकों में गई हों किन्तु उत्तराध्ययन, ज्ञातार्थकथा तथा अनुयोग द्वार आदि आगम ग्रन्थों में प्रकीर्णक ग्रन्थों की कुछ गाथाएं ऐसी मिलती हैं जो वहां अन्यत्र से उद्धृत की गई ही लगती हैं, क्योंकि वहां वह ग्रन्थ या ग्रन्थांश गद्य रूप में है और ये गाथाएं पद्य रूप में हैं, इसलिए उन गाथाओं को वहां उद्धृत मानना समीचीन होगा।

जहां तक निर्युक्ति साहित्य में उपलब्ध होने वाली प्रकीर्णक ग्रन्थों की समान गाथाओं का प्रश्न है, हमें सर्वप्रथम यह निर्णय करना पड़ेगा कि निर्युक्तियों का रचनाकाल कब का है? यदि निर्युक्तियों को द्वितीय भद्रबाहु की रचना माना जाए तब तो संभावना बनती है कि ये गाथाएं प्रकीर्णक साहित्य से उनमें गई होंगी, किन्तु विद्वानों ने यह माना है कि कुछ निर्युक्तियां प्राचीन हैं और वे प्रथम भद्रबाहु की ही रचना हैं। ऐसी स्थिति में एक संभावना यह भी बन सकती है कि समान उपलब्ध होने वाली गाथाएं निर्युक्तियों से प्रकीर्णकों में गई हों।

प्रकीर्णक साहित्य में कई ऐसी गाथाएं हैं, जो समान रूप से भिन्न-भिन्न प्रकीर्णकों में उपलब्ध होती हैं। इन समान गाथाओं की प्राप्ति के आधार पर यह निर्णय कर पाना कठिन है कि कौन-सी गाथा किस प्रकीर्णक से किस प्रकीर्णक में गई है।

जहां तक मूलाचार और भगवती आराधना जैसे ग्रन्थों का प्रश्न है,

तो यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि उनमें ये गाथाएं प्रकीर्णक साहित्य से ही गई हैं, क्योंकि मूलाचार में तो आतुषत्याख्यान जैसा पूरा का पूरा प्रकीर्णक ही समाहित कर लिया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में मिलने वाली समान गाथाओं के संबंध में भी हमारा निष्कर्ष यही है कि उनमें प्रकीर्णकों की गाथाएं मूलाचार और भगवती आराधना के माध्यम से गई हैं।

नन्दीसूत्र में उल्लिखित आगम साहित्य की सूची के विभिन्न वर्गों में जिन नौ प्रकीर्णकों के नाम मिलते हैं¹², वे सभी प्रकीर्णक प्राचीन स्तर के प्रतीत होते हैं। इनमें से कोई भी प्रकीर्णक ऐसा नहीं है जो तीसरी-चौथी शताब्दी के बाद की रचना हो।

प्रकीर्णक साहित्य को चाहे उसकी प्राचीनता की दृष्टि से देखा जाये, चाहे विषय-वस्तु की दृष्टि से उसका आकलन किया जाये अथवा व्यक्ति के आध्यात्मिक, साधनात्मक एवं चारित्रिक मूल्यों के विकास में उनका मूल्यांकन किया जाये, प्रकीर्णकों की महत्ता किसी भी प्रकार से आगम साहित्य से निम्न सिद्ध नहीं होती है।

अनुवाद के अभाव में आज प्रकीर्णक ग्रन्थ भले ही आगम ग्रन्थों के समतुल्य अपना स्थान न बना पाये हों, किन्तु जब सम्पूर्ण प्रकीर्णक साहित्य अनुदित होकर जनसामान्य के हाथों पहुंचेगा तब जनसामान्य इनके मूल्य एवं महत्व को समझ पायेगा। जैन समाज का यह दुर्भाग्य रहा कि अध्यात्मप्रधान इन ग्रन्थों की समाज में उपेक्षा होती रही है और इन्हें द्वितीयक स्तर का माना जाता रहा, जबकि आवश्यकता इस बात की है कि उदात्त जीवन मूल्यों को प्रतिपादित करने वाले प्रकीर्णक साहित्य का अध्ययन करके हम इनमें प्रतिपादित जीवन-मूल्यों को जीवन में आत्मसात करें।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- 1- विधिमार्गप्रथा- सम्पा, जिनविजय, पृ० 55
- 2- समवायांगसूत्र- सम्पा, मुनि मधुकर, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्रथम संस्करण 1982, 84वां समवाय, पृ० 143
- 3- पड़णयसुत्ताई- सम्पा. मुनि पुण्यविजय, प्रका. श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, भाग-1, प्रथम संस्करण 1984, प्रस्तावना पृ० 20
- 4- प्राकृत साहित्य का इतिहास- जैन, जगदीश चन्द्र, प्रका. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, ई. सन् 1961, पृ० 123
- 5- वृष्टव्य है- वही, पृ० 123 टिप्पणी।
- 6- पड़णयसुत्ताई- भाग-1, प्रस्तावना पृ० 18
- 7- (क) नन्दीसूत्र- सम्पा. मुनि मधुकर, प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ई. सन् 1982, पृ० 161-162
(ख) पाक्षिकसूत्र- प्रका. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, पृ० 76
- 8- ऋषिभाषित एक अध्ययन- डॉ. सागर मल जैन, प्रका. प्राकृत भारती अकादमी जयपुर, प्रथम संस्करण 1988, पृ० 4
- 9- वही, पृष्ठ 5-6
- 10- आगम, अहिंसा- समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर द्वारा वर्ष 1994 में आयोजित “प्रकीर्णक साहित्य : अध्ययन एवं समीक्षा संगोष्ठी” में श्री जोहरीमल जी पारख द्वारा पठित एवं प्रस्तुत शोध पत्र “प्रकीर्णक आगम” पृ० 9
- 11- (क) नन्दीसूत्र, सूत्र 80
(ख) नन्दी सूत्र, सूत्र 80, चूर्णी पृ० 58
- 12- नन्दीसूत्र, सूत्र 76, 79-80

पारम्परिक लोककलाएँ और उनका आजादीकरण

सब कलाओं में लोककलाएं आजकल बड़ी चर्चा का विषय बनी हुई हैं। कोई भी सभा, समारोह, उत्सव हो उसका लोककलात्मक रूप-रंग आवश्यक हो जाता है। बोलीचाली, पहनावा, खानपान, लेखन, सजा सबके सब लोकपन से प्रगाढ़ हो रहे हैं। लोकमान, लोकरंग, लोकमानस, लोकचर्चा, लोकार्पण, लोकोत्सव, लोकाभिनंदन, लोकधन, लोकमन, लोकनीति, लोकगायक, लोककला, लोकशिक्षण, लोकगीत, लोकसंस्कृति, लोकधर्म जैसे तीसों-पचासों शब्द वजनी बने हैं। साहित्य के इतिहास में यह पक्ष जितना नकारा गया उतना ही अब जुड़कर साहित्य और इतिहास और अन्य विषयों को श्री प्रदान कर रहा है। लोकश्री और कलाश्री की तूती अब चहुँओर बोली जा रही है।

यह शुभ लक्षण है कि लोककलाएँ जो अब तक अपने ही अंचल की सीमा और शोभा बनी हुई थीं, अब उनका विस्तार हुआ है। वे अपनी देहरी से देश-देशांतर में छलांगी हैं। उनकी आंचलिक गंध-सुगंध में कई तरह की हवाएँ आ मिली हैं पर इससे कई खतरे भी खड़े हो गये हैं। जो जमीन इनको जकड़ी हुई थी उसकी जड़ें अब जर्जरायमान हुई जा रही हैं। एक ठहराव, अलगाव और टूट की अजीब स्थिति ने ऐसे संक्रमण को जन्म दे दिया है, जिससे लोककलाओं के विविध रूप आपाधापा गये हैं। इन कलाओं के साथ जो अनुष्ठान, आस्थाएँ, उत्सव और यजमान आजीविका से जुड़े हुए थे, उन्हें सहसा ऐसा धक्का

लगा है कि सारा वातावरण हक्काबक्का-सा हो गया है। संक्रमण की यह स्थिति कहीं-कहीं अतिक्रमण तक पहुँच गई है।

कई कलाविधाएँ अपना ऐसा हुलिया कर गई कि वे अब पहचानी ही नहीं जा रही हैं। कुछ का तो अपहरण और कड़्यों का मरण हो गया है। कई नकलची असलची बन बैठे और जो असली हैं उनके भाव भूँगड़े के भी नहीं रहे हैं। कुछ अच्छे कलाकारों को मान-सम्मान और पुरस्कार का भभका देकर उन्हें अपनी जमीन से भी तोड़ दिया गया। कुछ जो वस्तुतः मान-सम्मान के योग्य थे उन्हें वह योग्यता नहीं मिलने से उनका दिल मर गया और एक अजीब दर्द बढ़ गया है। बहुत से एजेन्ट, दलाल इन कलाओं के उन्नायक, उद्धारक बनकर प्रकट हुए, जिन्होंने कलाओं का तो हलाल ही अधिक किया बल्कि अपना उद्धार कर कलाकारों और उनकी कलाओं को उल्टा बदरंग कर दिया।

अपने ही अंचल में पूरा नहीं चल पानेवाला कलाकार रेत को भी परस नहीं कर जब हवाई जहाज में उड़कर अपने राष्ट्र को छोड़ दूसरे राष्ट्रों में चला गया तो उसका जीव रोटले और राबड़ी के बिना मचमचियाने लगा और उसकी कला देख सुन अपने लोगों से जो मन-तन का मोद मिलता था, वह उसे नहीं मिला पर जो कुछ मिला उसका चस्का भी एक ऐसी लार दे गया कि उसे उसकी जमीन और उसका जीवन ही टाटपटा सा दिखाई देने लगा।

जो कलाकार चलन में आ गये वे चांदी तो पा रहे हैं पर उनकी कला सोने से पीतल-कथीर हुई जा रही है। इन्हीं कलाकारों से जब मैं पूछता हूँ कि अपने पीछे किसी को वे तैयार भी कर रहे हैं? तो वे बोलते हैं- “अब कोई दम नहीं रहा है।” कई कलाकार सामंती युग को ही याद कर सिसकियाँ भरते हैं। कहते हैं- “तब अदब इज्जत से हमारी कलाओं को देखा-सुना जाता था। मूल भावना तो यह है कि अब कोई असली कला समझने वाला भी नहीं रहा और यदि हम आज की समझ माफिक अपने को बनालें तो कला का कूंडा ही हो जाय।”

सामूहिक गान और नृत्य के वे जमाने जैसे लद से गए हैं। तब समूह में भी प्रत्येक कलाकार अपने को प्रगटाता हुआ समग्र माहौल को एक अजीब और अद्भुत आनन्द देता था। कोई कलाकार कोई गीत पंक्ति गाता तो दूसरा उसी पंक्ति को पकड़ अपना कुछ मिलाता। तीसरा उसे और निराला स्वर देता। फिर पहला और दूसरा और तीसरा उसे पकड़ता हुआ अपना ओज और माधुर्य और ठसक और अंग अभिनय देता रहता। और इस तरह उनकी बारी-बारी में गीत को जो रंग मिलता वह देखते ही बनता था। अब जैसे चीराफाड़ी कर दी गई है। हर चीज ऐसी बना दी गई है कि जैसे उसका भोग तो निकाल दिया गया है और उस पर अट्ट्यावण ही अट्ट्यावण लथेड़ दिया गया है। विदेशी लोगों ने यहां आकर इन कलाओं और कलाकारों के साथ मिल बैठकर धन आदि का लालच दे उनमें कई रूपों की विकृति को जन्म दिया। इससे यहां के कला अध्येता भी उनकी तुलना में अधिक खर्च नहीं

करने पर अपने मनमाफिक अध्ययन से वंचित हो गये।

गांवों में मैं कई जगह जाता हूँ। घरों में, खलिहानों में लोगों से बातें करता हूँ। गीत सुनता हूँ, नृत्य देखता हूँ पर अब वह बात नहीं रही जो 25-30 बरस पूर्व थी। तब बड़ी आत्मीयता थी लोगों की बातचीत में, मिलने मिलाने में पर अब जैसे उन्हें फुर्सत ही नहीं है।

घुमक्कड़ जातियों के तो हाल ही बेहाल हो गये हैं। हर पंक्ति और हर गीत का जब तक उन्हें पारिश्रमिक नहीं मिलेगा वे आगे आपका काम नहीं होने देंगे। एक चित्र भी खींचा तो बिना उसका पारिश्रमिक लिए वे आपको वहां से हिलने नहीं देंगे। दिनभर बैठे रहेंगे मगर कोई जानकारी वे बिना कुछ लिए और वह भी अपनी मरजी का, आपका कोई काम नहीं करेंगे न अन्यो से ही करवाने देंगे। यह सब उन विदेशी अध्येताओं का खेल रहा जो जल्दी-फल्दी में आते हैं और मनमाना पैसा लुटाकर अपना काम कर ले जाते हैं।

पर हम इस सत्य को भी नहीं छुपा सकते कि जो काम विदेशियों ने किया वह काम उतने अच्छे ढंग से यहां के लोग नहीं कर पाये। साधन सुविधाओं से सम्पन्न होने के कारण विदेशी लोग आंख मींचकर पैसा बहा तो देते हैं पर यहां की संस्कृति, भूमि, भूगोल और समग्र परिवेश का परिचय नहीं होने के कारण वे जो कुछ अध्ययन-निष्कर्ष वहां जाकर देते हैं उसमें बड़े फोड़े नजर आते हैं। कई बार भारत में भी उन्हें सही अध्येता नहीं मिल पाने के कारण वे कई गलत सूचनाओं को बटोर ले जाते हैं। मुझे मालूम है, कई लोग एक ही विधा का अध्ययन करने इसीलिए बार-बार आते हैं कि उन्हें सही स्थान, व्यक्ति और विधा तक की जानकारी नहीं मिल पाती है और तब वे अपना सिर ठोकने लगते हैं।

यह ठीक है कि लोककलाएं किसी भू-भाग विशेष की धरोहर होती हैं परन्तु उनकी मूल उद्भावनाओं के अंश-अंश को तो विश्व के न जाने कितने भू-भाग को नापते-समेटते पाये जाते हैं। राजस्थान के सर्वाधिक लोकप्रिय पणिहारी गीत का कथा-बिंदु विश्व के कई भागों में प्रचलित है। लोककथाओं की, बालगीतों की, लोरियों की भी यही स्थिति देखने को मिलेगी। कोई घुमक्कड़ अध्येता यदि लोककलाओं की अध्ययन-यात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय देशाटन करे तो उसे यह जान बड़ा अचरज होगा कि जहां-जहां मनुष्य हैं वहां-वहां की लोककला और लोकसंस्कृति का मूल उठाव समानधर्मा है। कलामण्डल में आये दिन आने वाले विदेशी अनुसंधित्सु-अध्येताओं से जब वार्ता-विमर्श होता है, तो पता लगता है कि इन कलाओं का सारा संसार एक है।

राजस्थान की पड़ों पर अध्ययन कर रहे ब्रिटेन के डॉ. स्मिथ कला-मण्डल में भी मिले और जोधपुर में कोमल कोठारीजी के घर भोपों के साथ रेकार्डिंग करते हुए भी मिले। पाबूजी की पड़ पर इन्होंने रातदिन एक कर बहुत ही समृद्ध और अच्छी सामग्री का संकलन किया है। जब मैंने इनसे पूछा कि पड़ों की तरह उनके उधर भी ऐसी कोई प्रचलित शैली है क्या तो उन्होंने बताया कि यूरोप में पड़वाचन से ही मिलती-जुलती एक शैली है जिसमें चित्रावली में सिसली के डाकुओं

की कहानी गूंथी होती है। पड़ ही की तरह इस चित्रावली के चित्रों को इंगित कर-कर कहानी गाई जाती है।

पाबूजी देवनारायणजी के भोपे भी पड़-चित्रावली के चित्रों को इंगित करते हुए एक-एक चित्र की गाथा-गायकी देते हैं और रात-रात भर नाच-गाकर श्रद्धालु भक्तों की मनौती पूरी करते हैं। मैंने जब डॉ. स्मिथ को बताया कि राजस्थान में माताजी की पड़ एक ऐसी पड़ है जिसका वाचन नहीं किया जाता पर जिसे चोर लोग रखते हैं और जब वे चोरी करने निकलते हैं तब उसकी मानता करते हैं। उसकी पूजा करते हैं और शुभ शकुन लेते हैं। बावरी व वागरी लोग इसे खासतौर से मानते हैं।

इस पड़ चित्रकारी के चित्तेरा जोशी खानदान के हैं जो मूलतः भीलवाड़ा जिले के पुर गांव के हैं। तब इसका नाम पुरमांडल था। बाद में शाहजहां ने जब शाहपुरा बसाया तो मेवाड़ के कलाकार मागे। महाराण ने तब यहां के चित्तेरों को शाहपुरा भेजा। सबसे पहले पांचाजी गये।

वर्तमान में पड़ चित्रकारी के लिए श्रीलालजी जोशी बड़े नामी कलाकार हैं। इन्होंने पारम्परिक पड़ शैली में कई नये प्रयोग किये। बारामासा रागमाला से लेकर प्रताप, पद्मिनी, हल्दीघाटी, ढोला मारू, पृथ्वीराज जैसे राजस्थानी ऐतिहासिक कथानकों पर पड़-चित्रांकन किया। यह प्रयोग भित्तिचित्रों में भी किया। सिल्क पर पड़ांकन कर भी किया। मास्को, स्वीडन, जापान, पाकिस्तान, नेपाल में भी किया। देश-विदेश के कई संग्रहालयों, बड़ी बिल्डिंगों, होटलों में भी किया। इस कला से प्रभावित हो भारत सरकार के डाकतार विभाग ने देवनारायण के पड़ चित्र पर श्रीलालजी के बहुरंगी रेखांकन का, डाक टिकिट भी जारी किया।

हंगरी के रोडेल्फ वीग राजस्थान की घुमक्कड़ जातियों पर अध्ययन करने आए तो उन्हें उदयपुर की कालबेलिया कॉलोनी में ले गया। वे यह जानना चाहते थे कि उनके उधर जो घुमक्कड़ जातियां हैं वे भारत से ही कभी उधर पहुंची दीखती हैं। उधर की उन जातियों के लोकसंगीत पर उन्होंने गहराई से अध्ययन किया था। यहां भी वे मुख्यतः इन जातियों के लोकसंगीत पर ही अध्ययन करना चाहते थे। मैंने जब कुछ कालबेलियों के गीतों का रेकार्डिंग करवाया तो वे इधर की भाषा से परिचित नहीं होते हुए भी उछल पड़े और कह बैठे कि मेरा भारत आना सार्थक हो गया है। उधर की जातियों के अध्ययनोपरांत मेरा मन यह कह रहा था कि ये लोग भारत से ही चलकर यहां आ बसे हैं। आज यह बात सही उतर गई है। वहां की घुमक्कड़ जातियों का लोकसंगीत भी ठीक इसी प्रकार का है।

ताशकंद में जोगियों की एक बस्ती है जो तंदूरे पर भक्तिगीत गाकर अपना जीवन बसर करती है। अध्ययन करने पर पता लगा कि उदयपुर का आलम जोगी वहां पहुंच गया और बस गया। उसी से धीरे-धीरे जोगियों की एक बस्ती हो गई। बही पहनावा, संगीत, वाद्य, संस्कृति और सब कुछ। पिछले दिनों न्यूयार्क विश्वविद्यालय के संगीत प्रोफेसर ट्राइटल ने जब कलामण्डल संग्रहालय के वाद्य कक्ष में रखे रेगिस्तानी मांगणिहारों का मोरचंग वाद्य देखा तो कहा कि अमेरिका में भी यह

वाद्य बड़ा लोकप्रिय है। वहां इसे जुसहार्फ कहते हैं जो राजस्थान की ही देन है।

अमेरिका के ही परामनोविज्ञान वेत्ता डॉ. इयान स्टीवेन्सन ने नई दिल्ली में अणुव्रत की किसी विचार गोष्ठी में बच्चों में पाये जाने वाले लासण चिन्ह के बारे में जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा रखी तो 'अणुव्रत' पत्र के तत्कालीन सम्पादक मेरे मित्र भानीराम 'अग्निमुख' ने 'रंगायन' का वह अंक उन्हें दिया जिसमें मैंने लासण पर लिखा था। बच्चों की अकाल मृत्यु पर मरने के पश्चात् उनकी माताएं बच्चे के कूल्हे, गाल, जंघा या जहां कहीं भी तेल, कंकू, मेहदी, काजल आदि किसी का निशान लगा देती हैं, इस विश्वास में कि जहां भी इसका अगला जन्म हो यह अकाल मृत्यु को प्राप्त न हो। अंगुलियों के ये ही निशान बच्चे के अगले जन्म पर देखने को मिलते हैं जो 'लासण' कहलाते हैं।

भानीरामजी ने मुझे जब सूचना दी कि रंगायन में दी गई जानकारी डॉ. स्टीवेन्सन के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है और अमेरिका में वे उस पर बड़ी गहरी शोध कर रहे हैं तो मुझे इस बात का संतोष अवश्य हुआ कि कभी-कभी ऐसी चीजें भी बड़ी महत्वपूर्ण हो जाती हैं जिन पर हमारा खास ध्यान नहीं जाता। यही कारण है कि जो भी सूचनायें मुझे मिलती हैं, मैं सबसे पहले उन्हें लिपिबद्ध कर कहीं न कहीं उजागर करने को तत्पर रहता हूं।

रुमानिया की 'दी इन्स्टीच्यूट ऑफ एथनोग्राफी एण्ड फोकलोर ऑफ बुखारेस्ट' की प्रिंसिपल श्रीमती धीजेला सन् 72 की ऐन दीवाली पर, उदयपुर आई। उन्हें शहर तथा यहां की पारंपरिक बस्तियों की दीवाली दिखाई गई।

मिट्टी के झिलमिलाते दीपों को देखकर धीजेला ने कहा कि उनके उधर भी कुछ बस्तियां इसी प्रकार का माटी-दीपों का त्यौहार मनाती हैं। उन्हें जब तीर्थयात्रा से लौटने पर पथवारी पूजा और पथवारी के संबंध में बताया गया तो यही प्रथा उधर भी प्रचलित है, जाना। प्रातःकाल जब बहुत जल्दी कार्तिक नहाती महिलाओं से उन्हें कहानियां सुनवाई गई तो धीजेला ने कहा कि ठीक यही प्रथा उधर भी प्रचलित है। वहां भी महीने-महीने भर औरतें प्रातः इसी प्रकार नहाती हैं, पूजा करती हैं और कहानियां कहती हैं। इसी दौरान जब उन्हें कुछ लोरीगीत टेप कराये गए और उनका भावार्थ बताया गया तो उधर भी ऐसे ही लोरीगीतों का प्रभाव होना पाया गया। दशामाता जैसी व्रतकथाएं उधर भी प्रचलित हैं। मेरी सुपुत्री डॉ. कविता मेहता ने दशामाता व्रतकथाओं के सांस्कृतिक अध्ययन पर पी-एच.डी. की। फ्रांस की फेडेरिका बोस्केटी भी मेरे से मिलीं जो दशामाता की कथाओं पर शोध कर रही हैं।

काष्ठकला की दृष्टि से कावड़ का बड़ा नाम है। कोई दस पीढ़ी से चित्तौड़ जिले का बसी गांव इस कला का मुख्य स्थल बना हुआ है। यहां के खैरादी अपने कावड़ चित्रांकन द्वारा देश-देशांतर में नाम किये हैं। ये लोग नागौर से यहां आकर बसे हैं। पहला परिवार पोलूरामजी का था।

कावड़ विविध कपाटों का एक चलमंदिर है, जिसके हर कपाट पर

तरह-तरह की चित्रावली की जाती है। इन चित्रों में रामजीवन की बहुलता रहने के कारण इसे 'रामजी की कावड़' भी कहते हैं। कावड़िया भाट इसे अपनी बगल में दबाये गांव-गांव घर-घर घुमाता है और कपाट खोलता हुआ चित्रों से संबंधित गाथा-पंक्ति का वाचन करता है। लोग कावड़ में चित्रित महापुरुषों, देवी-देवताओं, भक्तों, तीर्थों आदि के दर्शन कर अपना जीवन सार्थक करते हैं। कावड़िया की यही आजीविका है। लोग कावड़-दर्शन पर धानचून आदि की भेंट भेंटायण देते हैं।

इस कावड़ चित्रावण में यहां के मांगीलाल मिस्त्री ने बड़े अच्छे प्रयोग किये। मिस्त्री ने महाभारत, कृष्णलीला, गांधी चरितावली, प्रताप, मीराबाई, गोपीचन्द्र, ढोलामारू, प्रौढ़शिक्षा, उन्नत खेती, स्वर्ग-नर्क आदि को लेकर कई कावड़ें बनाईं जो देश में ही नहीं, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, स्वीट्जरलैंड आदि में भी ले जाई गईं जो वहां के संग्रहालयों की शोभा बनी हुई हैं।

पोलैंड के बूज विश्वविद्यालय के कल्चरल एन्थ्रोपोलोजी के प्रोफेसर डॉ. वोल्स्की ने कलामण्डल के संग्रहालय के आदिवासी कक्ष में भीली महिला को घेरदार घाघरा, चोली तथा गले व हाथ पांवों को आभूषणों से लदा पाया तो कह उठे कि उधर की आदिवासी औरतें भी ऐसा ही पहनावा पहनती हैं। बड़ा घेरदार घाघरा, चोली, बड़ी चोटी, गले में चांदी के बड़े हार, माथे पर झेले, पांवों में धुंधरूदार झांझर और हाथों में बीस-बीस चांदी की चूड़ियां। उन्होंने बताया कि उधर करीब 6 हजार आदिवासी हैं। ये आदिवासी महिलाएं सिंगाका कहलाती हैं। इधर के आदिवासियों की तरह उधर भी गूदनों के अंकन बड़े लोकप्रिय हैं।

डॉ. वोल्स्की ने यह भी बताया कि जैसे इधर सड़क के किनारे बैठकर महिला-पुरुष राह चलते व्यक्तियों को आकर्षित कर उनका भविष्य बताते हैं, ठीक इसी तरह उधर भी महिलाएं ताश के पत्तों के माध्यम से राह चलते मुसाफिर को आवाज दे देकर उसका भविष्य बताती हैं। आदिवासियों में कुछ लोकगीत तो ऐसे लगे जो इधर भी प्रचलित हैं और समानभावी हैं। एक गीत उन्होंने बताया जिसका आशय था- 'मैं अपनी राह पर अकेली जा रही। लड़के ने देखा मुझे। छुप-छुपकर घूर रहा था वो। ओ भगवान! मैं तो मर गई।' लड़की का यह गीत मिलाइये इधर के गीत से- 'मूं तो म्हारे गैले जाती। छेले छाने देखीरे, क मरगी मूं तो लाज में, के लाज्यां मरगी रे।'

प्रसिद्ध तीर्थ हल्दीघाटी के पास मौलेला नामक गांव में लोक देवी-देवताओं की जो मिट्टी की मूर्तियां वहां के कुम्हारों द्वारा बनाई जाकर देव-देवों में प्रतिष्ठित की जाती हैं वैसे ही मेक्सिको के मातामुसेज नामक गांव में माटी की मूर्तियां बनाई जाती हैं जिन पर नाना प्रकार के वृक्षलता तथा पशुपक्षियों की आकृतियां उकेरी जाती हैं। ये मूर्तियां ईसाई संतों की होती हैं जो बिना किसी सांचे से बनाई जाती हैं और आग में पकाने के बाद लाल रंग से रंग दी जाती हैं।

ब्रिटेन एवं ग्रीस में गेहूं के, घास के वैसे ही गजरे तथा अन्य कलात्मक चीजें बनाई जाती हैं जैसी राजस्थान के किसान और ग्राम्यवासी बनाते

हैं। ब्रिटेन में फसल काटते समय इस घास से पशु पक्षियों की आकृतियों के तरह-तरह के खिलौने बनाये जाते हैं। ग्रीस में क्रॉस गूँथे जाते हैं जो चर्च जाने वाले श्रद्धालुओं को भेंट किये जाते हैं।

माटी की इन मूर्तियों के अलावा लोक देवी-देवताओं की प्रस्तर प्रतिमाएं भी कई देवों में पूजान्तर्गत मिलती हैं। पूर्वजों की प्रस्तर प्रतिमाओं के विविध अंकन भी बड़े कलात्मक परिवेश लिये देखे जाते हैं। इनमें पुरुष पूर्वज चरि कहलाते हैं जबकि महिला पूर्वजों की प्रतिमाएं मातलोक नाम से जानी जाती हैं। लकड़ी के तोरणनुमा लोकदेवताओं के अंकन में मामादेव और रूपण बहुप्रसिद्ध देवता हैं।

मिट्टी के बने कलात्मक घोड़े भी हमारे यहां पूजे जाते हैं, इन्हें घोड़ाबावसी कहते हैं। आदिवासी भील गरासियों में इनकी बड़ी मानता है। मनौती पूरी होने पर घोड़े चढ़ाये जाते हैं। गरासियों के एक गांव में तो मैंने एक चबूतरे पर सौ-डेढ़ सौ घोड़े चढ़े देखे। विदेशों में भी ये मूर्तियां और घोड़े पहुंच गये हैं। इन्हीं घोड़ों से प्रभावित होकर राजस्थान के विविध अंचलों में दरवाजों पर बने लकड़ी के घुड़लों का एक विदेशी ने बड़ा गहन अध्ययन किया।

लोकदेवी-देवताओं के चांदी, पीतल, तांबे के बने नावों का भी मैंने बड़ा अच्छा संग्रह किया जिन्हें ग्रामीणजन अपने गले में धारण किये रहते हैं। विदेशियों में भी ये नाँवे बड़े लोकप्रिय हुए। रामदेवजी को कपड़े के घोड़े चढ़ाये जाते हैं। ये घोड़े एक फूँदे के आकार से लेकर पांच-पांच फीट तक के देखे जाते हैं। इतने ही बड़े घोड़े और हाथी भी जालोर के एक देवरे में मैंने चढ़े देखे। भीलों की गवरी के विसर्जन पर माटी का बना बड़ा ही कलात्मक हाथी जुलूस के रूप में घुमाया जाता है और अंत में पानी में विसर्जित कर दिया जाता है। बाबा रामदेव पर पेरिस विश्वविद्यालय से डॉ. शिला खान बड़ा महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं जो रामदेवजी के मेले रामदेवरा भी गईं और कई कामड़-परिवारों और अन्य रामदेवजी से जुड़े उपासकों-भक्तों के साथ रहीं।

कपड़ों पर विविध भांत की छापें छापने की परम्परा हमारे यहां बड़ी पुरानी है। लकड़ी की बनी इन छापों से जो पहनावे छापे जाते उनसे विशिष्ट जातियों की पहचान रहती। छपाई के इन कपड़ों ने धीरे-धीरे अपना आंचलिक परिवेश बढ़ाया और पूरे विश्व में अपनी पहचान दी। उसी का परिणाम है कि आज सांगानेर, बाड़मेर, आकोला आदि की छपाई के अंतर्राष्ट्रीय बाजार बने हैं। विदेशी महिलाएं यहां की छपाई के कपड़े पहने फूली नहीं समाती हैं। छपाई के इन बूटों में भारतीय जीवन-परिवेश के जीवंतचक्र परिव्याप्त हुए मिलते हैं।

ऊंट की खाल पर सोने की चित्रकारी करने में बीकानेर के उस्ता कलाकारों ने बड़ी ख्याति पाई। ऐसी ही ख्याति प्रतापगढ़ के सोनी परिवारों ने थेवा कलाकारी में हासिल की। ताश के पत्तों की तरह हमारे यहां गंजफा की टिकटियां किसी समय खूब प्रचलन में थीं। अब गंजफा खेल तो नहीं रहा पर इसकी कलात्मक टिकटियों की बड़ी मांग है। सम्पन्न घरों में हाथी-दांत की टिकटियों पर गंजफा के बड़े कलात्मक अंकन पाये जाते। साधारणतया लकड़ी के गंजफे प्रचलन में रहे। विदेशों

में अब गंजफे की बड़ी मांग है। ऐसे ही सांप-सीढ़ी खेल के कई प्रकार थे। मेरे देखने में एक पुराने कपड़े पर चित्रित किया सांप-सीढ़ी का अंकन आया जिसे मैंने बहुत पहले धर्मयुग में छपाया था। उसके बाद तो कई विदेशी उसके अध्ययनार्थ मेरे पास आये और उसके चित्र ले गये।

यहां के मेंहदी मांडनों ने भी विश्व-बाजार पाया। विशिष्ट अवसरों पर एक नारियल में जो मेंहदी का हाथ-पांव मांडा जाता था, अब व्यापारिक दृष्टि से अपने ही देश में मेंहदी का कलात्मक हाथ बनाने के लिए पांच सौ रुपया तक पारिश्रमिक प्राप्त किया जाता है। केलिफोर्निया में विजय लक्ष्मी नागराजन तमिलनाडु और राजस्थान के मांडणों का तुलनात्मक अध्ययन कर रही हैं। इस संबंध में वे दो दिन के लिए यहां आईं। बता रही थी कि वहां के विश्वविद्यालय पुस्तकालय में मेरी मांडणा पुस्तक से उन्हें मेरे से मिलने की ललक चढ़ी। उनके आने पर मैंने एक और पुस्तक ही मांडणा चित्रों की उन्हें दिखाने को तैयार कर दी। जो सामग्री यहां उन्हें मिली, वे उसे पाकर जैसे निहाल हो गईं।

यहां के जनजीवन में पग-पग पर कला छितराई हुई है। घासफूस की टपरी भी यहां कला विहीन नहीं मिलेगी। कला गहनों में ही नहीं, पहनावे में ही नहीं, शरीर के गूदनों तक में भी मुखरित हुई मिलेगी।

बालों की कंधियां भी यहां बड़ी कलात्मक सज्जा लिये हैं। सिर के बाल भी अपनी कलात्मक गूथान में आकर्षित किये मिलेंगे। यहां महिला की अकेली कंचुकी (कांचली) ही पच्चीस तरह की मिलती है फिर उसकी सिलाई और उस पर उभारे चित्र, कौर किनारी के प्रकार भी चकित कर देने वाले हैं।

लोककला यहां के कोठे कोठियों की, जूते-जूतियों की, चूड़ियों चिलमों की, मांडणें महावर की, आंख में अंजन की, बींदी की, चींदी की, घास के गजरे की, मिठाइयों के भांत की, हर जात की, हर बात की, रितुचर्या की मिलेगी।

बेल्जियम के देनंदरमोड़ नामक नगर में सितम्बर माह में घोड़ी नृत्य का आयोजन सहसा ही राजस्थान के विवाह के अवसर पर आयोजित कच्छीघोड़ी नृत्य की याद करा देता है। जापान में प्रचलित कापुकी नृत्य में राजस्थानी खयालों की छवि देखने को मिलती है। इसमें भी पुरुष पात्र ही महिला पात्रों की भूमिका निभाते हैं। यहीं के नौ नामक नाच में आदिवासी भीलों में गवरी नाच की तरह मुखौटों का प्रयोग होता है।

राजस्थान के घूमर, तेराताली, गैर जैसे नृत्यों की पहचान भी विदेशों में कई स्थानों पर देखने को मिलती है। राजस्थान की सांझी कला न जाने कब किस क्षण कहां-कहां होती हुई हमारे देश के दरवाजों से बाहर निकल फूली महकी। इस सांझीकला को मेरी बिटिया कहानी ने अपनी पी-एच.डी. का विषय बनाया। यहां पानी की सतह पर तथा जमीन पर भी कई तरह की रंग-बिरंगी सांझी-चितरावण कोरी जाती है। श्रीनाथजी के नाथद्वारा मंदिर की केले के पत्तों की सांझी बड़ी प्रसिद्ध

है। इन संझाइयाओं पर जब पहली बार मैंने आज से तीस वर्ष पूर्व लिखा तब विदेश के कई लोग आश्चर्यचकित हुए और इसके लिए भारत आये। हमारे देश के चित्रकारों ने भी सांझी चित्रों से प्रणालेकर बड़े अच्छे प्रयोग किये। संझा के दिनों में मैंने उन्हें मेवाड़ क्षेत्र के आदिवासी गांवों की सैर भी कराई।

लोककला संस्कृति के ये सारे के सारे पक्ष हमारे अध्ययन के लिए बहुत बड़ी जिज्ञासा, बहुत बड़ा स्रोत और एक नहीं नापा जाने वाला विस्तार देते हैं। जहां मनुष्य-मनुष्य के लिए लड़ता है और एक दूसरे की सभ्यता, संस्कृति और जिजीविषा को मटियामेट करने में अपनी सारी कलाबाजी और ज्ञान-विज्ञान के समग्र साधन-स्रोत लगाने की ललक लिये होता है वहां ये कला-सांस्कृतिक थातियां एक दूसरे से गले मिलती हुई अपनी परम्पराओं का साम्राज्य, सत्व और समृद्धि का बखान करती फूली नही समाती हैं।

यह सही है कि एक अंचल विशेष की कलाओं ने दुनिया देखी है मगर यह भी गलत नहीं है कि ज्योंही उन्हें बाहर की हवा लगी, ये गड़बड़ा गई हैं। आजादी के बाद जो कुछ बदलाव आया उसका इन कलाओं पर बहुत असर पड़ा। इनके यजमान उठ गये। रहन-सहन, खानपान और जीवनयापन का जो एक सधाबधा स्वरूप था जब वही डोल गया तो उसके साथ जुड़ी इन कलाओं और कलाकारों का डोलना स्वाभाविक था। इससे कई कला-रूप बिना मौत मर से गये।

मेवाड़ का एक मात्र रासधारी खेल जिसमें राम का वनवासगमन नृत्याभिनीत होता था, सदैव के लिए समाप्त हो गया। भवाइयों का वह पारंपरिक कलाबाजियों वाला रात-रात भर चलने वाला चमत्कृत खेल अब भवाइयों के पास भी नहीं रहा। सामूहिक गान-नाच की सुंदर परंपरा भी गई। अब रेडियो और ट्रांजिस्टर और सिनेमा आ गये तो सारी संस्कृति विकृत होकर कैद हो गई। संस्कृति के नाम पर संकर संस्कृति ने जन्म लिया। टीवी ने तो इन्हें दूरदर्शन की बजाय क्रूर दर्शन ही दे दिया।

अपने अंचल से बाहर निकलने की हवाखोरी और नौकरी की तलाश पाते कलाकारों ने भी इन कलाओं पर कुठाराघात किया है। इससे उन कलाकारों में यह भावना स्वयं घर कर गई कि यह जो पारंपरिक रूप में नाचने गाने का काम उनके पिछड़ेपन का कारण बना है। फलतः यदि उन्हें अपने और अपने समाज का सुधार करना है तो इन्हें जल्द से जल्द छोड़ना है। कई कलावंत जातियों ने इसी भावना से प्रेरित हो अपनी इस पारंपरिक धरोहर से मुक्ति पाई।

बहुरूपी कला की भी यही स्थिति हुई। भीलों ने सामूहिक रूप से गवरी नाचना बंद करने का निर्णय भी इसी आधार पर लिया। कच्छीघोड़ी नाचने वाले, कावड़ बांचने वाले कावड़िया भाट भी अब देखने को नहीं मिलते। बगड़ावत की गाथा और देवनारायण की सम्पूर्ण पड़ गाने वाला अब कोई भोपा नहीं है। गांवों में ख्याल-तमाशे करने वाले कई सशक्त ख्यालदल भी टूट चुके हैं। चैनराम उस्ताद का अब अट्टालीवाला मंचीय तुराकलंगी खेल देखने का नहीं मिलता।

इन कलाओं के पल्लवित और पुष्पित नहीं रहने का कारण यह भी रहा कि वे लकीर की फकीर ही बनी रहीं। उन्होंने हवा के रुख को जरा भी नहीं पहचाना और जमाने के अनुसार नहीं चलकर अपनी पुरानी ढपली ही अलापी। इसी कारण कठपुतली नचाने वाले भाट संख्या में कई होते हुए भी अपने ही हाथों पुतलियों के प्राण खोते रहे और उन्हीं पुतलियों और उन्हीं धागों के बल पर उसी अमरसिंह राठौड़ की पुतली नाटिका को लेकर भारतीय लोककला मंडल के कलाकारों ने बुखारेस्ट में कठपुतलियों के अंतर्राष्ट्रीय समारोह में पहला पुरस्कार प्राप्त कर सारी दुनियां को अचम्भे में डाल दिया। यह कोई जादू नहीं था मगर पुरानी चाल का नयापन था।

कोई भी परम्परा यदि आज के संदर्भ में उपयोगी नहीं है तो वह अर्थहीन है और उसका चलन रहने वाला नहीं है। इन सारी लोककलाओं के पीछे भी यही दर्शन है। यदि हमें इन कलाओं, उनके विविध रूपों को जीवनोपयोगी और अर्थवान रखना है तो उन्हें वैसी की वैसी के रूप में स्वीकार करने का मोह छोड़ना होगा और जो कुछ बदलाव आ रहा है उससे चिंतित हुए बिना उसे खुशी-खुशी स्वीकार करना होगा। लोककलाओं के नैरन्तर्य के लिए यह आवश्यक भी है कि वे कुछ न कुछ नया ग्रहण करती रहें, उसे आत्मसात करती रहें। वे पारंपरिक भी लगे और नया जो कुछ है उससे भी वे विलग न रहें।

राजस्थानी लोककलाएं देश के अन्यान्य भूभागों से अधिक रंगीन, विविध और वैचित्र्यपूर्ण हैं, इसके लिए इस प्रांत को जो बड़ाई मिली वह उचित ही है।

आजादी के बाद जिधर देखो उधर, चारों खूंट, लोककलाओं का विस्तार बढ़ा है। शरद पूर्णिमा की चांदनी जैसे सब तरफ टूटमान हुई फैल जाती है उसी तरह लोककलाएं सर्वलोक में व्याप्त होकर छिटक गई हैं। एक दृष्टि से तो यह ठीक हुआ। इससे लोककलाओं की पहचान बढ़ी। दायरे बढ़े। सांस्कृतिक मेल-मिलाप के सरोकार बढ़े। आंचलिकता पुष्ट हुई। एक छोटी दुनियां की खोह से निकल बड़ी दुनियां का समन्दर मिला। विभिन्न सभ्यताओं, संस्कृतियों और परम्पराओं का आश्चर्यजनक हेलमेल हुआ, किन्तु इससे इन कलाओं की जो स्वतंत्र अपनी वैयक्तिक पहचान थी, उसे जबर्दस्त धक्का लगा।

इस धक्के को हर कोई नहीं पहचान पाया। यह धक्का उसी तरह का है जैसे अपने घर गहरी नींद में सोया व्यक्ति अचानक स्वप्नवत् बिस्तर से उठ चल निकलता है। इस अचानक चल निकलने में वह एक प्रकार के धक्के का अनुभव करता है, जिससे सही-गलत का उसे कोई भान नहीं रहता है। ऐसी ही कुछ धक्कामेल इन कलाओं के साथ देखी जाती रही है।

भवाई को लें। इस नाम से उस नृत्य की पहचान आती है जिसे सिर पर एक के ऊपर एक दस-बारह मटके रखकर नाचा जाता है। मूलतः भवाई एक जाति है जो अपनी कठिन क्रियाओं द्वारा बड़े रोचक संवादों में बड़ा सशक्त अनुरंजन देती है। इस जाति के कलाकार अपने-अपने यजमानों के लिए प्रदर्शन करते हैं। ये कलाकार बड़े विनोदी, वाचाल

और व्यंग्यक होते हैं। अपने नाट्याभिनय में अच्छों-अच्छों के झड़ल्ये उतारने में बड़े दक्ष होते हैं। यजमानी में जरा सी चूक पड़ी कि ये किसी न किसी माध्यम से अपने रंग प्रदर्शन द्वारा उसकी अच्छी खासी मरम्मत कर देते हैं। यही कारण है कि बड़े लोग भवाई को अपने गांव में आया देख उसकी अच्छी खातिरदारी करते हैं और अच्छा नेगचार देकर बिना प्रदर्शन ही बिदा कर देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि यदि इन लोगों के हाथों वह चढ़ गया तो रात भर अपने खेल तमाशों में ये उसकी कलाई खोलकर रख देंगे, जिससे उसका उस गांव में रहना ही दूभर हो जाएगा।

ऐसे भवाई लोगों का, कई नाचों में एक नाच था मटकों का, पर वह तो सोते हुए दोनों पांवों से मटके उठाकर सिर पर रखने की कठिन क्रिया थी। जब दयाराम ने कला मण्डल में पहली बार अपने सिर पर मटके रखकर नाच दिखाया तो कला मण्डल के संस्थापक देवीलाल सामर ने उसका नाम भवाई दे दिया और दयाराम को, जो जाति से भील था, भवाई कलाकार के रूप में प्रस्तुत करना प्रारंभ कर दिया। भवाई के रूप में कला मण्डल के मंच से दयाराम ऐसा चल निकला कि न केवल अपने देश में अपितु विदेशों में तो उसे और भी जादुई कलाकार के रूप में आश्चर्यजनित दृष्टि से देखा गया। खूब-खूब सराहा गया।

इसका आलम यह रहा कि आज भवाई कलाकारों की बहार सब कहीं देखने को मिल रही है। इस भवाई में महिलाएं भी उतर आई हैं। स्कूलों में भी लड़के-लड़कियों की भवाई प्रस्तुतियां विशेष उत्सव-समारोह पर देखने को मिल जाती हैं। भवाई नाच को लेकर कई मण्डलियां ही खुल पड़ी हैं जो यत्र-तत्र मेलों, ठेलों तथा अन्य समारोहों में अपना कमाल दिखाती हैं। शोध छात्र और विद्वान् अध्येता जब भी मेरे पास भवाई से संबंधित जानकारी के लिए आते हैं तो मैं भुसीबत में पड़ जाता हूं कि उन्हें कौनसी शुद्ध जानकारी दें। वह जो सब कहीं दिखाई दे रही है या वह जो हमारे ही अपने आंगन से हमने जारी की या वह जो वस्तुतः सही है और हमने उसे एक सीमा तक छिपी हुई कर रखी है।

एक मजेदार बात घूमर को लेकर हुई। उदयपुर में पश्चिम क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र का मुख्य कार्यालय खोला गया। प्रधानमंत्री राजीव गांधी इसके उद्घाटन को आने वाले थे। इस अवसर पर राजस्थान का घूमर नृत्य प्रस्तुत करने का कार्य मुझे सौंपा गया था। यहां की कुछ सांस्कृतिक संस्थाओं— भारतीय लोककला मण्डल, मीरां कला मंदिर और मीरां कन्या महाविद्यालय से घूमर नाचने वाली कलानेत्रियों का चयन कर उन्हें कई दिनों तक प्रशिक्षण दिया गया। यह ठेठ पारम्परिक घूमर नृत्य था, पारम्परिक गीत, पोशाक, गायकी तथा नृत्य अदायगी का। गणगौर पर किये जाने वाले इस नृत्य में मुख्यतः एक सौ आठ कलियों तक का घेर घुमेरदार घाघरा पहना जाता है और गज-गज भर तक का घूंघट रहता है, लेकिन आखिरी वक्त जब इसकी रिहर्सल पीछोला के किनारे गणगौर घाट पर की गई तो दिल्ली से, बड़ी राजधानी से हवाई-जहाज

में उड़कर आने वाली कोरियोग्राफर ने घूमर नाचने वाली सारी बाइयों के घूंघट ही हटवा दिये यह कहकर कि राजीवजी फिर देख ही क्या पायेंगे जब नाचनेवालों के चेहरे ही ढके रहेंगे।

एक और घटना। इसी सांस्कृतिक केन्द्र द्वारा प्रांतीय राजधानी जयपुर में लोककला का एक बड़ा समारोह किया गया। इस समारोह के साथ लोककला संगोष्ठी भी हुई। समारोह में एक रात पाव्जू की पड़ का प्रदर्शन हुआ। मैं इस प्रदर्शन को देखकर बड़ा चकित हुआ। इस प्रस्तुति में पड़ का कोई चितराम नहीं था। भोपे बने कलाकार के हाथ में माइक थमा दिया गया जिसे लिये-लिये वह पूरे मंच पर भौंड़े रूप में अपना गला फाड़-फाड़ तमाखुड़ी गीत गा गया। उसके साथ उसकी प्रियतमा बनी उसकी पत्नी थी जिसका उच्चारण ही शुद्ध नहीं था। इसी समारोह में दूसरे दिन घूमर का प्रदर्शन हुआ जिसमें वहीं के महाविद्यालय की चालीस लड़कियों को नचवा दिया। इन सबके केसरिया रंग की एक जैसी पोशाक पहनी हुई थी और सब बेघूंघट आधुनिकाएं बनी लग रही थीं, मुंह पर पाउडर थथेड़ा हुआ, होठों पर लिपस्टिक की परत जमाई हुई।

संगोष्ठी में मैंने जब प्रसंगों के माध्यम से अपनी वाजिब बात कही तो सांस्कृतिक केन्द्र की डाइरेक्टर ही नहीं, कला-संस्कृति मंत्री भी बड़ी नाराज हुई। कहने लगीं कि संगोष्ठी में ऐसी बात नहीं करनी चाहिए थी। यहां यह उल्लेखनीय है कि इसी सांस्कृतिक केन्द्र का राज्य सरकार ने मुझे प्रोग्राम कमेटी का स्थापना काल से लेकर दो टर्म (6 वर्ष) तक के लिए सदस्य बनाया। इस दृष्टि से भी सांस्कृतिक केन्द्र से जुड़े लोगों को तो मेरी यह बात अच्छी लगनी चाहिए थी पर सबसे अधिक परेशानी उन्हीं लोगों को हुई जबकि अन्य जितने भी श्रोता तथा इस क्षेत्र के अध्येता-अनुसंधित्सु थे वे बराबर मेरे कथन पर दाद देते रहे पर मैंने देखा, यह दाद अन्त में कड़ियों के लिए खुजली ही सिद्ध हुआ। (दाद का एक नाम खुजली भी है।)

सन् 1967 में मैंने आदिवासी भीलों के अनुष्ठानिक नृत्य बहुप्रसिद्ध 'गवरी' को अपने अध्ययन का विषय बनाया। बड़ी मुश्किल से इस विषय का रजिस्ट्रेशन हुआ। बड़ी मुश्किल से गाइड महोदय को मनाया गया। शोध प्रबंध के परीक्षक हिन्दी के जाने माने समीक्षक थे। उन्होंने मौखिक में स्पष्ट कह दिया कि यह विषय तो निबंध का भी नहीं है परंतु शोधकर्ता को मैं काफी पढ़ता रहता हूं अतः उन्होंने कुछ नया लिखा होगा। इस बेरहमी और बेरुखाई से मुझे पी-एच.डी. प्राप्त हुई। आज तो वह गवरी पूरे देश में गूंज रही है। जगह-जगह उसे लेकर सेमिनार, संगोष्ठियां और राष्ट्रीय कार्यशालाएं तक आयोजित हो रही हैं। आधुनिक नाट्यकारों ने गवरी को लेकर बड़े प्रयोग भी किये लेकिन मुझे तकलीफ तब हुई जब हमारे ही हिन्दी दादाओं ने इस गवरी को अंग्रेजी में पढ़ा और अंग्रेजी से हिन्दी में उसका अनुवाद गवरी की बजाय 'गावदी' नाम से किया। उन्हें यह नहीं मालूम था कि 'गावदी' का अर्थ गवरी के ही अंचल में नासमझ, गंवार, बेवकूफ के रूप में होता है। यही स्थिति गवरी नाच के एक पात्र 'खेतुड़ी' के संबंध में हुई।

खेतुड़ी नाम अनसुना, अचर्चित होने के कारण इसकी जगह 'खेलुड़ी' कर दिया गया।

हाड़ौती क्षेत्र का, कंजर बालाओं का चकरी नृत्य पहले पूरा हाड़ौती भी नहीं देख पाया था किन्तु गत दस वर्षों में इसका सिक्का चला तो ऐसा कि यह सारी दुनियां में व्याप्त हो गया। इस नृत्य को करने वाली कोई डेढ़ दर्जन बालाएं विदेश चली गईं। यह नृत्य चकरी खाती हुई अति तेज घूमरों के लिए प्रसिद्ध है। नृत्यों में इतनी कठिन क्रियाओं को गूँथने में ये बालाएं ही सिद्ध हो सकती हैं। इस नृत्य के साथ ढोलक, नगारी, ढप, झांझ बजती है। यह नगारी, ढोलक भी हर कोई नहीं बजा सकता। जैसी टेढ़ी, सीधी, लंगड़ी चकरियां ली जाती हैं, बैठकें की जाती हैं, फूदी फेरी जाती हैं वैसी ही नगारी और ढोलक बजाई जाती है। इसके साथ फाग गीत गाये जाते हैं। नृत्यमग्न बालिकाएं स्वयं ही फाग गाती हैं। इन फागों की संख्या ही सौ से ऊपर है।

गहराई में जाने से पता चला कि इस नृत्य का चकरी नाम बहुत बाद का दिया हुआ है। मूल नाम तो इसका राई था। राई यानी रात भर किया जाने वाला नृत्य। विवाह-शादियों में आज भी कंजर बालिकाएं रात भर यह नृत्य करती हैं। पूरे दिन और पूरी रात यह नृत्य लगातार करने का रिकार्ड इस जाति में है।

जगह-जगह आकाशवाणी के केन्द्र खुलने से जहां लोककलाओं का व्यापक प्रसारण हुआ, वहां जैसा-तैसा जो कुछ मिला वह भी परोसा जाने लगा। प्रारम्भ में जब जयपुर में यह केन्द्र प्रारम्भ हुआ तब विशिष्ट विधाओं के तपेखपे कलाकार खोज-खोजकर वहां लाये जाते थे, किन्तु ज्यों-ज्यों अन्यत्र केन्द्र खुले, उनके साथ कचरपट्टी के कार्यक्रम जुड़ते गये। लोकगीतों के नाम पर तो सर्वाधिक अनर्थ हुआ। गाने वाले घराने धरे रह गये और उनके स्थान पर कई-नई अधकचरी बेमेल भौंडी आवाजें घुस आईं। गीतों के साथ जो विशिष्ट गायकी, उसकी बंदिश, उसके तराने, मुक्तियां तथा अनुशासन था, वह सब हवा हो गया। गीत भी नये और फिल्मी तर्जें व अन्दाज के बजाये जाने लगे। अल्लुजिलाई बाई ने मांड गीतों में लोकप्रियता प्राप्त की तो वह गायकी और ठसक नहीं होते हुए भी जगह-जगह मांड गायिकाएं पैदा हो आईं।

यही स्थिति खड़ताल वादन के साथ हुई। प्रारम्भ में एक सिद्दीक थे जो बाद में 'पद्मश्री' हो गये। उनके देखादेख अन्य भी खड़ताल बजाने लग गये। इस बीच कोहिनूर नामक बालक ने इस क्षेत्र में प्रवेश कर खड़ताल बजाते-बजाते नाचना प्रारम्भ कर दिया। प्रधान मंत्री राजीव गांधी ने कोहिनूर को प्रोत्साहन स्वरूप घड़ी भेंट की तो कोहिनूर दुनियां का कोहिनूर बन गया। अब उसी के नाम से एक और लड़का भी खड़ताल बजाकर असली-नकली कोहिनूर के रूप में चल निकला है।

ऐसी ही स्थिति नृत्यांगना गुलाबो की है। अब एक गुलाबो की बजाय अन्य गुलाबो भी प्रदर्शन देती हैं। देखने वाले भ्रम में बने रहते हैं। कोहिनूर और गुलाबो अपनी व्यावसायिकता में दौड़े जा रहे हैं। लोककलाओं की जगह-जगह, एक ही नाम की, चलाऊ नाम की, फर्में खुल गई हैं। पेढ़ियां चल निकली हैं। उन पेढ़ियों के अनुसार पंडे

भी हाजिर हैं। इसमें रही सही कसर सरकार ने पर्यटन को आगे कर पूरी कर दी। जगह-जगह मेले और महोत्सव आयोजित कर रेगिस्तान के ऊंट के आभूषण 'गोरबन्द' को भीली महिलाओं का आभूषण करने तक में कोई संकोच नहीं खाया तथा इन कलाओं और कलाकारों को इज्जतदार और आदरणीय बनाने के लिए 'पद्मश्री' तक पकड़ा दी।

टेलीविजन के 'विजन' को किसके साथ 'टेली' करें। लगता है उसकी सर्वोच्च प्राथमिकता ही लोककलाओं को अपंग बनाने की है। राजस्थान के भणंग जैसे वाद्य को अपंग सुनकर मुझे रसखान कवि का वह छंद... 'मानुष हो तो वही रसखान' बार-बार याद आता है। ऐसे कार्यक्रमों को देखते समय मैं गांधीजी के तीन बंदरों वाले खिलौने को अपने टी.वी. से अड़ाये रखता हूं।

रावण ने जैसे गुस्से में आकर पूरी मंडोवर नगरी उलट दी थी वैसे ही हमारे कलाबाज लोग पूरी लोककलाओं को उलट-पुलट करने में लगे हैं। लोक की इस संपदा को लोक से छीनकर अपनी करने में लगे हैं। कला और संस्कृति के साथ दुर्भाग्य तब शुरू हो जाता है जब लोग उसकी सार्वजनिकता का दोहन कर अपनी निज की पहचान देना प्रारम्भ कर देते हैं। यह बहुत पुरानी बात नहीं है, जब व्यक्ति अपने को अनाम करता हुआ समष्टि के लिए सर्वस्व हो जाता था और उसी में अपना सुख, कल्याण और संतोष कर बैठता था। हजारों गीत गाथाएं हरजस साक्षी हैं कि ये सब व्यष्टि के वैभव होते हुए भी समष्टि के लिए 'बहुजनहिताय बहुजन सुखाय' बने हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो मीरां के पदों की संख्या में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि नहीं होती। कबीर के भजन निरक्षरों की महफिल में रात्रि जागरण के तंदूरों पर भक्तिरस की तन्मयता और ताजगी देते नहीं मिलते। आज कहां मीरां लिख रही हैं? कहां कबीर लिख रहे हैं? कहां चन्द्रसखी या कि अणदा रैदास लिख रहे हैं पर कमाल है कि उनके नाम पर आज भी और आने वाले कल भी लिखे जाते रहेंगे।

एक तरफ वे लोग हैं जो इस अगम साहित्य, सहज संस्कृति और सुगम कला में निरन्तर अपना अनाम योग देते हुए बूंद को समुद्र बनाने में लगे हैं तो दूसरी ओर बजट को बाफने के बहाने कई लोग लोककलाओं की खेती में असरपसर गये हैं। कोई नहीं जान पाया कि हजारों प्रदर्शन देने वाली, लोक जन को लुभाने वाली 'गगन सवारी' नामक कठपुतली नाटिका के रचनाकार जगदीशचन्द्र माथुर थे। ऐसे ही प्रयोग अपने भारतीय लोककला मंडल में लोककलाविद देवीलाल सामर ने किये। कुछ मैंने भी किये। औरों ने भी किये पर ये नाम अपवादी हैं।

यह हमारी आदत सी बन गई है कि जिस किसी चीज का हल्ला होता है तो हम विविध विधा-कलाओं में उसे ढूंढने लग जाते हैं। हमने लोककलाओं में पर्यावरण देखा। योग को उर्वेदा। व्यायाम को उकेरा। जनचेतना को मुखरित किया। पड़ों के टाईपीस बनाये और नकली आभूषणों की कलाकारी में असली आभूषणों की चमक बांध दी। साहित्य का इतिहास बनाते-बनाते हमने लोक का इतिहास ही विस्मृत कर दिया।

अब लोकसंस्कृति एक फैशन बन गई है। विदेशी महिलाएं भारतीय

संस्कृति को ओढ़ी हुई वैसी ही लगती हैं जैसी वह बंदरिया जो लूगड़ा-घाघरा ओढ़ पहन नाच का ठुमका भरती हुई अपने हाथ के दर्पण में अपना मुखड़ा देखती मुलकायमान होती हैं। विवाह का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रसंग अब महिला संगीत, नाच, नखरे और तमाशे अधिक देने लग गये हैं।

अपनी कलाओं और कलामय कृतियों को हम इसलिए ढूँढते सहेजते

फिर रहे हैं कि मौका आने पर उन्हें बड़े हाथों में बाहर कर सकें। हमें तो हमारी मुट्ठी से ही सरोकार है जो रुपयों से बंधी हुई हो। हो भी क्यों न, बचपन से ही हमने अपनी हथेली में मेंहदी का रुपया रचाते-रचाते अपने ऊपर अपनी कलाओं का रंग चढ़ाया है। फर्क यह है कि हमारी पहचान का रुपया अब मेंहदी में नहीं, हमारी जान में, पहचान में, सब जहान में खनखनाने लग गया है।

शोक सभा एक युवा तपस्विनी की

बुत बनी बैठी,
औरतें।
विचारों के ताने-बाने बुनती
औरतें।
लम्बे घूंघट से झांकती
औरतें।
स्वर्गवासी की
मां, बहनें और भाभियां,
कुछ कहतीं,
कर्मों का क्षय
और
मोक्ष की प्राप्ति।
कुछ कहतीं
कच्ची उम्र
और
बच्चों का
अधबुना भविष्य।

सशक्त उपन्यासकार : अमृतलाल नागर

हिन्दी उपन्यास की विकास यात्रा में प्रेमचंदोत्तर युग के कथाकारों का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। इस काल के रचनाकारों ने अपनी कथा कृतियों में अपने समय की कटु मधुर अनुभूतियों, उलझनों, समस्याओं तथा परिस्थितियों का कुशलतापूर्वक वर्णन किया है। नवीन सामाजिक संदर्भों का चयन कर जीवन संघर्ष को स्वर देने वाले इन उपन्यासकारों ने सूक्ष्म संवेदना, नवीन विषयवस्तु तथा नई चेतना से युक्त उपन्यासों की रचना की। इन प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर का विशिष्ट स्थान है। प्रखर सामाजिक दृष्टि, यथार्थ की गहरी समझ, पीड़ितों के प्रति संवेदना, व्यापक मानवतावाद, प्रगतिशील चिंताधारा, आस्थावादिता तथा हास्य व्यंग्य की गहन क्षमता से युक्त नागरजी का प्रौढ़ चिन्तन उपन्यासों में अभिव्यक्त हुआ है। कथानक संबंधी नवीन प्रयोग, भाषा शैली की विविधता तथा पात्रों की जीवन्तता के कारण प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर को शीर्ष कथाकार के रूप में परिगणित किया जाता है।

विद्वानों ने नागरजी को प्रेमचंद परम्परा का समर्थ एवं सशक्त उपन्यासकार माना है। यह ठीक है कि नागरजी ने अपनी कृतियों में प्रेमचंद की ही तरह आदर्श और यथार्थ के समन्वय को स्थापित करने की चेष्टा की है परन्तु केवल इसी आधार पर उन्हें प्रेमचंद की परम्परा के अंतर्गत सीमाबद्ध कर देना अनुचित है। वास्तव में नागरजी ने प्रेमचंद

की परम्परा को अपना रास्ता बनाया है, अपना उद्देश्य नहीं। प्रेमचंद के मार्ग का अवलंबन ग्रहण करते हुए उनकी परम्परा का विकास करने की छटपटाहट उपन्यासकार में दिखाई पड़ती है। नागरजी ने प्रेमचंद की स्थापित परम्परा से अपनी उपन्यास यात्रा का प्रारम्भ किया है और उसे विकसित करने के लिए संवेदना, तकनीक और भाषा की दृष्टि से नवीन प्रयोग किये हैं। प्रेमचंद की विचारधारा को नवीन आयाम देते हुए कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से नागरजी ने क्रांतिकारी परिवर्तन की चेष्टा की है।

नागरजी उन उपन्यासकारों में रहे हैं जिन्होंने स्वाधीनता पूर्व की विविध गतिविधियों का अवलोकन किया था। स्वाधीनता आंदोलन की पृष्ठभूमि की जानकारी के साथ-साथ समाज के सभी परिवर्तनों एवं बनते-बिगड़ते जीवन-मूल्यों के वे साक्षी रहे हैं। स्वातंत्रोत्तर भारत के सामाजिक, आर्थिक, वैचारिक तथा राजनीतिक आंदोलनों से वे भलीभांति अवगत रहे हैं। स्वाधीनता पूर्व और पश्चात् के ये प्रसंग किसी न किसी रूप में उनके उपन्यासों में देखे जा सकते हैं।

नागरजी के उपन्यासकार को प्रौढ़ एवं परिपक्व बनाने में उनके कहानीकार का विशेष हाथ है। 1930 से ही उन्होंने कहानी लेखन आरम्भ कर दिया था। इसके लगभग 14-15 वर्षों बाद उन्होंने उपन्यास लिखा। उनकी कहानियों में व्यंग्य विद्रूप के द्वारा समाज में विद्यमान विषमताओं एवं कुरूपताओं के साथ-साथ समाज की समस्याओं का संतुलित चित्रण हुआ है। जीवन के यथार्थ का बारीकी से अध्ययन कर अपने कथा-साहित्य में उसका अंकन करने में नागरजी पूर्णतः सफल रहे हैं।

1946 में उनका प्रथम उपन्यास “महाकाल” (भूख) प्रकाशित हुआ था। 1985 में “करवट” तथा नागरजी के देहावसान के उपरान्त उनका अंतिम उपन्यास “पीढ़ियाँ” प्रकाशित हुआ। इन 45 वर्षों से रचित छोटे-बड़े 15 उपन्यासों में उनकी यथार्थपरक दृष्टि, समाज सचेतनता, इतिहास प्रेम और सांस्कृतिक चेतना का आभास मिलता है।

नागरजी के उपन्यासों के अधिकांश पात्र प्रेमचंद के उपन्यासों की ही भांति जन-जीवन के बीच के हैं। यद्यपि प्रेमचंद ने शहरी जीवन का अपने उपन्यासों में चित्रण किया है, परन्तु उनकी दृष्टि मुख्यतः ग्रामीण जीवन के पात्रों का चित्रण करने में ही रमी है। इसी प्रकार नागरजी की सामर्थ्य नगरजीवन तथा मध्यवर्गीय पात्रों के अंकन में ही परिलक्षित होती है। मध्यवर्गीय नगरजीवन से भलीभांति परिचित होने के कारण लेखक की कलम से चित्रित सामान्य पात्र भी अपनी सजीव उपस्थिति से पाठकों को प्रभावित करते हैं।

प्रेमचंद ने यदि ग्रामीण जीवन के उपेक्षित पात्रों तथा शोषित, दलित वर्ग के पात्रों का चित्र अपनी संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है तो नागरजी ने नगरजीवन के तिरस्कृत, दयनीय और उपेक्षित पात्रों की पीड़ा को अपनी सहानुभूति प्रदान की है। यही कारण है कि वे उनकी आशाओं-आकांक्षाओं के साथ उनकी समस्याओं, विषमताओं तथा पीड़ा का मार्मिक अंकन करने में सफल हुए हैं। सामाजिक उपन्यासों में नागरजी

की यह यथार्थवादी दृष्टि स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

जीवन के जिस यथार्थ को प्रेमचंद या नागरजी ने अपने उपन्यासों में प्रतिष्ठित किया वह स्वयं इन लेखकों का भोगा हुआ यथार्थ था। प्रेमचंद ने हिन्दी कथा साहित्य को राजा-रानियों, राजकुमारों-जमींदारों-कुलीनों के एक छत्र नायकत्व से निकाला और होरी, घीसू, धनिया, सिलिया, सूरदास को जनगण का प्रतिनिधि समझकर उन्हें कथानायक बनाया। वास्तव में उनकी यही समझ उन्हें दीन-हीन, दलित और संपर्षशील नरनारियों की सहानुभूति से जोड़ सकी और समाज के पीड़ित, वंचित वर्ग का यथार्थ अपने वास्तविक रूप में पाठकों तक पहुंच सका। प्रेमचंद की इसी संवेदनशीलता ने उन्हें शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित किया है।

अपने यथार्थ चित्रण में प्रेमचंद ने कभी कथा-शिल्प के चमत्कार की चाह नहीं की- सरल, सहज ढंग से अपनी कथा कहने में ही उनका दृढ़ विश्वास बना रहा। आलोचकों का एक वर्ग इसे भले ही प्रेमचंद की कमजोरी मानता हो, परन्तु वास्तव में यही सहजता प्रेमचंद की शक्ति थी। प्रेमचंद की कृतियों में किस्सागोई पद्धति का परिष्कृत रूप परिलक्षित होता है। अपने एक निबंध “युग प्रवर्तक प्रेमचंद” में नागरजी ने लिखा है- “मुंशी प्रेमचंद आधुनिक युग के यथार्थवादी कथालेखक होते हुए भी, विदेशी कहानियों के अध्ययन से प्रभावित होकर भी दरअसल ये पुरानी भारतीय परम्परा के किस्सागोई ही। ...उनके कथा कहने का ढंग उतना ही सरल है, जितना कि एक था राजा, एक थी रानी वाली कहानी का ढंग होता है।” (साहित्य और संस्कृति पृष्ठ-29)। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि प्रेमचंद को प्रसिद्धि शिल्प के वैशिष्ट्य या यूरोपीय चिंतन की बड़ी-बड़ी बातें करने के कारण नहीं मिली, बल्कि लोक-जीवन से तादात्म्य स्थापित कर उसकी दृष्टि और व्यथा को अभिव्यक्त करने के कारण वे लोकप्रिय हुए।

इसी धरातल पर अमृतलाल नागर के उपन्यासों का विवेचन यह प्रमाणित करता है कि नागरजी में किस्सागोई प्रवृत्ति, यथार्थ चित्रण की अदभुत क्षमता तथा पीड़ित, वंचित वर्ग की पीड़ा को संवेदना के साथ व्यक्त करने का गुण प्रेमचंद की ही भांति पाया जाता है। अंतर केवल इतना है कि प्रेमचंद के पात्र यदि ग्रामीण जीवन के हैं तो नागरजी के अधिकांश पात्र शहरी मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद नागरजी के अधिकांश उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। इसी कारण स्वतंत्र भारत के मध्यवर्ग की पीड़ा नागरजी के सामाजिक उपन्यासों में मुखरित हुई है। राजेन्द्र यादव ने इस मध्यवर्ग के बारे में लिखा है “स्वतंत्रता के बाद, पहली बार सच्चे अर्थों में हमारे समाज में एक विशाल मध्यवर्ग ने अपना वास्तविक आकार ग्रहण किया है। ...जो कहीं भी अपने को जुड़ा हुआ नहीं पाता। कोई शहर उनका अपना नहीं है, कोई संबंध उनका अपना नहीं है, उनकी जड़ें न पीछे खेत-खलिहान में है, न किसी संयुक्त परिवार में। उनका एकमात्र साधन नौकरी है और एकमात्र भय बेकारी।” (प्रेमचंद की विरासत, पृष्ठ 12) यह मध्यवर्ग मानो सब कुछ भोगने, बर्दाश्त करने के लिए अभिशप्त है।

नागरजी का लालन-पालन इसी मध्यवर्गीय परिवेश में हुआ था। नागर अंचल का यह मध्यवर्ग- उच्च मध्यवर्ग तथा निम्न मध्यवर्ग, दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। नागरजी मध्यवर्ग की दोनों कोटियों से जुड़े रहे हैं। लखनऊ के चौक क्षेत्र में रहते हुए वे इस वर्ग के गुण-अवगुण, सुख-दुख, बोली-बानी, परिवेश-संस्कार, क्षमता-अक्षमता, मान्यता विरोध सभी से भलीभांति परिचित रहे हैं। इस क्षेत्र के जीवन को उन्होंने निकट से देखा है, भोगा है तथा उन्हें यहां के व्यक्तियों की विस्तृत, सूक्ष्म सभी जानकारी रही है। यही कारण है कि उनके अधिकांश उपन्यासों का परिवेश लखनऊ का यही चौक क्षेत्र रहा है।

नागरजी के ऐतिहासिक उपन्यास विशेषतः अवध के इतिहास से संपृक्त रहे हैं। इस कारण इन कृतियों में देश-काल वातावरण सजीवता के साथ प्रस्तुत हो सका है। अवध प्रदेश की राजधानी लखनऊ को केन्द्र में रखकर नागरजी ने नवाबी शासन की ऐतिहासिक घटनाओं को आकर्षक ढंग से अपने उपन्यासों में वर्णित किया है। सांस्कृतिक, पौराणिक या ऐतिहासिक उपन्यासों में भी, जहां पात्रों का वैविध्य दिखाई पड़ता है, उनका किस्सागो रूप प्रमुख है। यथार्थ चित्रण तथा छोटे-छोटे पात्रों से भी आत्मीय संबंध स्थापित करके उन्हें प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने की उनकी प्रवृत्ति उनके उपन्यासों में परिलक्षित होती है। नागरजी में ये समस्त गुण प्रेमचंद के समान ही हैं। परन्तु प्रेमचंद की परम्परा का अनुगमन करते हुए नागरजी में कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं भी दिखाई पड़ती हैं।

अमृतलाल नागर का जो वैशिष्ट्य सहज ही परिलक्षित होता है, वह है शिल्प या तकनीक के प्रति उनका आकर्षण। नागरजी ने अपने कई उपन्यासों में कथानक संबंधी नवीन प्रयोग किये हैं। “सेठ बांकेमल”, “अमृत और विष”, “मानस का हंस”, “नाच्यो बहुत गोपाल” जैसे उपन्यास इसके उदाहरण हैं। कथ्य संबंधी नवीन और साहस पूर्ण प्रयोगों के साथ-साथ भाषा की जैसी बहुरंगी छटा नागरजी की कृतियों में दिखाई पड़ती है, वैसी प्रेमचंद में नहीं है। नागरजी के भिन्न-भिन्न पात्र अपने भाषिक वैविध्य के कारण आकर्षक लगते हैं। पात्र निर्माण के क्रम में नागरजी ने यथार्थ जगत के वास्तविक व्यक्तियों का गहराई से अध्ययन किया है और अपनी कृति के पात्रों में उनका समावेश कर दिया है। कभी-कभी उन्होंने वास्तविक जगत के दो या तीन चरित्रों के वैशिष्ट्य को अपने एक ही पात्र में आरोपित कर उसे आकर्षक एवं अविस्मरणीय बना दिया है। परकाया प्रवेश में निपुण होने के कारण लेखक के ये अमूर्त पात्र में भी आत्मीयता ही रही है। पांचू, मोनाई, सेठ बांकेमल, ताई, महिपाल, अरविन्द शंकर, पुत्तीगुरू, निर्गुण, गुरसरन बाबू, तथा तनकुन जैसे पात्र इसीलिए पाठकों को प्रभावित करते हैं। पात्रों के चित्रण में सूक्ष्मता भी नागरजी का अपना वैशिष्ट्य है।

प्रेमचंद की कृतियों में व्यंग्य का पैनापन परिलक्षित नहीं होता परन्तु अमृतलाल नागर ने अपनी कृतियों में हास्य व्यंग्य का समावेश बड़ी दक्षता के साथ किया है। नागरजी में और प्रेमचंद में बड़ा अन्तर आध्यात्मिक

मूल्यों पर आधारित है। नागरजी ने प्रेमचंद की तुलना में आध्यात्मिक मूल्यों पर अधिक बल दिया है। प्रेमचंद के उपन्यासों में आध्यात्मिक मूल्य भी सामाजिक मूल्यों के आवरण में ही व्यक्त हुए हैं। नागरजी प्रगतिशील विचारधारा के समर्थक होते हुए भी आस्तिक रचनाकार रहे हैं। बाबा रामजीदास के सत्संग से आस्तिकता के प्रति उनकी आस्था और प्रबल हुई थी। नागरजी ने आस्तिक जीवन मूल्यों की प्रवचनाओं का विरोध तो किया है किन्तु आस्तिकता को नकारा नहीं है। नागरजी की मान्यता थी कि सच्चे अर्थों में संत वही है जो वास्तव में सत्यनिष्ठ है। नागरजी ने आज के युग में व्यावहारिक, आध्यात्मिक मूल्यों के निरूपण के लिए सोमाहुति, सूर, तुलसी जैसे प्राचीन चरित्रों को ही नहीं बाबा रामजी जैसे समसामयिक संत की अवतारणा भी अपने भिन्न-भिन्न उपन्यासों के चरित्र के रूप में की है। इस प्रकार उन्होंने व्यवहार के स्तर पर आस्तिक चेतनायुक्त संतत्व की आवश्यकता पर बल दिया

है और आडम्बर के साथ-साथ धार्मिक विकृतियों का विरोध किया है।

प्रेमचंद और नागरजी के मध्य अंतर विवेचित करने का उद्देश्य किसी को बड़ा या छोटा बनाना नहीं है अपितु यह प्रतिपादित करना है कि घटना प्रधान, तिलस्मी, जासूसी उपन्यासों के युग से आगे बढ़कर प्रेमचंद ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को जो नवीन दिशा दी... वही गतिशीलता कुछ नवीन विशेषताओं के साथ प्रेमचन्दोत्तर काल में अमृतलाल नागर में परिलक्षित होती है।

निष्कर्षतः प्रेमचंद परम्परा को समृद्ध एवं सुदृढ़ करने के साथ-साथ उसे गतिशीलता प्रदान करने में नागरजी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्होंने न केवल परम्परा को नवीन आयाम प्रदान किये अपितु हिन्दी उपन्यास साहित्य को भी स्वस्थ सामाजिक परिप्रेक्ष्य की उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित किया।

अहिंसा का अर्थशास्त्र

अहिंसा का अर्थशास्त्र तीन प्रमुख प्रवृत्तियों पर अवस्थित है, ये हैं- स्वावलम्बन, अपरिग्रह, विकेन्द्रीकरण। उसका मानना है कि जहां पराधीनता, परिग्रह और केन्द्रीकरण है, वहां दमन, दोहन और हिंसा अपरिहार्यतः हैं। इस संदर्भ में गुजराती भाषा में एक पुस्तक प्रकाशित हुई है- 'सुंदर दुनिया माटे सुंदर संघर्ष'* (1993/ श्रीमती नंदिनी जोशी)। इस किताब के अध्याय 34 और 35 अहिंसा-के-अर्थतन्त्र को बड़ी स्पष्टता से प्रतिपादित/परिभाषित करते हैं। इन अध्यायों में प्रो० काओरू यामागुची जापान के ग्राम-अर्थतन्त्र (म्युराटोपिअन अर्थतन्त्र) की चर्चा की गयी है और कहा गया है कि यही एक ऐसा अर्थतन्त्र है जो हमारी आगामी समाज रचना का सबल आधार बन सकता है। हो सकता है कुछ लोगों को यह रूढ़ और परम्परागत दिख पड़े, किन्तु अब जब तक मनुष्य इस ओर वापस नहीं होगा, उसके बीच के फासले बढ़ेंगे और परिग्रह तथा पूंजी का अजगर उसे आमूलचूल निगल जाएगा। जो भारत हिंसा और परिग्रह के जहर से अब तक बचा हुआ था, आज वही उदारीकरण की फांसी के फंदे में लटका जीवन-मरण का संघर्ष कर रहा है। दुर्भाग्य से बहुराष्ट्रीय कंपनियों के नाम पर देश का जो बचावखुचा ग्रामतन्त्र था वह भी सर्वनाश की ओर कूच कर गया है।

ऐसे भयावह क्षणों में यदि हमने हक और हकीकत की ओर से अपनी आंखें मूंदीं तो वह आदमी जो पूंजी का मालिक था, एक संपूर्ण गुलाम बन जाएगा (बन चुका है)। आज जगत्‌वर्ती ग्राम (ग्लोबल विलेज) की बात तो की जाती है, किन्तु इस बात के पीछे कपट का एक भ्रम-जाल बिछा हुआ है। यहां 'ग्लोबल विलेज' का मतलब पूरी दुनिया को एक

ग्राम (विलेज) के रूप में विकसित करने का है यानी सूचना-युग (इन्फार्मेशन एज) की तीव्रता का अड्डा बनाना है अर्थात् यह कहना है कि दुनिया इतनी सूचना-पराधीन हो पड़ेगी कि जैसे कोई बात गांव में जंगल की आग की तरह फैलती-व्यापती है, वैसे दुनिया में वह व्याप जाएगी। गांव सूचनाओं में कराहने लगेगा। वह दलाल स्ट्रीट बन जाएगा। यह कल्पना या ख्वाब नहीं बल्कि एक भयानक दुःस्वप्न है, जो मनुष्य के अस्तित्व और उसकी अस्मिता के लिए प्रलयंकारी सिद्ध होगा। इससे दुनिया छोटी नहीं होगी और न ही लोग एक पड़ोसी की तरह एक-दूसरे से प्यार, और एक-दूसरे पर भरोसा करने लगेंगे, बल्कि 'पास' कहला कर भी वे एक-दूसरे से कोसों 'दूर' पड़ जाएंगे।

मानिये, हिंसा, सत्ता और पूंजी पर खड़ा यह अर्थतन्त्र मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य एवं प्रकृति के बीच ऐसे फासले खड़े कर रहा है, जिन्हें कभी भी पाटना संभव नहीं होगा। आज मनुष्य ने प्रकृति को पूंजी कमाने का साधन/माध्यम बना लिया है, अतः वह उसके अधिकतम शोषण में लग गया है। अधिकतम के मकड़जाल में फंसा आदमी अब सब ओर से विनाश के खौफनाक शिकंजे का दबाव-कसाव महसूस करने लगा है। उसके हाथ-पांव एक ऐसे आर्थिक जाल में फंस गये हैं, जिससे उभरना असंभव-जैसा हो गया है।

ऐसे में 'ग्लोबल विलेज' का मतलब यदि हम वही लेते हैं जो ऊपर दिया गया है तो मनुष्य को एक अभिशप्त भविष्य की ओर ले जाते हैं और यदि उसका अर्थ हम यह करते हैं कि जो कुछ जगत् में है वह उसके हर गांव में हो तो हम जगत् को एक ऐसे नन्दन वन के रूप में परिकल्पित करते हैं, जिसका शिल्पन गांधी ने कभी किया था और जो कभी भारतीय अर्थतन्त्र की रीढ़ था। अहिंसा के अर्थतन्त्र का प्रथम और सर्वोपरि लक्ष्य है एक अहिंसक अपरिग्रहमूलक ग्राम इकाई को आविष्कृत/आविर्भूत करना।

हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि भारत सिर्फ अर्थतन्त्र ही नहीं है, बल्कि वह संस्कृति, सद्बिवेक, अध्यात्म एवं धर्म का समवेत सुविकसित तीर्थधाम भी है। भारत एक ऐसा विश्व-स्थल है, जिसने अतीत में कई आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक सफल प्रयोग किये हैं और विश्व-मानव की एक स्वस्थ छवि प्रदान की है। उसके अर्थतन्त्र की सबसे प्राणवान्, बल एवं ऊर्जावान् इकाई थी ग्राम, वह ग्राम जिसे आज अनजाने में पश्चिम के निरर्थक आवेश में तहस-नहस किया जा रहा है। आज हम एक ऐसे खतरनाक क्षण से गुजर रहे हैं, जहां अर्थ और राजनीति के दबाव से हमारे ग्रामतन्त्र का चेहरा निस्तेज और फीकाफूसस हुआ जा रहा है- हम बदलें, किन्तु इस बात का ध्यान रखते हुए कि हमारी मौलिकताएं बरकरार रहें और हमारा ग्राम परतन्त्र/परमुखापेक्षी न बने। यह सब-सारा तभी संभव है जब राजनीति, समाज-व्यवस्था, न्याय-प्रबंध, शिक्षा एवं चिकित्सा आदि तदनुरूप परिवर्तन लाया जाए और समाविष्ट विकृतियों को दूर किया जाए।

श्रीमती नंदिनी जोशी लिखती हैं कि 'आज से लगभग दो सदी पूर्व हमारे देश के ग्राम इतने सक्षम/स्वावलम्बी/समृद्ध थे कि प्रत्येक ग्राम स्वयं पूरे जगत् का प्रतिरूप था। मैंने अपने पिताजी से सुना था कि

संयुक्त राष्ट्र संघ में जिन प्रश्नों की चर्चा होती है, उन तमाम प्रश्नों पर हमारे एक छोटे गांव के चबूतरे पर भी चर्चा होती है। मात्र इन प्रश्नों का फलक छोटा है अन्यथा उनका स्वरूप तो एक-जैसा ही है। इसका मतलब है कि अहिंसा का अर्थतन्त्र प्रत्येक भारतीय ग्राम को एक ऐसे 'स्व-क्षम जगत्वर्ती ग्राम' के रूप में विकसित देखना चाहता है जा लघु संयुक्त राष्ट्र संघ (मिनी यूने) हो। ऐसे ग्राम पूंजी को ऋण करके ही उभर सकते हैं। जब तक हम विनिमय-पद्धति (बार्टर-सिस्टम) को नहीं लौटायेंगे, जीवन की गुणवत्ता (क्वालिटी) को लौटाना संभव नहीं होगा। जब वस्तुओं का विनिमय होगा, तब उनकी गुणवत्ता के साथ कोई बदसलूकी नहीं कर पायेगा। मूल वस्तु के साथ मूल वस्तु का विनिमय होगा। ऐसे में वे सारे व्यय और विकार आपोआप घट या हट जाएंगे जो वस्तु की मौलिकता को अवमिश्रित करते हैं और उसके साथ अन्धी व्यापारिकता को जोड़ते हैं। गांधीजी ने ऐसे ग्रामतन्त्र के अन्तर्गत विकसित ग्राम को 'स्वर्ग-का-बगीचा' कहा है।

हमारा यह मानना है कि 'भारतीय ग्राम तक विकास-की-झिरी शहरों से या दुनिया के विकसित मुल्कों से पहुंचेगी'। यह गलत है। ऐसा करने या कहने से हमारी बुनियाद कमजोर होगी। सब जानते हैं कि जब तक समाज में समानता और अमन आविर्भूत नहीं होंगे, आतंक और हिंसा बने रहेंगे, तब तक विकास के रुद्ध स्रोत खुल नहीं पायेंगे। हम दो कदम आगे बढ़ेंगे और चार कदम पीछे आयेंगे। यह गणित अवनति और विनाश का गणित है, इसे हम उत्थान और विकास का गणित नहीं कह सकते।

जब तक हम छोटे पैमाने पर, बैकों-के-जाल से मुक्त हो कर - उत्पादन की प्रक्रिया में नहीं आयेंगे, यह असंभव ही होगा कि हम मनुष्य और मनुष्य के मध्यवर्ती फासलों को घटा पायें। जब तक नफे की जगह समाज/जनहित के लिए उत्पादन की शुरुआत नहीं होगी, नयी समाज-रचना का शिलान्यास संभव नहीं होगा।

यह मान कर चलना कि अर्थतन्त्र के बीज विकसित देशों से आयेंगे और उनकी स्वस्थ फसलें भारतीय ग्रामों में पनपेंगी, बुनियादी तौर पर ही गलत है। हमारे गांवों में विकास की अनगिनत उर्वर संभावनाएं (पोटेंशियल) हैं, हम असल में उनका क्रद छोटा करके उनके बारे में सोचने लगे हैं और उस 'अनलिखे ज्ञान' (ग्राम-विज्ञान) को भूल रहे हैं, जो मैदान के जल को सिंचाई के लिए बगैर किसी यन्त्र की मदद के पहाड़ों पर चढ़ा ले जाता रहा है। मध्यप्रदेश के निमाड़ अंचल में इस तरह की सिंचाई-व्यवस्था को आज भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

आज का उद्योगवर्ती अर्थतन्त्र प्रकृति को कमाई का साधन मानकर चलता है, उसके लिए पेड़-पौधे, नदी-झरने, पर्वत-पहाड़, वराह-हाथी, मछली-मुर्गी, केंचुए-खरगोश सब कमाई के जरिए हैं, इसीलिए वह इन सबका क्रूरतम दोहन करता है और उनके प्रति जो भी क्रूरतापूर्ण और असम्मानजनक संभव है, उसे करने से नहीं चूकता। यही कारण है कि आज के अर्थतन्त्र ने जीवन-के-प्रति-सम्मान की भावना को नष्ट कर दिया है और वह सिर्फ पूंजी के पीछे पिशाच की भांति पड़ गया है। अहिंसा-का-अर्थतन्त्र हिंसा को छोटा/व्यर्थ करने का अर्थतन्त्र है। वह

दुनिया के कोने-कोने में हिंसा और क्रूरता के क्रद को छोटा करना चाहता है और चाहता है कि सर्वत्र समता की संभावनाएं फले-फूलें। हमारी विनम्र राय में जब दुनिया का हर गांव स्व-क्षम जगत्वर्ती गांव बनेगा तभी विश्व-शान्ति की कल्पना साकार होगी अन्यथा वह यावच्चन्द्रदिवाकरौ स्वप्न बनी रहेगी।

जापान एक ऐसा देश है, जिसने औद्योगिक क्रांति का अधिकतम दोहन करते हुए भी प्रो० काओरू यामागुची की 'सक्षम जगत्वर्ती ग्राम' (सस्टेनेबल ग्लेबल विलेज) की अवधारणा को जन्म दिया है। प्रो० यामागुची ने इस ग्राम-अर्थतन्त्र को 'म्युराटोपिअन अर्थतन्त्र' का नाम दिया है। 'म्युरा' जापानी का शब्द है, जिसका अर्थ है 'ग्राम' - एक ऐसा ग्राम है, जहां के लोग आत्मनिर्भर हों, परम्परागत रीति-रिवाजों में आस्था रखते हों, प्रकृति के प्रति जिनके मन में सम्मान की भावना हो और जो अवकाश में एक-दूसरे की मदद के लिए कम्मर कसे हों। जब हम 'म्युरा' शब्द का विखण्डन करते हैं, तब हमें 'म्युराटोपिअन' अर्थतन्त्र की खूबियों का और अधिक गहराई से पता चलता है। 'म्यु' का अर्थ है 'न होना' (नथिंगनेस) तथा 'रा' का अर्थ है 'अपरिग्रह' यानी 'स्वामित्व-की-अनुपस्थिति'। यहां इस तरह 'म्युरा' का अर्थ हुआ 'कुछ न होना' अर्थात् मालिकी का विसर्जन, उसकी गैरहाजिरी। 'टोपिआ' ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ है 'जगह'। इस तरह कुल मिलाकर 'म्युरा' एक ऐसी जगह हुआ जहां आगामी युग की नयी समाज-रचना का सूत्रपात होगा।

सहज ही सवाल उठता है कि इस नयी समाज-रचना के आधार क्या होंगे ?

आज हम देख रहे हैं कि यन्त्रोद्योग-प्रधान समाज-रचना सफल नहीं हुई है। चारों ओर प्रदूषण है, महामारियां हैं, भूखमरी और गरीबी है, कृत्रिम अभाव बने हुए हैं। पूंजीखोर-बाजारोन्मुख-सड्डेबाज अर्थतन्त्र ने विश्व-की-रीढ़ क्षत-विक्षत कर दी है। साम्यवादी अर्थतन्त्र परास्त हो चुका है। जो अर्थतन्त्र आज है, श्रीमती नंदिनी जोशी के अनुसार, उसके मुख्यतः छह आधार हैं। 1. एक-जैसा माल (स्टैंडार्डाइजेशन), 2. मनुष्य का एकांगी विकास (स्पेशियलाइजेशन), 3. प्रचण्ड व्यवस्था-तन्त्र (सिंक्रोनाइजेशन), 4. केन्द्रीकृत विकास (कंसेन्ट्रेशन), 5. अधिकतम कमाई का ध्येय (मेक्झेमाइजेशन), 6. आर्थिक तथा राजकीय सत्ताओं का केन्द्रीकरण (सेंट्रलाइजेशन)। लेकिन जो ग्राम-तन्त्र क्षितिज पर आना चाहता है, उसके मुख्य दो आधार हैं- 1. स्वावलम्बन, 2. परोपकार या परस्परउपग्रह (एक-दूसरे की मदद अथवा एक-दूसरे के सथ जीवन्त हिस्सेदारी)।

उपर्युक्त अर्थतन्त्र के मुख्य लक्षण होंगे- उत्पादक और ग्राहक एक, मालिक-मजदूर एक, बचत करने वाला और खर्च करने वाला एक, मकान-मालिक और किरायेदार एक, प्रकृति के प्रति परिपूर्ण सम्मान अर्थात् उसे कमाई का साधन न मानना, न बनाना। इस तरह आने वाला मानव-समाज वह नहीं होगा जो आज मृग-मरीचिका की तरह हमारे जीवन में प्रवेश कर गया है, बल्कि वह 'म्युराटोपिअन अर्थतन्त्र' होगा जो दुनिया को अहिंसा और अपरिग्रह के जरिए अधिक सुंदर और बेहतर बनायेगा।

* सुंदर दुनिया मटे सुंदर संघर्ष (गुजराती), नंदिनी जोशी, उन्नति प्रकाशन, अहमदाबाद-380 006, 1993

मुस्कराहट

कौन कहता है कि,
मुस्कराहट महंगी हो गई है ?
एक मुस्कराहट थी मोनालिसा की,
जो अमर होकर रह गयी,
आज तो हर होंठ पर मुस्कराहट है,
पर, अंदाज-ए-बयां जुदा-जुदा है।
गरीब अपनी किस्मत पर मुस्कराता है,
अमीर अपनी अमीरी पर,
राजनीतिज्ञ अपनी चाल पर मुस्कराते हैं,
तो विद्यार्थी अपने हाल पर,
दहेज लेकर कोई मुस्क, राता है
कहीं तन बेचकर हंसी आती है।
कहीं किसी के दुःख पर,
कहीं किसी के सुख पर,
हां, सभी मुस्कराते हैं,
पर, अंदाज-ए-बयां जुदा-जुदा है।
किसी की मुस्कराहट में है ईर्ष्या की झलक,
तो किसी की मुस्कराहट में है पैसों की ललक,
किसी की मुस्कराहट में होता है भविष्य का संकेत,
तो कहीं दर्द से भींगी होती है मुस्कराहट,
कहीं व्यंग्य में डूबी होती है मुस्कराहट,
कहीं मिलती है बेबसी की मुस्कराहट,
सभी मुस्करा रहे हैं,
पर, अंदाज-ए-बयां जुदा-जुदा है।
मैं खोजती हूं उसे,
जो दिखला सके, मुझे बतला सके,
मुस्कराहट का सरल, सच्चा, निश्छल रूप,
बाल सुलभ मुस्कराहट,
जिसमें हो जमाने का दर्द,
न हो व्यंग्य, कुटिलता,
न तकरार की मुस्कराहट,
बस हो ममता की, स्नेह और मानवता की,
जिसका अंदाज-ए-बयां ही जुदा-जुदा होगा।

10, नेताजी सुभाष रोड, कलकत्ता-1

वीणापाणि शारदे अम्बे, तेरी जय जय गाऊँ

वीणापाणि शारदे अम्बे, तेरी जय-जय गाऊँ।
स्वर में शक्ति, भक्ति अन्तर में तेरी अविरल पाऊँ॥

हृदय तिमिर से आच्छादित है जगमग ज्योति जगा दे,
भटक रहे प्राणी को अम्बे! निर्मल राह दिखा दे,
ज्ञान-विभा की ज्योति-धार से मन को मैं नहलाऊँ।

आज भुवन में त्राहि मची है, गूँज रहा है क्रन्दन,
भीषण ज्वाला में जीवन का झुलस रहा है चन्दन,
स्नेह-वारि दे, दग्ध धरा पर विमल सुगन्ध लुटाऊँ।

द्वेष-घृणा-आतंकवाद से डरे-डरे जन लगते,
सूखे हृदय-तन्त्र में कोई कोमल भाव न जगते,
करुणा का कण बरसा दे माँ, जीवन-गीत सुनाऊँ।

पीड़ित दुख से, भयाक्रान्त मन आँधी में है रहता-
घोर निराशा के झोंकों में शीत-घाम नित सहता,
आशा की नव करुणकिरण दे, संशय-शोक मिटाऊँ।

जड़ता के जड़ विषम-बन्ध में चेतनता अकुलाती,
पावस की मावस में जीवन दृष्टि नहीं खुल पाती,
अक्षर कर दे शब्द-शब्द, मैं दीपक-राग जगाऊँ।
वीणापाणि शारदे अम्बे, तेरी जय जय गाऊँ॥

47-डी, श्यामाप्रसाद मुखर्जी रोड,
कलकत्ता-26

भाषा री अमरबेल !

मानसरोवर जिसड़ी म्हारी
राजस्थानी - भासा ।
इण स्यू निकली हिन्दी सिन्धी
गुजराती हरियाणी
मांय मालवी मेवाती री
कोनी कीं स्यू छानी
नेपाली गढवाली सै री
आ जीवन री आसा ।
भस्च डोगरी कुमाउनी में
इण रा सबद घणेर,
मीरा मिस आ बसी बिरज में
खाय किसन स्यू फेरा
अमर बेल ज्यू पसरी इण रा
नाल चढ्या आकासां ।
संविधान में मिलै मानता
इण री आ अधिकारी
हरघो राखसी संस्कृति रो बड़
आ अमरित री झारी
इण रै बिन्यां अधूरी आखै
साहित री परिभाषा !

वर्तमान युग को एक और गांधी की आवश्यकता

मनुष्यों के मेल-से समाज की रचना होती है और समाज मिलकर राष्ट्र का निर्माण करते हैं। राष्ट्रों से विश्व बनता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि विश्व की आधारमूलक ईकाई मनुष्य है। गांधी का ध्यान इसी तथ्य की ओर गया। उन्होंने कहा कि यदि मनुष्य अपने को सुधार लेगा तो समाज, राष्ट्र और विश्व अपने आप सुधार जाएंगे। अतः मानव के परिष्कार के लिए उन्होंने सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि एकादश व्रतों का प्रावधान किया और उनके पालन का आग्रह रखा। इतना ही नहीं उन्होंने सर्वप्रथम दक्षिण अफ्रीका में मानवीय अधिकारों के लिए संघर्ष हेतु सत्याग्रह, निष्क्रिय प्रतिरोध, अनशन, आत्मपीड़न आदि अभिनव अस्त्रों का आविष्कार किया। उनका वह संघर्ष इक्कीस वर्ष तक चला। अंत में विजय गांधी की हुई। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि भौतिक बल से कहीं श्रेष्ठ और शक्तिशाली आत्मिक बल है।

दक्षिण अफ्रीका में विजयी होकर जब वह भारत आये और राजनीति के मंच पर आसीन हुए तो उन्होंने उन्हीं अस्त्रों का उपयोग किया, जिनका उपयोग वह काले-गोरों की लड़ाई में करके आये थे। सन् 1917 के चम्पारन सत्याग्रह से लेकर सन् 1942 के भारत-छोड़ो आंदोलन तक उन्होंने जितने छोटे-बड़े आंदोलन चलाये उनकी धुरी सत्य-अहिंसा रहे। सन् 1922 में चौरीचौरा में हिंसा होने पर उन्होंने देश व्यापी असहयोग-आंदोलन को स्थगित कर दिया। इतना ही नहीं, पांच दिन

का उपवास भी किया। कहने का तात्पर्य यह है कि वे भारत में “राम-राज्य” की स्थापना करना चाहते थे। उनके लिए राजनैतिक स्वतंत्रता का महत्व था किन्तु उससे भी अधिक महत्व मानव की शुचिता और मानवीय मूल्यों का था।

पन्द्रह अगस्त उन्नीस सौ सैंतालीस में भारत आजाद हुआ। सारे देश में खुशियां मनाई गईं, लेकिन गांधीजी के लिए वह खुशी का दिन नहीं था। उनकी इस स्पष्ट घोषणा के बावजूद कि उनके जिस्म के दो टुकड़े हो जायेंगे, लेकिन भारत एक और अखण्ड रहेगा, देश का विभाजन हुआ। पाकिस्तान बना और दोनों देशों में आबादी की अदला-बदला हुई। भारत से लाखों मुसलमान पाकिस्तान गये और पाकिस्तान से लाखों हिन्दू भारत आये। जिन मानवीय मूल्यों ने उनके बीच भाई-चारे की गहरी जड़ें जमाई थीं, वे आहत हो गये। भाई से भाई बिछुड़ गया। यह स्थिति गांधीजी के लिए असह्य थी।

जिस समय लाल-किले पर आजादी का तिरंगा झंडा फहराया जा रहा था, गांधीजी मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्र नोआखाली में पैदल घूमघूम कर दुखियों के आंसू पोछ रहे थे। उन्होंने भारत के नये शासकों और भारत की जनता से आजादी के दिन प्रार्थना करने और उपवास रखने का आह्वान किया। उन्होंने अंत समय तक यह आशा नहीं छोड़ी कि वह दिन आये बिना नहीं रहेगा, जबकि भारत और पाकिस्तान एक होंगे। उन्होंने दो राष्ट्र के सिद्धांत को कभी स्वीकार नहीं किया।

जैसा कि हमने ऊपर कहा गांधीजी मानवीय मूल्यों के उपासक थे। वे नैतिक मूल्यों को सबसे अधिक महत्व देते थे। उन्होंने अनेक अवसरों पर कहा था कि मेरे लिए वह राजनीति त्याज्य है, जिसमें नीति का समावेश न हो अर्थात् नीतिविहीन राजनीति उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती थी।

देश स्वतंत्र हुआ, लेकिन उसे गांधीजी ने लम्बी यात्रा का पहला पड़ाव माना। उन्होंने कहा, “मंजिल अभी दूर है। जब तक एक भी आंख में आंसू है, मेरे संघर्ष का अंत नहीं हो सकता।”

अपने उत्सर्ग के एक दिन पूर्व उन्होंने एक लेख लिखा, जिसे उनका “अंतिम वसीयतनामा” माना जाता है। उस लेख में उन्होंने कहा कि भारत को राजनैतिक आजादी तो मिल गई, लेकिन सामाजिक, आर्थिक और नैतिक आजादियां अभी प्राप्त करनी हैं और चूंकि इन आजादियों में तड़क-भड़क नहीं है इसलिए हमारा रास्ता पहले की निस्वत ज्यादा कठिन है। उन्होंने कांग्रेस को भंग करके उसके स्थान पर “लोक सेवक संघ” की स्थापना करने की बात कही। लेकिन उनकी यह बात भारत के कर्णधारों के गले नहीं उतरी। वे मानते थे कि जिस कांग्रेस के झंडे के नीचे कोटि-कोटि नर-नारियों ने असीम साहस से एकत्र होकर स्वतंत्रता प्राप्त की थी, उसी झंडे के नीचे देश के नव-निर्माण का कार्य सम्पन्न होगा।

गांधी दृष्टा थे। उन्होंने जो कहा था, उसके पीछे एक भारी सत्य निहित था। सत्ता के साथ अनिवार्यतः मद जुड़ा रहता है। इसलिए वह

देश का मुंह सत्ता की ओर से मोड़ कर सेवा की ओर करना चाहते थे। पर वह न होना था, न हुआ। गांधीजी आजादी के चन्द दिनों के बाद चले गये।

उनके जाने के पश्चात् सारी स्थिति बदल गई। गांधी ने खरे मनुष्य को ऊंचा स्थान दिया था और भावी भारत का अधिष्ठान मानवता को माना था, किन्तु देश के नेताओं का ध्यान शासन सम्भालने और भारतवासियों की दरिद्रता को दूर करने की ओर था। विदेशी सत्ता ने भारत को चूस कर भीतर से खोखला कर दिया था।

इस स्थिति को सम्भालने के लिए नये शासकों ने नई नीति अपनाई। जहां गांधी ने मनुष्य को बिठाया था, वहां उन्होंने राजनीति और अर्थ को वैठाया। परिणाम यह हुआ कि मानव की धुरी टूटी और उस स्थान पर राजनीति तथा अर्थ का वर्चस्व स्थापित हुआ। इस वर्चस्व को राजनीति के ही नहीं, अन्य सभी क्षेत्रों में स्वीकार किया गया। सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी अनुभव करने लगा कि यदि उसके हाथ में सत्ता और पैसा नहीं है तो समाज में उसका अस्तित्व ही नहीं है। इसीसे लोगों ने आंख मूंद कर सत्ता और पैसे के पीछे दौड़ लगाई। इसका परिणाम जो होना था, वही हुआ। पद और पैसे को ऊंचा स्थान मिला और इंसान दोगले दर्जे पर आ गया। देश के मूल्य बदल गये, परिस्थितियां बदल गईं, परिवेश बदल गये। नैतिक मूल्यों का स्थान भौतिक मूल्यों ने ले लिया। जब पदार्थ मूल्यवान बन जाता है तो मनुष्य के विवेक पर पर्दा पड़ जाता है।

इस स्थिति ने देश में अनेक व्याधियों को जन्म दिया। इन व्याधियों में सबसे बड़ी व्याधि भ्रष्टाचार है। आज कोई भी क्षेत्र उससे अछूता नहीं है। राजनीति तो उससे पूरी तरह आक्रांत है ही, समाज व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था, धर्म संगठन आदि सभी क्षेत्र उसके शिकार हो रहे हैं। राजनीति का इतना बोल-बाला है कि उसने सब कुछ अपने प्रभाव के घेरे में समेट लिया है। किसी युग में धर्म राजनीति की अगुआई करता था, आज धर्म राजनीति का अनुचर बन गया है।

गांधी ने स्वतंत्र भारत के लिए नये मूल्यों की संहिता बनाई थी। उन्होंने कहा था कि जो सच्चा सेवक है, वही देश का सर्वोच्च शासक होगा। उन्होंने कहा था कि स्वतंत्र भारत में उच्च और निम्नवर्ग नहीं रहेंगे। उन्होंने कहा था कि देश के सभी निवासी समष्टि के हित में व्यक्ति का हित मानेंगे और वे अपने स्वार्थ से अधिक देश के हित को वरीयता प्रदान करेंगे।

प्राचीन काल से भारतीय मनीषा ने घोष किया था- “सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया” यानी सब सुखी हों, सब नीरोग हों। इसी में से गांधी का सर्वोदय का दर्शन उपजा था। सबकी भलाई के लिए उन्होंने कुछ मूल-भूत सिद्धांत निश्चित किये। इन सिद्धांतों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत सत्ता के विकेन्द्रीकरण का था। वह नहीं चाहते थे कि सत्ता इने-गिने व्यक्तियों की मुट्ठी में केन्द्रित हो। उन्होंने कहा कि अणु बम के इस युग में यदि सत्ता एक स्थान पर केन्द्रीभूत रहेगी तो एक बम उसे सहज ही नष्ट कर देगा। लेकिन यदि सत्ता जन-जन

में बंटी रहेगी तो कोई कितने बम गिरायेगा ?

इसलिए उन्होंने शासन की बुनियाद पंचायत को माना। उन्होंने कहा कि हमारा शासन नीचे से ऊपर की ओर रहेगा। पंचायत को वह शासन की नींव बनाना चाहते थे। पक्की नींव पर ही पक्का भवन खड़ा रह सकता है। लेकिन सत्ता की होड़ ने सारी राजनैतिक शक्ति को मुट्ठी भर लोगों के हाथों में सीमित कर दिया। सत्ता के साथ सारे साधन और वैभव भी उनके हाथों में केन्द्रित हो गये।

गांधीजी आर्थिक समानता के पक्षपाती थे। वह जानते थे कि एक ओर ढेर लगेगा तो दूसरी ओर अपने आप गड्ढा बन जायेगा। उन्होंने एक स्थान पर लिखा, “अगर धनवान लोग अपने धन को और उसके कारण मिलने वाली सत्ता को खुद राजी-खुशी से छोड़कर और सबके कल्याण के लिए, सबके साथ मिलकर बरतने को तैयार न होंगे तो यह सच समझिये कि हमारे मुल्क में हिंसक और खूंखार क्रान्ति हुए बिना नहीं रहेगी।” उन्होंने धनपतियों से कहा कि वे अपनी नितांत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन को रखकर शेष धन को समाज की धरोहर मानें और उसके न्यासी बन कर रहें।

उन्होंने सांप्रदायिक एकता पर भी बल दिया। उन्होंने कहा “एकता का मतलब सिर्फ राजनैतिक एकता नहीं है। सच्चे मानी तो है वह दोस्ती, जो तोड़े न टूटे। इस तरह की एकता पैदा करने के लिए सबसे पहली जरूरत इस बात की है कि कांग्रेस-जन, वे किसी भी धर्म के मानने वाले हों, अपने को हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी सभी कोमों का नुमाइंदा समझें।

उन्होंने मानव के परिष्कार के लिए ग्यारह ब्रतों का प्रावधान किया। उनमें अन्य बातों के साथ सबसे अधिक बल मद्य-निषेध पर दिया। उनका मानना था कि शराब सब बुराइयों की जननी है। उन्होंने तत्कालीन सरकार से कानून बनाकर उस व्याधि को रोकने का जहां अनुरोध किया, वहां शराब की दुकानों पर धरने की भी व्यवस्था की। मुझे याद आता है कि धरने के लिए उन्होंने मुख्यतः बहनों को चुना, क्योंकि वे मानते थे कि जितना प्रेम, करुणा और संवेदनशीलता बहनों में होती है उतनी पुरुषों में नहीं। बहनें शराब की दुकानों पर खड़ी हो जाती थीं और जब कभी कोई शराब पीने के लिए वहां आता था तो वे हाथ जोड़कर रोकने का प्रयत्न करती थी, किन्तु यदि कोई सिरफिरा व्यक्ति उनकी बात नहीं मानता था तो वे दुकान के सामने लेट जाती थीं तब किसी की भी हिम्मत नहीं होती थी कि वह उनके सीने पर पैर रखकर दुकान के भीतर प्रवेश करे।

गांधीजी भारत को गांवों का देश मानते थे। उनका कहना था कि देश के चंद शहर लाखों गांवों की कमाई पर जीते हैं। इसलिए उन्होंने बार-बार कहा कि गांव उठेंगे तो देश उठेगा। गांवों का पतन होगा तो देश का पतन अवश्यम्भावी है। अतः उन्होंने नवयुवकों से आग्रह किया कि वे देहातों में जाएं और देहातियों के बीच उन्हीं की तरह रहकर उनके अभिक्रम को जागृत करें और गांवों की बुराई दूर करें, लेकिन दुर्भाग्य से आजादी के दिनों में शहर पनपे, गांव सूखे। आज

कोई भी व्यक्ति गांव में जाकर देख सकता है कि वहां की स्थिति कितनी भयावह है। गांवों के बहुसंख्यक निवासी न केवल गरीबी और गंदगी के शिकार हैं निरक्षरता, अंधविश्वास तथा रोग भी उन्हें चारों ओर से घेरे हुए हैं। शहर के लोग मानते हैं कि गांवों के निवासी उनकी मेहरबानी पर जीते हैं।

प्रत्येक उपक्रम में गांधीजी जहां साध्य को महत्व देते थे वहां साधनों की शुद्धता पर भी जोर देते थे। उनका कहना था, “लोग कहते हैं आखिर साधन तो साधन ही है।” मैं कहूंगा, “आखिर तो साधन ही सब कुछ है जैसे साधन होंगे वैसा ही साध्य होगा। साधन और साध्य को अलग करने वाली कोई दीवार नहीं है। वास्तव में सृष्टिकर्ता ने हमें साधनों पर नियंत्रण दिया है, साध्य पर तो कुछ भी नहीं दिया। लक्ष्य की सिद्धि ठीक उतनी ही शुद्ध होती है जितने हमारे साधन शुद्ध होते हैं। यह बात ऐसी है, जिसमें किसी अपवाद की गुंजाइश नहीं है। कोई असत्य से सत्य को नहीं पा सकता। सत्य को पाने के लिए हमेशा सत्य का आचरण करना ही होगा।”

गांधीजी शासन के लिए लोकतंत्र को सर्वोपरि मानते थे। लोकतंत्र में लोक पहले आता है “तंत्र” बाद में। लोक से उनका आशय लोक शक्ति से था। बिना लोक-शक्ति के सच्चा लोकतंत्र न स्थापित हो सकता है, न चल सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर उन्होंने अपने सभी आंदोलनों के द्वारा जन-जन में चेतना पैदा करने का प्रयास किया।

वह रचनात्मक कार्यों के द्वारा देश का अभ्युदय करना चाहते थे। उनका कहना था, “मैं ऐसी स्थिति लाना चाहता हूं जिसमें सबका सामाजिक दर्जा समान माना जाय”। रचनात्मक काम का यह अंग अहिंसापूर्ण स्वराज्य की मुख्य चाबी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है पूंजी और मजदूरी के झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुड़ी भर पैसे वालों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है

उनकी सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर से जो करोड़ों लोग भूखे और नंगे रहते हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना, जब तक मुड़ी भर धनवानों और करोड़ों भूखे रहने वालों के बीच बेइंतहा अंतर बना रहेगा, तब तक अहिंसा की बुनियाद पर चलने वाली राज्य-व्यवस्था कायम नहीं हो सकती। आजाद हिन्दुस्तान में देश के बड़े-से-बड़े धनवानों के हाथ में हुकुमत का जितना हिस्सा रहेगा उतना ही गरीबों के हाथ में भी होगा। और तब नई दिल्ली के महलों और उनकी बगल में बसी हुई गरीब मजदूर बस्तियों के टूटे-फूटे झोपड़ों के बीच जो दर्दनाक फर्क आज नजर आता है, वह एक दिन को भी नहीं टिकेगा।

गांधीजी की सारी प्रवृत्तियों का केन्द्रबिन्दु सत्य और अहिंसा थे। उन्हीं के आधार पर वह देश के नव निर्माण के आकांक्षी थे।

दुर्भाग्य से आज देश मूल्यों के भयंकर संकट से गुजर रहा है। भ्रष्टाचार, महंगाई, आतंक, हिंसा, बलात्कार आदि व्याधियों ने नैतिक मूल्यों का ह्रास कर दिया है। जिस देश में दूध और दही की नदियां बहा करती थीं, उस देश में आज शराब की नदियां बह रही हैं। काला बाजार उजले बाजार पर हावी हो रहा है और येन-केन-प्रकारेण सत्ता को हड़पने और पैसे से अपनी तिजोरियां भरने के लिए देशवासी लालायित हैं। सत्य और अहिंसा का गला घुट रहा है। हिंसा आज इसीलिए उग्र हो रही है क्योंकि अहिंसा निस्तेज हो गई है। अनीति आज इसीलिए फल-फूल रही है, क्योंकि नीति निष्प्रभ हो रही है।

इसीसे हमें लगता है कि आज एक और गांधी की आवश्यकता है, लेकिन जिस गांधी ने देश को मानवीय मूल्यों के राज-मार्ग पर अग्रसर किया था, वह गांधी तो चला गया, अब वह आने वाला नहीं है, लेकिन अपने पीछे वह गांधी बहुत कुछ ऐसा छोड़ गया है जिस पर सामूहिक रूप से व्यवहार किया जाय तो गांधी पुनरुज्जीवित हो सकता है। उसी के लिए अब हमें संकल्पबद्ध होकर प्रयास करना चाहिए।

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

युवा पीढ़ी और समाज सेवा : एक पैगाम - युवा शक्ति के नाम

मेरे युवा साथियों !

इस पैगाम में मैं आपको आप नहीं कहकर तुम कह रहा हूँ। ईश्वर को हम तू कहकर सम्बोधित करते हैं। इसीलिये इस अति अपनत्व के तुम शब्द का सम्बोधन कर रहा हूँ। तुमने सुना होगा - एक बार एक भक्त ने भगवान से प्रश्न किया। “प्रभु तेरे में मेरी पूरी श्रद्धा है - तुझको मेरे पर विश्वास है या नहीं?” प्रभु ने कहा - ‘तेरी मेरे में पूरी श्रद्धा होती तो तू यह प्रश्न ही नहीं करता। मुझे तुम पर पूरा विश्वास है इसीलिये अपने मन की बात कह रहा हूँ।’

जहाँ भी तुम जैसे युवा साथियों की जमात खड़ी होती है- जानते हो सबकी दृष्टि उधर क्यों चली जाती है। तुम्हारे समूह में देखने वालों को उस विराट स्वरूप का बोध होता है जो सृष्टि रचना के पांच तत्वों में छिपा पड़ा है। समुद्र में तूफान, वायु में आंधी, अग्नि में दावानल, मिट्टी में सहनशीलता एवं आकाश में तेज। सभी कुछ तो है तुम्हारे अन्दर। सब चाहते हैं- तुम अपनी इन महान् शक्तियों को पहचानो और मर्यादा में रहकर इनका सदुपयोग करो।

किसी भी महापुरुष की जीवनी में उन्होंने जीवन में क्या किया है— इसीका कथनक रहता है। औरों के भले के लिए क्या किया है— इसी का उल्लेख रहता है। कोई व्यक्ति सिर्फ अपना एवं परिवार का ही निर्वाह करता रहे- उसे परिवार वाले भी स्मरण नहीं करते। राणा

प्रताप के चेतक का नाम तुम जानते हो - जो आज से चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। क्या अपने पूर्वजों के बारे में जानते हो- जो सिर्फ सौ वर्ष पहले हुए थे? स्मरण उसी का किया जाता है जो औरों के लिए जीता है।

आज समाज एवं देश की निगाहें- सिर्फ युवाशक्ति की ओर है। वैसे आज जिस वातावरण में तुम रह रहे हो- सभी बातें जीवन के प्रतिकूल है। दूरदर्शन एवं सभी प्रचार माध्यमों में धूम्रपान, वासना, फिजूलखर्ची आदि दृश्यों की भरमार है। लगता है जीने की कला का आधार ही बदल रहा है। जिन अभिनेताओं को हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं- वे ही अभिनेता-अभिनेत्री अब इन विज्ञापनों में अर्थ लाभ के लिए अपनी गरिमा को भूलकर सहर्ष योगदान दे रहे हैं। अशोक कुमार पान पराग में, धर्मेन्द्र शराब में और न जाने कौन-कौन, कैसे-कैसे... तुम तो देखते ही होगे यह सब। क्या तुम भी शराब, पान पराग, फैशन, वासना एवं किसी भी तरह धनोपार्जन करना ही जीवन का आधार बनाना चाहते हो? उन सब अभिनेताओं को अपने विचारों से अवगत कराओ। उनसे अनुरोध करो- ऐसे विज्ञापनों से अपनी छवि न बिगाड़ने की।

तुम कम्पास के बारे में अवश्य जानते होगे। कम्पास को रखते ही तुमने देखा होगा कि उसकी सूई उत्तर दिशा की ओर चली जाती है— जानते हो यह आकर्षण-शक्ति कितनी दूर है- तुम हैरान रह जाओगे यह जानकर कि यहाँ से करीब सोलह हजार किलोमीटर दूर उत्तरी गोलार्द्ध में यह चुम्बकीय आकर्षण-शक्ति है- जो इस जरासी नौक को अपनी ओर खींच रही है। इसी तरह हम सबकी आत्मा उस परम पिता परमात्मा की ओर खींची रहती है जो कम्पास की तरह ठीक दिशा निर्देश करता है। लेकिन यदि कम्पास असंतुलित हो अथवा उसका स्क्रू-पूर्वा डीला हो जाये तो वह सही दिशा नहीं दिखाता। ठीक यही हाल हमारी आत्मा का है। यदि हम असंतुलित हो जायें अथवा मानसिक यंत्र का कोई भी पूर्वा गड़बड़ा जाये तो हमारी आत्मा सही निर्देश नहीं देती। तुम जानते होगे कि यह कम्पास पचास रुपये का भी आता है एवं कई लाख रुपयों का भी। लाखों रुपयों के कम्पास वाला व्यक्ति हवाई जहाज द्वारा हजारों व्यक्तियों को अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचाता है। अपनी आत्मा को जगाओ उसी बड़े कम्पास की तरह, औरों को सही दिशा दिखाने के लिए।

जीवन एक-एक क्षण से बना है। सेकेंड से मिनट, मिनट से घंटा, घंटे से दिन, दिन से सप्ताह, सप्ताह से वर्ष और इसी क्रम को हम जीवन कहते हैं। एक व्यक्ति कोई भी कारबार, नौकरी अथवा कर्म करके यदि सिर्फ अपना एवं परिवार का ही निर्वाह करता है- तो वह यदि सौ के बदले दो सौ, चार सौ वर्ष भी जीये तो उसे यही क्रम करते रहना है। समय को सुकार्य में भी लगाना है, इसका ध्यान हमेशा रखना।

हमारा शरीर पांच तत्वों का एक अद्भुत मिश्रण है। संत तुलसीदास ने मानव शरीर के लिये लिखा है, “बड़े भाग मानुष तन पावा”। अतः

इन पांच तत्वों के धर्म को गहन चिन्तन से परखो। मिट्टी की करुणा, जल का समन्वय, वायु का निराकार रूप में प्राण फूंकना, आकाश का विश्वबन्धुत्व, अग्नि का ऊर्जा-वितरण एवं प्रकाश देना ही धर्म का सार है।

सेवा को ही परमोधर्म कहा है- हमारे शास्त्रों ने, धर्म ग्रन्थों ने। ईश्वर ने यह विराट शक्तियां हमें इसीलिए प्रदान की हैं- ताकि हम शक्तियों का मूल्यांकन करें- अपने जीवन का मूल्यांकन करें। कुछ रुपयों की ही पाकेटमारी हो जाये- तो हम अपने सभी साथियों को इसकी जानकारी करायेंगे। लेकिन समय के निरर्थक चले जाने की चर्चा हम कहीं नहीं करेंगे। जीवन का एक छोटा सा हिसाब समझो। यदि एक व्यक्ति औसत में अस्सी वर्ष जीता है तो उसे कुल 29000 दिन मिले। आठ घंटे सोने के हिसाब से उसका 1000 दिन सोने में चला जाता है। आठ घंटा अध्ययन अथवा रोजगार करे तो 10000 दिन एवं करीब चार घंटा नित्य-कर्म तथा आने-जाने में लगने से 4500 दिन और चले गये। बाकी बचे 4500 दिन भी यदि जन्मदिन, विवाह, टीवी, सिनेमा, घूमना-फिरना, गणपबाजी आदि में व्यतीत कर दें तो अच्छे कार्यों के लिये अमूल्य समय कहां बचा। समय का सदुपयोग ही जीवन का सही मूल्यांकन है।

अब अपने विचार करें कि हम क्या कर सकते हैं? इसके लिये सबसे पहले तुम्हारे मन में औरों के लिये कुछ करने के जो विचार मन में उठते हैं- उन्हें कागज पर नोट करो। कागज पर अपने विचार नहीं उतारोगे तो विचार इसी तरह आते रहेंगे- जाते रहेंगे एवं तुम वहीं के वहीं रह जाओगे। तुमने सुना होगा- कुछ पंडित भांग पीकर एक नौका में बैठ गये। रात का समय था। नौका की रस्सी खूँटे से ही बंधी रह गई एवं वे रात भर नौका खेते रहे। उन्हें सुबह पता चला कि वे जहां थे वहीं हैं। अतः संकल्प के साथ अपनी आत्मा के निर्देश को समझते हुए उस ओर आगे बढ़ो।

तुम अर्थ-युग से गुजर रहे हो। तुम जानते ही हो कि पिछली बार शेयरों की आंधी ने क्या किया। तुम्हारे ही अनेक साथी पैसों की आंधी दौड़ में दौड़ पड़े। पैसा कमाना ही आज जीवन का मापदण्ड बन गया है। परन्तु तुमने क्या किसी पैसे वाले का चित्र किसी के घर में टंगा देखा है। तुमने चित्र देखे होंगे- हमारे ऋषि-मुनियों के, देश एवं समाज

सेवकों के।

आज फैशन एवं फिजूलखर्ची की दुनिया है। क्रिकेट, सिनेमा आदि की टिकटें हम ऊंचे दामों में खरीदते कभी नहीं हिचकिचाते। बर्थ डे पार्टी, शादी-विवाह, पहनावा आदि मदों में खर्चों की कोई परवाह नहीं करता परन्तु इसी धन का सही उपयोग में हमारा हाथ खिंच जाता है। चिन्तन को नया मोड़ देना है तुम्हें।

एक दृष्टांत है- एक धोबी को एक हीरों का हार मिल गया। उसने अपने गधे को उसे पहना दिया। एक छोटे व्यापारी ने उस हार को अपनी पत्नी के लिये अल्प रुपयों में खरीद लिया। एक जौहरी की नजर उस पर पड़ गई। उसने उसे और कुछ रुपये देकर खरीद लिया। वह पारखी था- उसने उस हार का एक-एक हीरा हजारों लाखों में बेच दिया। तुम्हारे पास भी अनेक अमूल्य शक्तियों का भण्डार भरा पड़ा है- संगठन शक्ति, स्मरण शक्ति, सहन शक्ति, योग शक्ति, कुण्डलिनी शक्ति, आकर्षण-शक्ति, संकल्प शक्ति, शब्द शक्ति, कल्पना शक्ति आदि-आदि। इन शक्तियों को पहचानो एवं उनका सदुपयोग करो।

यह खेदजनक ही है कि आज राष्ट्र के कर्णधार भी अपना सही पथ भूल गये हैं। जुआ, लॉटरी, धूम्रपान, शराब आदि को सरकारी आय का स्रोत समझ कर स्वयं वे असहाय नजर आ रहे हैं। अपने निहित स्वार्थ के लिये युवा शक्ति को भ्रमित कर रहे हैं। चुनाव के जंजाल में फंसा रहे हैं- इस विराट शक्ति को। इसीलिए आज समाज एवं देश की निगाहें सिर्फ तुम्हारी यानी युवा शक्ति पर है।

दहेज, कुव्यसन, फिजूलखर्ची, निरक्षरता, भ्रष्टाचार आदि अनेक ऐसी चुनौतियां हैं, जिनका सामना तुम्हीं कर सकते हो। हमारे देश का इतिहास हजारों ऊंचे चरित्र और विलक्षण गुणों वाली अनेक गाथाओं से भरा पड़ा है। बचपन की अच्छी आदतों और अच्छे कार्यों से जीवन में ऊंचा उठने की शक्ति मिलती है। तुम अपनी लगन, दृढ़ता, धीरज, बुद्धि, सूझ-बूझ, और चेष्टा से बड़े से बड़े काम कर सकते हो। आज ही संकल्प करो कि तुम्हें प्रति दिन ऐसे काम करने हैं, जिनसे तुम्हारी उन्नति हो और दूसरों को भला हो। भगवान ने तुम्हें जो अद्भुत शक्तियां दी हैं उन्हें नष्ट मत होने दो, उनका सही उपयोग करो।

परिवार - समाज एवं राष्ट्र को अपने जीने का प्रमाण दो।

43, कैलाश बोस स्ट्रीट, कलकत्ता

प्रभु महावीर (रेडियो रूपक)

हिंसा से जलती धरती पर, अमृतमेघ बन जो बरसा,
विश्व शांति के महाभगीरथ, महावीर प्रभु की जय हो जय हो ॥
मानवता का कल्पवृक्ष बन, नन्दन किया विश्व को जिसने,
याकर उसकी शरण दिव्यतम, सारी मानव जाति अभय हो ॥

वाचक : भारतीय संस्कृति की अनादिकालीन श्रमण परम्परा में भगवान आदिनाथ से लेकर भगवान महावीर तक 24 तीर्थंकरों एवं अनन्तानन्त ऋषियों ने संसार के प्राणिमात्र के लिए धर्म का उपदेश देकर अनन्त शांति को प्राप्त करने का मार्ग बताया। भगवान महावीर ने कहा- “वत्थु सहावो धम्मो” वस्तु का जो स्वभाव है वही उसका धर्म है। लेकिन इस संसार के प्राणी अपने इस स्वभाव रूप धर्म को भूलकर चतुर्गत्यात्मक संसार में संक्रमण, परिभ्रमण कर रहे हैं। संसार परिभ्रमण के इस चक्र को हम भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म का पालन करके रोक सकते हैं और अपनी आत्मा को साक्षात् भगवान बना सकते हैं।
भगवान महावीर ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा स्याद्वाद जैसे सिद्धांतों का उपदेश दिया और अपने समय के अधर्माधिकार को दूर कर धर्म का प्रकाश फैलाया।

ढाई हजार वर्ष पूर्व अर्थात् भगवान महावीर के जन्म से पहले के भारत की तत्कालीन दशा बड़ी दयनीय थी। भारत दो राजनैतिक प्रणालियों में बंटा हुआ था। मगध, अंग, बंग, कलिंग, वत्स, अवन्ती और उत्तरी कौशल आदि राजतंत्र प्रणाली द्वारा शासित थे तथा वैशाली में लिच्छवी, कपिलवस्तु में शाक्य, कुशीनारा और मल्ल गणराज्य की जनता गणतंत्र की शासन प्रणाली से शासित थी। राजतंत्र में राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था और गणतंत्र में शासक मात्र मानव समझा जाता था।

भगवान महावीर वैशाली गणतंत्र के शासक श्री सिद्धार्थ के पुत्र थे। उनकी माता का नाम त्रिशला था। वैशाली के उपनगर क्षत्रिय कुण्डग्राम की पुण्य भूमि में ईसा पूर्व 599, 30 मार्च, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उनका जन्म हुआ था। महावीर जब जीवन के अष्टादश वर्ष पूर्ण कर रहे थे तब उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। महावीर में श्रमण होने की भावना जाग उठी। एक ओर उनकी विनम्रता अपने चाचा पार्श्व और बड़े भाई नन्दिवर्धन द्वारा कुछ वर्षों तक घर में रहने के अनुरोध को अस्वीकार न कर सकी तो दूसरी ओर उनका संकल्प गृहवास को स्वीकार न कर सका। इस अन्तर्द्वन्द्व में उन्होंने एक नये मार्ग की खोज की।

महावीर : “जिसकी वासना नहीं छूटी और जो श्रमण हो गया, वह घर में नहीं है, पर घर से दूर भी नहीं है, वासना से मुक्त होकर घर में रहते हुए भी घर से दूर रहा जा सकता है।”

वाचक : वे परिवार में रहकर भी एकान्त में रहे उन्होंने अस्वाद का विशिष्ट अभ्यास किया। वे मौन और ध्यान में लीन रहे। उन्होंने अनुभव किया- घर में रहते हुए घर से दूर रहा जा सकता है पर यह सामुदायिक मार्ग नहीं है। वह तभी संभव है जब वे घर को छोड़ दें। परिवार वालों से आज्ञा लेकर उन्होंने घर छोड़ दिया। और जनता के समक्ष उन्होंने स्वयं श्रमण की दीक्षा स्वीकार की, उन्होंने संकल्प किया :-

महावीर : 1- आज से विदेह रहूंगा, देह की सुरक्षा नहीं करूंगा। जो भी कष्ट आये उन्हें सहन करूंगा। रोग की चिकित्सा नहीं कराऊंगा। भूख और प्यास की बाधा से अभिभूत नहीं होऊंगा। नींद पर विजय प्राप्त करूंगा।

2- अभय के सधे बिना समता नहीं सध सकती और विदेह के सधे बिना अभय नहीं सध सकता। भय का आदि बिन्दु देह की आसक्ति है। अभय की सिद्धि अनिवार्य है। हिंसा, बैर और अशांति सब देह में होते हैं, विदेह में नहीं।

वाचिका : जब भगवान महावीर कनखल आश्रम के पार्श्ववर्ती देवालय के मंडप में ध्यान कर रहे थे, चण्डकौशिक सर्प ने दृष्टि से विष का विकिरण किया, भगवान पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

वह सर्प भगवान के पैरों से लिपट बार-बार उन्हें डसने लगा पर उनकी आंखों से निरन्तर अमृत की वर्षा होती रही। उनका मैत्री भाव विष को निर्विष करता रहा। अहिंसा की हिंसा पर विजय हुई। महावीर जैसे-जैसे साधना में आगे बढ़े वैसे-वैसे उनकी चेतना में समता का सूर्य अधिक आलोक देने लगा। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सब उस आलोक से आलोकित हो उठे।

महावीर : “अरक्षा ही सबसे बड़ी सुरक्षा है। जो अपने आपको असुरक्षित अनुभव करता है, वह अध्यात्म के मार्ग पर नहीं चल सकता। मुझे किसी सुरक्षा की अपेक्षा नहीं है। स्वतंत्रता और स्वावलम्बन ही मेरी सुरक्षा है।”

वाचक : भगवान महावीर की साधना का मूल मंत्र है समता, न राग और न द्वेष, चेतना की यह अनुभव दशा समता है। उन्होंने लाभ-अलाभ, सुख-दुख, निंदा-स्तुति, मान-अपमान, जीवन-मरण की अनेक घटनाओं की कसौटी पर अपने को परखा और खरे उतरे। उनकी चेतना अनावृत्त हो गई। अभय साधना, समता की साधना सिद्ध हो गई। वह वीतराग की भूमिका में पहुंच केवली हो गये। इन्द्रिय, मन और बुद्धि की उपयोगिता समाप्त हो गई।

वाचिका : साधना काल में भगवान प्रायः मौन, अकर्म और ध्यानस्थ रहे। साधना की सिद्धि होने पर उन्होंने सत्य की व्याख्या की।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी सत्य की उपलब्धियों की शताब्दी है। उस शताब्दी में भारतीय क्षितिज पर महावीर और बुद्ध, चीनी क्षितिज पर लाओत्से और कन्फ्यूशियस, यूनानी क्षितिज पर पाइथोगोरस जैसे महान् धर्मवेत्ता सत्य के रहस्यों का उद्घाटन कर रहे थे। बुद्ध ने कहा- “सत्य अव्याकृत है।” लाओत्से ने कहा, “सत्य कहा नहीं जा सकता” महावीर ने कहा, “सत्य नहीं कहा जा सकता। यह जितना वास्तविक है उतना ही वास्तविक यह है कि सत्य कहा जा सकता है। वस्तुजगत में पूर्ण सामंजस्य और सह अस्तित्व है। विरोध की कल्पना हमारी बुद्धि ने की है। उत्पादन और विनाश, जन्म और मौत, शाश्वत और अशाश्वत सब साथ-साथ चलते हैं।”

भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने एक बार पूछा :-

गौतम : भन्ते! सत्य क्या है ?

महावीर : वह बताया नहीं जा सकता।

गौतम : तो हम उसे कैसे जानें ?

महावीर : तुम स्वयं उसे खोजो

गौतम : उसकी खोज कैसे करें ?

महावीर : कर्म को छोड़ दो, मन को विकल्पों से मत भरो, मौन रखो। शरीर को स्थिर रखो।

गौतम : भन्ते, तब जीवन कैसे चलेगा ?

महावीर : संयत कर्म करो, बोलना आवश्यक हो तो संयम से बोलो, चलना आवश्यक हो तो संयम से चलो, खाना आवश्यक हो तो संयम से खाओ।

गौतम : भन्ते, जब सत्य की खोज का मार्ग बताया जा सकता है तो सत्य क्यों नहीं बताया जा सकता ?

महावीर : यह सत्यांश है। मैं सत्य का सापेक्ष प्रतिपादन करता हूं, पूर्ण सत्य नहीं बताया जा सकता। इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्यांश बताया जा सकता है। इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य अवक्तव्य है और सत्य वक्तव्य है, इन दोनों का सापेक्ष बोध ही साम्यज्ञान है।

गौतम : भन्ते, वक्तव्य सत्य क्या है ?

महावीर : अभेद की दृष्टि से अस्तित्व (होना मात्र) सत्य है और भेद की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय सत्य है। द्रव्य शाश्वत है, पर्याय अशाश्वत है। शाश्वत और अशाश्वत का समन्वय ही सत्य है।

वाचक : महावीर न सिर्फ दार्शनिक थे और न कोरे धार्मिक। वे दर्शन और धर्म के समन्वयकार थे। उन्होंने सत्य को देखा, फिर चेतना के विकास के लिए अनाचरणीय का संयम और आचरणीय का आचरण किया।

महावीर : “अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन (भक्ति) और अकेला पुरुषार्थ (कर्म) मनुष्य को दुःख मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। ज्ञान, दर्शन और आचरण का समन्वय ही उसे दुःख मुक्ति की ओर ले जाता है। ...पहले जानो, फिर करो। ज्ञानहीन कर्म और कर्महीन ज्ञान ये दोनों व्यर्थ हो जाते हैं। ज्ञान सत्य का आचरण और आचरित सत्य का ज्ञान ये दोनों एक साथ होकर ही सार्थक होते हैं...”

वाचक : महावीर श्रद्धा को ज्ञान और आचार का सेतु समझते थे।

महावीर : जिसको ज्ञान हो जाये उसके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए, श्रद्धा अज्ञान का संरक्षण नहीं करती, वह ज्ञान को आचरण तक ले जाती है। ज्ञान दुर्लभ है और श्रद्धा उससे भी दुर्लभ और आचरण उससे भी दुर्लभ। ज्ञान के परिपक्व होने पर श्रद्धा सुलभ होती है और श्रद्धा के सुलभ होने पर आचरण सुलभ होता है।

वाचिका : उन्होंने बताया कि ज्ञान का मूल स्रोत मनुष्य है। आत्मा से भिन्न कोई परमात्मा नहीं है। उनके दर्शन में स्वतः प्रामाण्य शास्त्र का नहीं है, मनुष्य का है। वीतराग मनुष्य प्रमाण होता है और अन्तिम प्रमाण उसकी वीतराग दशा है।

वाचक : वे अनेकात्मवादी थे। भगवान के अनुसार आत्माएं अनन्त हैं। प्रत्येक आत्मा दूसरी आत्मा से स्वतंत्र है। सब आत्माओं में चैतन्य है पर वह सामुदायिक नहीं है। जैसे आत्माएं अनेक हैं वैसे ही योनियां भी अनेक हैं। उस काल में मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में बंटा हुआ था। कर्म संस्कार ही इसके आधार थे। वर्ण के अहंकार ने उच्चता और नीचता की दीवार खड़ी कर दी और जन्मजात जाति का प्रचलन हो गया।

महावीर : जब वस्तु जगत में समन्वय और सहअस्तित्व है तो फिर मानव जगत में समन्वय और सह-अस्तित्व क्यों नहीं। सब जीवों के साथ मैत्री करो। उसका एक ही सूत्र है सहिष्णुता, भेद के पीछे छिपे अभेद को मत भूलो। तुम जिसे शत्रु मानते हो उसे भी सहन करो और जिसे मित्र मानते हो उसे भी सहन करो। मैं सब जीवों को सहन करता हूँ।

वे सब मुझे सहन करें।

मेरी सबके प्रति मैत्री है।

किसी के प्रति मेरा वैर नहीं है।

अहंकार छोड़ो - यथार्थ को देखो।

अनेकता एकता से पृथक् नहीं है। और यही सह-अस्तित्व का मूल आधार है।

वाचक : भगवान महावीर ने तत्त्व धर्म और व्यवहार के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और जनमानस को आन्दोलित किया, वह आज भी उतने ही खरे हैं जितने ढाई हजार वर्ष पूर्व थे। उन्होंने कहा-

* सत्य अनन्त धर्मा है। एक दृष्टिकोण से एक धर्म को देखकर शेष अदृष्ट धर्मों का खंडन मत करो।

* सत्य की सापेक्ष व्याख्या करो। अपने विचार का आग्रह मत करो, दूसरों के विचारों को समझने का प्रयत्न करो।

* राग-द्वेष से मुक्त होना अहिंसा है। समानता का भाव सामुदायिक जीवन में विकसित होता है तभी अहिंसक क्रान्ति सम्भव है।

* उन्होंने कहा- किसी का वध मत करो।

किसी के साथ वैर मत करो।

सबके साथ मैत्री करो।

दास बनाना हिंसा है इसलिए किसी को दास मत बनाओ।

पुरुष स्त्रियों को और शासक शासितों को पराधीन न समझें, इसलिए दूसरों की स्वाधीनता का अपहरण मत करो।

* ऊँच-नीच का विचार ही नहीं रखना चाहिए। न कोई जाति ऊँची है और न कोई नीची। जाति व्यवस्था परिवर्तनशील है, काल्पनिक है। इसे शाश्वत बनाकर हिंसा को प्रोत्साहन मत दो, सब जातियों को अपने संघ में सम्मिलित करो।

* स्वर्ग मनुष्य का उद्देश्य नहीं है, उसका उद्देश्य है परम शांति, निर्वाण।

* युद्ध हिंसा है, वैर से वैर बढ़ता है, उससे समस्या का समाधान नहीं होता।

* अपने शरीर और परिवार के प्रति होने वाले ममत्व को कम करो।

* उपयोग की वस्तुओं का संयम करो।

* विस्तारवादी नीति मत अपनाओ।

* दूसरों के स्वत्व पर अधिकार करने के लिए आक्रमण मत करो।

* मनुष्य अपने सुख-दुख का कर्ता स्वयं है। अपने भाग्य का विधाता भी वह स्वयं है।

* राजा ईश्वरीय अवतार नहीं है, वह मनुष्य है।

* कोई भी ग्रन्थ ईश्वरीय नहीं है, वह मनुष्य की कृति है।

* भाग्य मनुष्य को नहीं बनाता, वह अपने पुरुषार्थ से भाग्य को बदल सकता है।

* असंविभागी को मोक्ष नहीं मिलता, इसलिए संविभाग करो, दूसरों के हिस्से पर अधिकार मत करो।

* अनाश्रितों को आश्रय दो।

* शिक्षा देने के लिए सदा तत्पर रहो।

* रोगियों की सेवा करो।

* कलह होने पर किसी का पक्ष लिए बिना शान्त करने का प्रयत्न करो।

* धर्म सर्वाधिक कल्याणकारी है, किन्तु वही धर्म जिसका स्वरूप अहिंसा, संयम और तप है।

* विषय वासना, धन और सत्ता से जुड़ा हुआ धर्म, सांसारिक विष की तरह है।

* धर्म के नाम पर हिंसा अधर्म है।

* चरित्रहीन व्यक्ति को सम्प्रदाय और वेश त्राण नहीं देते, धर्म और धर्म-संस्था एक नहीं है।

* भाषा का पांडित्य और विद्याओं का अनुशासन ही मन को शांत नहीं करता। मन की शांति का एक मात्र साधन है धर्म।

महान् शांति-दूत, अहिंसा के पुजारी और समता के अवतार भगवान महावीर का ईसवी पूर्व 527 में निर्वाण हुआ। धर्म, ज्ञान, समता और अहिंसा की जो ज्योति उन्होंने जगाई, वह आज ढाई हजार वर्ष बाद भी अपने प्रकाश से सारे संसार का मार्गदर्शन कर रही है... अगर हम सब उनके दिखाये रास्ते पर चलें तो संसार में फैले अंधकार को दूर कर सकते हैं।

जाति पांति की चिर कटुता के, तम को जिसने दूर भगाया।
समता का शुभ पाठ पढ़ाकर, जिसने सबको गले लगाया॥

तप संयम से देह मुक्ति का, किया प्रकाशित जिसने पथ है।
मनुज मात्र के धर्म केतु की, दिशा दिशा में सदा विजय हो॥

मन का कलमष धोकर जिसने, दया क्षमा की ज्योति जगायी।
विष की बेल काटकर जिसने, अमृत की लतिका लहराई।
अंधकार को दूर भगा कर, जिसने सबको दिया उजाला।
विश्व गगन के महासूर्य की, धर्म कीर्ति-निधि नित अक्षय हो॥

साम्प्रदायिकता और इतिहास-दृष्टि

विश्व पूंजीवाद के इस चरम एवं सर्वव्यापी संकट में हम जनवादी क्रांति के लिए प्रस्तुत हो रहे हैं। यह जनवादी क्रांति सामन्तवाद, साम्राज्यवाद और इनारेदार पूंजीवाद के विरुद्ध है। यह संघर्ष कृषि-क्रांति और राजसत्ता पर अधिकार के लिए किया जा रहा है। वर्तमान दौर में देशव्यापी वामपंथी आंदोलन के आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण का यही मुक्त स्वर है।

इस संघर्ष में सहयोगी सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं का आज मुख्य दायित्व यही है कि वे अपनी संघर्षमयी सृजनशीलता से जनमानस की चेतना का स्तर ऊंचा उठावें। शासक-शोषक वर्ग द्वारा निर्मित जीर्ण-शीर्ण विचारों, आदर्शों एवं संस्कारों का उन्मूलन कर जीवनोन्मुखी स्वस्थ चेतना को निर्मित करें और उसे प्रचारित-प्रसारित करें।

व्यावहारिक अनुभव की कसौटी पर हमें दैनन्दिन-जीवन में विभिन्न प्रकार की जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ साधक ऐसे हैं, लेकिन परिणाम में वे असफल होते जा रहे हैं। ऐसा क्यों? दरअसल किसी महत् कार्य के लिए मात्र लगनशीलता ही पर्याप्त नहीं है। किसी भी आन्दोलन में खासकर सांस्कृतिक क्षेत्र में हमें उस पूरी प्रक्रिया पर विचार करना पड़ेगा कि हमारी गतिविधि हमें इतिहास की किस दिशा में ले जा रही है।

आज भारतीय बौद्धिकता को जैसे लकवा मार गया है। समाज के जब सचेत तबके में भी एक तरह की निश्चिन्तता, उदासीनता, बचकानापन और भी ज्यादा गहरा, ज्यादा साफ और ज्यादा निकट दिखायी देता

है। आज जैसे हम एक ज्वरग्रस्त इमरजेंसी के अन्तराल में जी रहे हैं। क्या बिना अपने भीतर के अलगाव से मुक्ति पाये हम इस संकट से छुटकारा पा सकते हैं? कोई भी जाति संकट की घड़ी में अपने अतीत को, अपनी जड़ों को टटोलती है। यह आत्ममंथन की भी घड़ी है। संकट की घड़ी में अपनी परम्परा का मूल्यांकन करना, एक तरह से खुद अपना मूल्यांकन करना है। संस्कृति मनुष्य की आत्मचेतना का ही प्रदर्शन नहीं, यह उस सामूहिक मनीषा की उत्पत्ति होती है जिसके द्वारा व्यक्ति विश्व से जुड़ता है। प्रत्येक जाति अपनी परम्परा की आंखों से यथार्थ को छानती है। स्थिति तो यह है कि हमारी चेतना की अंधेरी मिथकीय जड़ें, इतिहास के पानी को अपने ऊपर से बह जाने दे रही हैं। हम जैसे यथार्थ को नकार कर अतीत के मिथकों, प्रतीकों एवं दुःस्वप्नों में जी रहे हैं। आज जब हम समस्त मूल्यों और मान्यताओं का स्रोत अपनी चेतना में भी ढूँढ़ते हैं तो इस संदर्भ को समझने के लिए हमें भारतीय मनीषा के टेक्स्टचर की बुनावट को समझना पड़ेगा। हालत तो यह है कि हमारे बौद्धिक वैभव की शुरुआत जिन इतिहासविदों ने की, उसी के दुष्परिणाम और उनकी तार्किक परिणति के फलस्वरूप, वर्तमान विभीषिका का यह विकराल रूप दिखायी पड़ रहा है। व्यावहारिक स्तर पर इतिहास को झेलना और मनीषा के स्तर पर उसके दबाव को अस्वीकारना, यह हमें आत्मविभाजित, हमारे व्यक्तित्व को खंडित, हमारी आत्मा को खंडित नहीं करेगा तो और क्या करेगा? बिना इस उत्स को समझे हम अपनी परम्परा, अपनी संस्कृति और अपनी जीवन-पद्धति के मूल स्रोतों को सचेत ढंग से नियोजित नहीं कर सकते। इसी तरह हम अपनी जातीय अस्मिता के प्रति अविश्वास को खत्म कर सकते हैं। प्रश्न उठता है कि वर्तमान, हमारे लिए ढोनेवाला बोझा क्यों बन गया है? शायद इतिहासविदों की आत्म-छलना में ही वर्तमान संकट के बीज निहित हैं।

महिमामंडित अतीत के प्रति पूजा भरी श्रद्धा, अन्धविश्वास, भविष्य के प्रति अपार सम्मोहन के पीछे वर्तमान के प्रति जो गहरी अवज्ञा छिपी हुई है, उसे इतिहास की जड़ों में ढूँढ़ना पड़ेगा। एक ओर इतिहासकार का संबंध अतीत से होता है, दूसरी ओर उसकी महत्वपूर्ण भूमिका उस समाज के भावी निर्माण में होती है जिसका वह अध्ययन करता है। अतीत के साक्ष्य के सहारे उसके विवेचन विश्लेषण में इतिहासकार अपने समकालीन परिवेश से भी प्रभावित होता है इसलिए ऐतिहासिक व्याख्या की प्रक्रिया दोहरी बन जाती है। अर्थात् वर्तमान की आवश्यकताओं को विकास के नियमानुसार अतीत में ढूँढ़ा जाय और अतीत के बिम्ब का वर्तमान से सामन्जस्य स्थापित किया जाय। अतीत का बिम्ब भविष्य में क्या होगा यह तो इतिहासकार की ही मौलिक देन होती है। लेकिन बहुत से इतिहासकारों ने इसे ऐसे प्रस्तुत किया है जिससे प्रतिक्रियावादी राजनीतिक भ्रमों और मिथकों की सृष्टि हो रही है। उदाहरण के लिए आर्य जाति की श्रेष्ठता का सिद्धांत निर्मित किया गया जिसका फायदा फासिस्टों ने उठाया। द्वितीय विश्वयुद्ध से लेकर आज तक उसकी असह्य यातना सबको झेलनी पड़ रही है। दूसरा सिद्धांत यह गढ़ा गया कि

हिन्दू और मुसलमानों के दो पृथक् राष्ट्र होने चाहिए। इसका उपयोग साम्राज्यवादियों ने पाकिस्तान के निर्माण का औचित्य सिद्ध करने के लिए किया। इस तरह कल्पना प्रसूत औचित्यों की तलाश में वर्तमान को अतीत पर आरोपित कर पूरी की पूरी पीढ़ी को गुमराह किया गया। इतिहासकारों ने भारत के अतीत के संबंध में कुछ ऐसे दृष्टिकोण और सिद्धांत प्रस्तुत किये जो उत्तरोत्तर अधिकाधिक अप्रासंगिक होते जा रहे हैं। हमें आज औपनिवेशिक युग के इतिहास लेखन के वितण्डावादी दृष्टिकोणों से मुक्त होने की जरूरत है। अपनी संस्कृति और इतिहास का निष्पक्ष और आलोचनात्मक मूल्यांकन करने का आत्मविश्वास आना चाहिए। आखिर अतीत का यह कैसा बिम्ब प्रस्तुत किया गया जिसने भारतीयों तथा विदेशियों, दोनों के मन में गहरे पूर्वाग्रहों को जन्म दिया। यह आम धारणा आज भी विद्यमान है कि भारतीय तो अपने इतिहास से विमुख थे, वे अपने इतिहास का कोई प्रलेख सुरक्षित नहीं रखते थे।

भारत के अतीत का अनुसंधान अंग्रेज शासकों के तत्वावधान में आरम्भ हुआ। सम्पूर्ण भारतीय अतीत की समझदारी के संदर्भ में बहुत बड़ा अन्तर विरोध यह है कि जेम्समिल जैसे इतिहासकारों ने और विशेष करके ईसाई धर्म के प्रचारकों ने यह प्रतिपादित किया कि भारत के अतीत की संस्कृति में बुद्धिवाद के तत्व नहीं मिलते, उनकी कोई विधि प्रणाली भी नहीं थी। भारतीय अतीत का समाज गति शून्य था। इस विश्लेषण ने ब्रिटिश शासकों को बड़ी मदद दी और उन्होंने यह दावा किया कि भारतीय समाज को बदलने के लिए उन्हीं का बुद्धिवादी कानून उपयोगी है। उनके हिसाब से प्राचीन भारत में केवल निरंकुशता का बोलबाला था। इस तरह प्राच्य निरंकुशता पर जोर देकर साम्राज्यवादियों ने इसका अपने ढंग से उपयोग किया। गौर करने की बात है कि जेम्समिल की लिखी हुई 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया' नामक पुस्तक से लिखबरी कालेज की पाठ्य पुस्तक बनी जहां भारत भेजे जाने वाले सिविल अधिकारी प्रशिक्षण पाते थे। भारतीय इतिहास की ऐसी व्याख्याएं पिछले दो सौ वर्षों से की जा रही हैं। यूरोप में राष्ट्रवाद की जो लहर उठी उसके फलस्वरूप यूरोप के अतीत को एक नयी दृष्टि से देखा जाने लगा, लेकिन जिन लोगों ने एशिया और अफ्रीका में नये उपनिवेश बसाये, उन्होंने भारतीय इतिहास की व्याख्या में राष्ट्रवादी दृष्टि को ताक पर रख दिया और ऐसे विचारों का प्रतिपादन किया जो भारतीय इतिहास तथा संस्कृति से संबंधित बद्ध मूल धारणाओं में परिवर्तित हो गये और यही धारणाएँ साम्राज्यवाद की आवश्यकताओं के लिए उपयोगी बनीं।

जाहिर है कि आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रतिरूप आज भी सांस्कृतिक प्रभुत्व में समाया हुआ है। इतिहास के विकास की पद्धतियों के बारे में और इतिहास के नियमों की जिन्हें जानकारी है, वे जानते हैं कि समाज पर, उसके विकास पद्धति पर राजकीय अधिसंरचना का प्रभुत्व होता है यद्यपि उसका आधार आर्थिक ढांचा होता है। इस अधिसंरचनात्मक संस्थाओं में मरणासन्न तथा नवीन दोनों तरह की पद्धतियों की, सामाजिक संस्थाएं उसके भीतर अवयव के रूप में शामिल रहती हैं। लम्बे दौर तक उनका सह कायम रहता है और वे एक-दूसरे पर गहरा प्रभाव

डालती हैं। वर्तमान ऐतिहासिक स्थिति में सामाजिक संघर्षों पर जब नयी परिवर्तित परिस्थितियां हस्तक्षेप कर रही हैं तो परम्परागत धार्मिक चेतना नवोदित प्रक्रियाओं और प्रवृत्तियों के विरुद्ध रूढ़िवादी प्रतिक्रिया का आधार बन रही है। आज उत्पादक शक्तियों, उत्पादन संबंधों, सामाजिक संस्थाओं, विचार-धारात्मक धारणाओं तथा सांस्कृतिक मूल्यों के क्षेत्र में संकट के लक्षणों का संचय हो रहा है। यह असंतुलन जहां इतिहास की नयी गति की ओर इंगित कर रहा है वहीं यह विभिन्न प्रकार की विकृतियों को भी पैदा कर रहा है। उदाहरण के लिए उन्हीं इतिहासकारों ने इस बात पर जोर दिया कि भारत का प्राचीन समाज एक आदर्श समाज था, इसमें सर्वत्र मेलजोल का वातावरण था यानी वहां किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं था, क्योंकि भारत के लोग तो आध्यात्मिकता की ओर ज्यादा उन्मुख थे और वे भौतिकवाद की ओर ज्यादा झुकाव नहीं रखते थे। इस मान्यता से आज सांस्कृतिक पुनरुत्थान को धार्मिक पुनरुत्थान से जोड़ दिया है और इसने तथाकथित हिन्दुत्व की रूढ़िवादी पुनर्शक्ति की पुनर्प्रतिष्ठा संभव करने की एक भूमिका बनायी जो आज आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक गतिरोध पैदा कर रहा है, भौतिक और आध्यात्मिक आधार पर पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता को बांटने का यह अपराध आज भी एक ऐसी मानसिकता को जन्म दे रहा है, जिसमें लोग फंस कर मशीन के ही विरोधी हो गये।

उदाहरण के लिये आर्य और अनार्य का भेद और उसके दुष्परिणाम पर यदि गौर किया जाय तो एक नकली वैज्ञानिक सिद्धांतों के जन्म का उद्भव पाते हैं। उपनिवेशवादी व पृथक्तावादी प्रवृत्तियों को उत्तेजना देते हैं और उपनिवेश में यह उत्तेजना हर गुट को अपनी संस्कृति के पृथक् मूल की तलाश की ओर ले जाती है और ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं कि राष्ट्रीय संस्कृति की परिभाषा और प्रवृत्ति विच्छिन्नतावाद, अलगाववाद तथा आंचलिकतावाद को जन्म देता है। हिन्दू-मुस्लिम तनाव का कारण बताने और उस तनाव को उचित ठहराने के लिए यह धारणाएँ आज भी भारतीय समाज को खंड-खंड करने में लगी हैं।

मेरी समझ से आर्य जाति विषयक धारणा को भारतीय परम्परा से जोड़ना अनुचित है। प्रारम्भिक साहित्य में आर्यों का उल्लेख बार-बार मिलता है, लेकिन इस शब्द का प्रयोग या तो विशेष समादृत व्यक्ति के रूप में या म्लेच्छ अथवा अनार्य से भिन्न अर्थ में हुआ है। भिन्नता का आधार भाषा, मुखाकृति या धार्मिक पूजन है। आर्यों को पृथक् सांस्कृतिक समुदाय तो माना गया है लेकिन अलग जाति के रूप में नहीं। अतीत के साक्ष्य जैसे बोधायन, जैन ग्रन्थ भागवती सूत्र, महावग्गु नामक बौद्ध ग्रन्थ में आर्यावर्त की अलग-अलग परिभाषा की गई है। अर्थात् अमुक समुदाय के स्रोत किस संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं और उस संस्कृति का मुख्य केन्द्र कहां था। उत्तर वैदिक ग्रन्थों में आर्यावर्त का उल्लेख मुख्यतः गंगा-यमुना-द्वाबा और उसके सीमावर्ती क्षेत्रों के अर्थ में हुआ है। इस सीमा से बाहर के क्षेत्रों का उल्लेख सामान्यतः म्लेच्छ देश के रूप में हुआ है। यह मापदण्ड प्रजाति का नहीं है, जाहिर है कि वैज्ञानिक और लोक प्रचलित दोनों अर्थों में प्रजाति की परिकल्पना

आधुनिक यूरोप की उपज है। भारतीय सभ्यता के आरम्भ की खोज करते हुए विद्वान अक्सर वैदिक साहित्य तक रुक जाते हैं, यह खोज अधूरी है और इसमें स्पष्ट कालदोष है। इसके पहले तीसरी शताब्दी में हड़प्पा संस्कृति की जो खोज हुई है वह इस मान्यता का खंडन करती है। दरअसल इतिहासकारों ने साहित्यिक स्रोत को ही अधिक विश्वसनीय माना, उन्होंने पुरातात्विक साक्ष्य को गौण बना दिया। पुरातत्व का संबंध अतीत के भौतिक अवशेषों की खोज और उनकी व्याख्या से होता है। इसलिए यह अन्वेषण दो महत्वपूर्ण क्षेत्रों के सम्बन्ध में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। पहला शिल्प विज्ञान का अध्ययन। यह अध्ययन इस बात की जानकारी देता है कि संस्कृतियों में परिवर्तन कैसे और क्यों हुए?

इतिहास के अध्ययन में दूसरा उपादान परिवेश संबंधी साक्ष्य का होता है। यानि अमुक इतिहास काल में परिवेश का घटनाओं और घटनाओं का परिवेश पर कैसे प्रभाव पड़ा। ध्यान देने की बात है जब तक मनुष्य का अस्तित्व क्रम कायम है तब तक कोई संस्कृति मिटती नहीं। उन्नत संस्कृति नगर का अतिक्रमण कर अपने इर्द-गिर्द की ग्रामीण संस्कृतियों पर भी अपना प्रभाव छोड़ जाती है। ऐसे नागरिक सांस्कृतिक केन्द्रों का भौतिक दृष्टि से भले ही पतन हो जाय, लेकिन उनकी सांस्कृतिक परम्परा बहुधा नवागंतुकों द्वारा दाखिल किये गये रीतिरिवाजों को आत्मसात् कर लेते हैं। आज धीरे-धीरे यह जानकारी हो रही है कि हड़प्पा निवासी चाहे जो रहे हों, भारतीय सभ्यता के आदि प्रवर्तक वही थे। हड़प्पा के लोग नगर निवासी थे और ताम्रशिल्प विज्ञान का प्रयोग करते थे किन्तु ऋग्वैदिक लोग यायावर पशुपालक थे। इनकी अर्थ व्यवस्था पशुपालनोन्मुख थी और क्रमशः कृषि की ओर उन्मुख होती जा रही थी। सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तीनों वैदिक ग्रन्थों से यह प्रमाणित होता है कि इनका भौगोलिक केन्द्र बिन्दु पंजाब-हरियाणा से खिसक कर द्वाबा और मध्य गंगाघाटी में पहुंच गया। इसमें ऐसे समाज की तस्वीर मिलती है जो पशुपालक से कृषक बन चुका है और नागरिक जीवन की श्रीगणेश हो चुका है।

भाषा का प्रश्न भी इतिहास, विज्ञान से सम्बद्ध होता है। यह बात गलत है कि भाषा का प्रचार विजय पर ही निर्भर करता है। जो भाषा जितनी अधिक उन्नति से जुड़ी होती है वह उतनी ही अधिक प्रचारित-प्रसारित होती है। इसलिए भाषा की दृष्टि से भी विभिन्न इतिहासकाल के विभिन्न सामाजिक रूपों के विकास को तभी समझा जा सकता है जब इस पर गौर किया जाय कि समाज किस प्रकार संगठित था, उसके रूप किस हद तक परिवर्तित हुए।

जाति समस्या के बारे में भी भारतीय इतिहासकारों ने भ्रमों को बढ़ावा दिया है। साथ ही साथ साम्राज्यवाद और आज के शोषक-शासक वर्ग इसे उन्माद का रूप दे रहे हैं। दरअसल प्राचीनकाल में जाति प्रधान समाज की विशेषता थी जातियों का अस्तित्व। जातियां विवाह संबंधों को निर्धारित करने वाले वंशानुगत समूह थे, उनका गठन श्रेणीबद्ध रूप में पेशे के अनुसार होता था। इसी आधार पर वे परस्पर एक दूसरे की सेवा करते थे। अतः जातियों का आधार समझने के लिए तत्कालीन

उत्पादन संबंधों को समझना पड़ेगा। धर्म शास्त्र सामाजिक वैधानिक ग्रन्थ हैं, लेकिन उसको सम्पूर्ण वास्तविक नहीं माना जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि भारतीय सभ्यता का मूल या स्रोत केवल आर्य जाति में ही नहीं बल्कि कई संस्कृतियों के पारस्परिक सम्पर्क और इस सम्पर्क के फलस्वरूप एक दूसरे पर डाले गए प्रभाव में ढूंढा जा सकता है।

भारतीय दर्शन और विचार के ऐतिहासिक विकास पर गौर किया जाय तो भौतिक स्थितियों, श्रम के स्वरूपों और पारस्परिक सम्पर्कों की अनुभूति और प्रकृति से मानवीय सम्पर्क तथा उसके संघर्ष के गर्भ से ही दर्शन और विचार का उद्भव और विकास हुआ है। साम्राज्यवाद और भौतिकवाद दोनों के विकास का उद्गम और प्रवाह भी उन्हीं भौतिक संबंधों से प्रतिफलित होता है। अतः केवल यह मानना कि प्राचीन भारतीय संस्कृति केवल पारलौकिकता के मूल्यों से ग्रसित थी, वह लौकिकता की ओर उन्मुख नहीं थी, यह बेबुनियाद है। हां, यह बात जरूर है कि मूल्य के रूप में निवृत्ति का अन्य अधिकांश संस्कृतियों की तुलना में भारतीय संस्कृति में अधिक महत्व है। इस कारण को समझने के लिए भी इतिहास के वैज्ञानिक दृष्टिकोणों को अपनाना पड़ेगा।

सवाल उठाया जाता है कि आज जब भारत आधुनिक राष्ट्र का रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया में है तो जाति प्रथा का उन्मूलन क्यों नहीं हो पाया। यद्यपि भारत द्वारा आधुनिक राष्ट्र का रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष, राष्ट्रीय एकता की विकसित होती हुई भावना, जाति प्रथा विरोधी आंदोलन तथा विद्रोह का गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। इस आधुनिक राष्ट्र की उदीयमान राजनीतिक व्यवस्था में इसके सभी तबके समानता और बंधुत्व के स्तर की मांग कर रहे थे। यह एक क्रमिक और धीमी प्रक्रिया थी, संघर्षों की यह सभी भिन्न धारायें करीब-करीब साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की विराटधारा में मिल गईं। वस्तुतः यह प्रक्रिया वंश परम्परा पर आधारित जाति प्रथा वाली पुरानी हिन्दू प्रणाली के विघटन की ही प्रक्रिया थी, परन्तु औपनिवेशिक शासकों के हित के खिलाफ यह बदलाव उन पर असर डाल रहा था। पुराने समाज, उसके स्तर विभाजन, उसकी अर्थ व्यवस्था के बदलाव की प्रक्रिया धीमी, जटिल और यातनादायी थी। अतएव अंग्रेजों ने जाति प्रथा को बरकरार रखने वाले पुराने सामन्ती भूमि संबंधों पर न्यूनतम आधुनिक पूंजीवादी संबंध थोप दिये। वे अपने उपनिवेश को दृढ़ बनाये रखने के लिए स्थानीय शक्तिशाली पूंजीपति वर्ग को विकसित नहीं होने देना चाहते थे, इस प्रकार दो विरोधी प्रक्रियायें जारी थीं। एक ओर नये उत्पादन के साधन, कारखाने, और नये यातायात के साधन को विकसित करना। दूसरी ओर सामाजिक आर्थिक मदद पाने के लिए सामन्तों पर निर्भर रहना यानी जाति प्रथा को समर्थन देना। राष्ट्रीय आंदोलन के अधिकांश नेता हिन्दुओं की ऊंची जाति से आये थे, अभी उन्हें देशी औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं था। यह नेतृत्व आम जनता से अलग-थलग पड़ा था, वह अपने तत्कालीन अनुयायियों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाने से डरता था। वर्तमान में पददलित, पराभव से पीड़ित राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व वर्ग जनता में उसकी प्राचीन संस्कृति का गौरव जगाकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में पूरे भारत

को उतारना चाहता था। इसके कारण भी वे पुनरुत्थानवादी सोच और विचारधारा की ओर मुड़ गये। यह एक विडम्बना ही है कि उस समय का उदारवादी नेतृत्व तो विचारों में प्रगतिशील था लेकिन उग्रवादी नेता संकीर्णता को छोड़ नहीं पा रहे थे।

उदाहरण के लिए बाल गंगाधर तिलक ने हर तरह के समाज सुधार का, यहां तक कि बाल विवाह की प्रथा के खिलाफ वाले आंदोलन का भी विरोध किया। वह जाति की व्यवस्था में विश्वास रखते थे और उसकी वकालत भी करते थे। गांधीजी जिन्होंने लुआदूत के विरुद्ध आंदोलन चलाया और राष्ट्रीय साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में लाखों लोगों को राष्ट्रीय आंदोलन में खींच लिया। उन्होंने भी 1921 में घोषणा की थी (1) मैं वेद, उपनिषद, पुराण, धर्मग्रन्थों, अवतारों तथा पुनर्जन्म में विश्वास रखता हूं। (2) मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास रखता हूं। (3) मैं गोरक्षा में विश्वास करता हूं।

इस तरह राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारंभिक दौर में दोहरे चरित्रवाला बुद्धिजीवी वर्ग हमारे यहां था। वे एक ओर किसानों पर लगे सरकारी करों, भूमिकर तथा अन्य सरकारी कदमों का विरोध करने के लिये तैयार थे, दूसरी ओर वे अपने कार्यक्रम में कृषि संबंधों का उल्लेख करने से कतराते थे। 1920 में कांग्रेस ने खुल्लम-खुल्ला बड़े-बड़े जमींदारों का पक्ष लिया। उदाहरण के लिए 18 फरवरी, 1922 के वारदोलोई फैसले में कहा गया, “वर्किंग कमेटी, कांग्रेस कार्यकर्ताओं और संगठनों को सलाह देती है कि वे रैयतों को समझा दें कि जमींदारों का लगान रोकना कांग्रेस के प्रस्तावों के खिलाफ है। जमींदारों को आवश्यक करती है कि कांग्रेस का आंदोलन उनके वैध हितों पर हमला बोलने के कतई पक्ष में नहीं है।” विकसित देशों तथा नये पूंजीवादी स्वाधीन देशों में जहां पूंजीपतिवर्ग अपना वर्चस्व बनाये रखा है वहां उसने कृषि क्रान्ति को पूरा नहीं होने दिया। इसी वजह से उन देशों में पूर्व पूंजीवादी विचार धारायें और उनसे जुड़े संबंध बरकरार हैं आज भी पान इस्मालिज्म, इस्लामिक-गण राज्य, सीमित गणतन्त्र इत्यादि। इसी तरह की अनेक प्रतिक्रियावादी कबीलायी सामंती विचार लोगों के दिमागों में, उनके संस्कारों में कुण्डली मारकर बैठा है क्योंकि पूंजीवाद से पहले के जिन संबंधों से इन विचार धाराओं ने जन्म लिया था उनकी जमीन अभी तक उपजाऊ है।

सब कुछ के बावजूद जातियों का तेजी के साथ बिखराव हो रहा है। हर जाति के भीतर सम्पत्तिवान और सम्पत्तिहीनों के बीच विभाजन हो रहा है। कृषि में लगी लगभग हर जाति गरीबी बढ़ने की इस प्रक्रिया की शिकार हो रही है। इस तरह जातिगत भेदभावों के अस्तित्व के साथ-साथ शोषितवर्ग के रूपग्रहण करने की प्रक्रिया भी घटित हो रही है।

ब्रिटिश शासकों ने मुसलमानों, पिछड़े समुदायों और अछूतों को पृथक निर्वाचन क्षेत्र सरकारी नौकरियों में आरक्षण तथा शिक्षा संबंधी सुविधाएं देकर राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग संघर्ष और एकता की योजना को असफल बनाने की कोशिश की। उनका उद्देश्य था पिछड़ी जातियों में उन्नति की उम्मीद जगाना, उन्हें आम संघर्ष से अलग रखना, पृथक जातियों तथा साम्प्रदायिकता की भावना को बनाये रखना।

आजादी के बाद संविधान में समानता की बात की गयी लेकिन भूमि संबंधों का बुनियादी ढांचा जैसे का तैसा है। जमींदारी खत्म कर दी गयी लेकिन पुरानी बुनियादी असमानता का ढांचा आज भी बरकरार है। भूमि संबंधी कानून एक मजाक बनकर रह गया अर्थात् वर्तमान शासक वर्ग उसी पुराने आर्थिक ढांचे को कायम रखने में लगा है।

जातिवाद की भयावहता इसके उत्पीड़न तथा इससे उत्पीड़ित लोगों के दिमाग में अपने प्रति होने वाले अन्याय का अहसास तो है लेकिन जो लोग बेहतर स्थिति में हैं वे अपने से बदतर वाले लोगों के प्रति होने वाले रोजमर्रा के अन्याय को दूर करने के लिए तत्पर नहीं हैं। जाहिर है कि अगर किसी प्रतिक्रियावादी विचारधारा के खिलाफ संघर्ष लगातार न चलाया जाय तो वह बदलाव तथा प्रगति की राह में बाधक बनती है। अतः इस विचार धारात्मक संघर्ष को, भूमि संबंधों सहित वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने के साथ जोड़ना होगा। आरक्षण समर्थन तथा आरक्षण विरोधी आन्दोलन, एक जाति का दूसरी जाति से सशस्त्र संघर्ष पूंजीपति भूस्वामी वर्ग की वर्गीय स्थिति को और मजबूत कर रहा है। अतएव जाति व्यवस्था के खात्मे का सवाल पूंजीपति भूस्वामी वर्ग के खात्मे और समाजवाद की दिशा में संघर्ष करने के सवाल से जुड़ा है।

कुछ बुद्धिजीवी इतिहास की व्याख्या के सिलसिले में यह धारणा रखते हैं कि इतिहास संबंधी साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का आविर्भाव मध्ययुगीन अर्थात् मुस्लिम युग से हुआ। वास्तविकता तो यह है कि सम्पूर्ण भारत का इतिहास साम्प्रदायिकता से ओतप्रोत है। यह स्थापना कि प्राचीन भारत, मुसलमानों के आने के बाद साम्प्रदायिक उत्तेजना में फंसा, विदेशी आक्रमणों का शिकार हुआ और हिन्दू साम्प्रदायिक बुद्धिजीवियों के साथ-साथ मुसलमान साम्प्रदायिक बुद्धिजीवी भी इसी तरह का तर्क प्रस्तुत करते हैं। 18वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी तक तीन तरह की विचारधाराओं का संघर्ष इतिहास की व्याख्या में मिलता है (1) प्राच्य विद्याविद् (2) उपयोगितावादी (3) राष्ट्रीयतावादी। संस्कृति के अध्ययन के साथ-साथ इण्डोयूरोपियन संस्कृत (भाषा) और यूनानी संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन शुरू हुआ। आर्यों की विशेषता जाति के रूप में स्थापित की गयी जिसके बारे में मैं विस्तार से लिख चुका हूं। एक सबसे घातक साम्प्रदायिक इतिहास की दृष्टि से जो किया गया वह इतिहास का काल विभाजन हिन्दू काल, मुस्लिम काल तथा आधुनिक काल में किया गया। क्या जेम्समिल द्वारा लिखे गये इतिहास में वंशगत इतिहास के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक दशा की व्याख्या को छोड़ नहीं दिया गया? प्राचीन काल में विशेष कर जिसे हिन्दू काल कहा जाता है उसमें मौर्यवंश, इण्डोयूनानी, शाक्य, कुषाण इत्यादि बहुत से राजवंश हुए। उनमें से बहुत से तो जैन एवं बौद्ध धर्म के अनुयायी थे जो अपने को हिन्दू नहीं कहते थे। इसलिए इतिहास के विभाजन में हिन्दू शब्द जोड़ना न्याय संगत नहीं। हिन्दू शब्द का तो सबसे पहले अरबों ने प्रयोग किया।

यह भी एक आश्चर्यजनक बात है कि हम अरब, तुर्क, पारसियों को मुस्लिम कहते हैं। तेरहवीं शताब्दी तक मुस्लिम शब्द कहीं-कहीं

ही इस्तेमाल किया जाता था। तुर्क को तुर्ककाश और अरबों को यवन कहा जाता था। लोग पश्चिमी एशिया से यहां आते थे वे चाहे यूनानी हों या रोम के या अरब के, यह उन्हीं के लिए इस्तेमाल होता था। दूसरा शब्द तुर्कों एवं अरबों के लिए इस्तेमाल किया जाता था, वह शब्द म्लेच्छ था। ऋग्वेद में इस शब्द का इस्तेमाल होता है और यह शब्द अनार्यों के लिए इस्तेमाल होता था। बाद में यह विदेशियों के लिए भी प्रयोग में लाया जाने लगा इसलिए म्लेच्छ शब्द संस्कृति के लिये इस्तेमाल किया गया।

अरबों ने ईसा की आठवीं सदी में सिन्धु पर अपना राज्य कायम किया और तुर्कों ने 11वीं शताब्दी में पंजाब में। 14वीं शताब्दी में मुस्लिम-वंश ने दकन में अपना राज्य स्थापित किया। अतएव मुस्लिम राज्य की स्थापना का कोई एक समय नहीं है। एण्टो ने लिखा है- इस्लाम पूर्व के लोगों विशेष कर अरबों के अनुकूल धर्म है अर्थात् एक ओर यह उनके अनुकूल है जो शहरों में व्यापार में लगे हुए हैं तथा दूसरी ओर घुमक्कड़ बेदुई लोगों के अनुरूप है। हजरत मुहम्मद और तत्कालीन खलीफा ने व्यापार में लगे समूहों और पिछड़े हुए कबीली समुदायों को एक जुट करने में सहायता की और यही प्रयत्न अरब देशों में सामन्तवाद का सेद्धान्तिक आधार बन गया। अरब देशों में सामन्तवाद का विकास इसलिए हुआ, क्योंकि वहां कबीली साम्यवाद के दृढ़ अवशेष भी मौजूद थे। खलीफा और विजेता योद्धाओं के रूप में गंगमंच पर आये और इसी प्रक्रिया ने एशिया, अफ्रीका की जनता के बड़े हिस्सों को इस्लाम की ओर आकृष्ट किया। आम ऐतिहासिक घटनाक्रम ने एक धार्मिक छाप ग्रहण की। यह याद करने की बात है कि इस्लाम के जन्म के पहले भी अरब तथा भारत की जनता का व्यापारिक संबंध था। अपने व्यापारिक हित के लिए मालावार के शासक जमोरीन ने अपने क्षेत्र में उन्हें मस्जिदें बनाने और धर्म के प्रचार की छूट दी थी।

आठवीं शताब्दी में इस्लामी प्रभाव का दूसरा दौर शुरू हुआ। उस समय हिन्दू समाज में जाति प्रथा का प्रभाव, छुआछूत, कर्म का सिद्धांत अपनी जड़ जमा चुका था। इन्हीं परिस्थितियों ने मुस्लिम विजेताओं के अधीन सामन्ती राज्यों की स्थापना के लिए जमीन तैयार की। गोरी और गजनी का आक्रमण हुआ, दिल्ली सल्तनत बनी। उसने भारत में पहली बार एक शक्तिशाली मध्ययुगीन राज्य का निर्माण किया। मुसलमान आक्रमणकारी अपने साथ एक नया धार्मिक दृष्टिकोण लाये थे, लेकिन उनके पास उत्पादन की कोई नयी प्रणाली नहीं थी इसलिए वे भारत के तत्कालीन सामन्तवादी आधार को बदल नहीं पाये। यहां तक लिखा गया है कि भारत के मुसलमान शासक अब तक प्राचीन इस्लाम के कितने ही लक्षणों को त्याग चुके थे। खलीफाओं ने कुरान की शिक्षाओं की नयी व्याख्या की। साथ ही साथ दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पहले ही मुस्लिम विजेता फारस के उच्च वर्ग के गैर इस्लामिक विचारों को आत्मसात् कर चुके थे। भारत में इस्लाम का जो रूप था उसकी अन्तर्वस्तु अरब से भिन्न थी तो भी यह सच है कि पुरानी सादगी, कबीलायी जनतंत्र और सामाजिक न्याय के कुछ तत्व इनमें अब भी

मौजूद थे। इसमें अस्पृश्यतावाला तत्व अछूतों के लिए काफी आकर्षक बना। बहुत से हिन्दुओं ने स्वेच्छा से इस्लाम धर्म को स्वीकार किया। इस्लाम धर्म ने हिन्दू जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। डाक्टर ताराचन्द ने मराठा, राजपूत, सिक्ख, रजवाड़ों के रीति रिवाजों, उनके दैनिक जीवन की छोटी-छोटी बातों, संगीत, पोषाक, पहनावा, पाक कला, विवाह संस्कारों, तिथि त्यौहारों, मेलों दरबारी तहजीब पर विस्तार से लिखा है।

बाबर तक आते-आते इस्लाम ने अपने आपको भारतीय सामन्ती परिवेश के अनुकूल बनाया। भारतीय मुसलमान 'शरीफ जातों', 'अजलाफ' यानि ऊंच-नीच में बंट गये। इतिहासकार ताराचन्द ने लिखा है कि 'दोनों में जहां समूह चेतना का विकास हुआ था और दोनों में क्षेत्रीय तत्व प्रधान था, वहां दोनों की अन्तर्वस्तु एक दूसरे से मेल नहीं खाती थी और पुल-मिल नहीं पाती थी।' लेकिन दो अलग-अलग राष्ट्र नहीं थे उनमें वंशीय या जातीय भेदभाव नहीं था। दोनों धार्मिक समूहों के खेतिहर या कारीगर वास्तव में एक ही वर्ग के थे। ठीक वैसे जैसे राजपूत, मुसलमानों में शेख। लेकिन जनता में अपना प्रभाव बढ़ाने के उद्देश्य से मुसलमान शासकों ने नये मुसलमान शासकों को सत्ता के हित के लिए ही विशेष सुविधाएं प्रदान की।

इतिहासकारों ने एक और भ्रांति को जन्म दिया है जो साम्प्रदायिकता के प्रचार-प्रसार में उक्सावे का काम करता है, परन्तु इतिहास का सही विश्लेषण कुछ और ही बताता है। तुर्क, अफगान, मुगलों के बहुत पूर्व से ही शासक शोषक वर्ग ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाने के लिए धर्म का बार-बार व्यवहार किया है। इसके व्यवहार में उन्होंने अपने विरोधियों का दमन किया है और धर्म के नाम पर जनता में भेदभाव की खाई चौड़ी की है। इसलिए धर्म और राजनीति के संबंधों को ऐतिहासिक दृष्टि से समझने की जरूरत है।

यद्यपि सिन्धु सभ्यता के बारे में अभी पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है, लेकिन इस सभ्यता के अंतिम दिनों से ही राजनीतिक प्रभुसत्ता को सुदृढ़ करने के लिए आक्रमणों के ऐतिहासिक साक्ष्य मिलते हैं। उदाहरणार्थ दास प्रभुओं ने इण्डो इरानी दास प्रभुओं के साथ युद्ध किया था। कालान्तर में 600 ई० पू० सिन्धु सभ्यता के दास प्रभुओं के प्रतिपक्ष वैदिक धर्म के विरुद्ध शेष धर्म का आश्रय लिया था। 600 ई० पू० सामन्ती मालिकों ने पंचदर्शन का व्यवहार इसलिए किया था कि उनके विरोधियों का ब्राह्मणवाद, बौद्ध तथा जैन धर्म में विश्वास था। गुप्त वंश के सम्राटों ने ब्राह्मणवाद के नाम पर राजसत्ता का रोष बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों पर उतारा था। यही नहीं 500 से 1200 ई० तक सारे देश के सामन्तों ने ब्राह्मणवाद और बौद्धधर्म के प्रसार के लिए एक-दूसरे के साथ निरन्तर युद्ध जारी रखा। उस समय का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि आक्रमणकारियों ने धार्मिक स्थानों की लूट की। विरोधी धर्मावलम्बियों का व्यापक नरसंहार किया गया।

कल्हण ने राजतरंगिणी में जो विवरण दिया है उसके अनुसार काश्मीर के सम्राट हर्ष ने अपने राज्य के सभी मन्दिरों को आर्थिक लाभ के लिए लूटा था। मंदिरों की लूटमार के संचालन के लिए 'देवोत्पन्न नायक'

नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की थी। हमारे देश के इतिहासविदों ने इसे स्वीकार किया है कि हिन्दू साम्राज्यवादियों ने (900-1200 ई० तक) असंख्य बौद्ध तथा जैन धर्मावलम्बियों की हत्या की थी और बहुत से बौद्ध विहारों को ध्वस्त किया था।

मुसलमान सामन्तों ने भी अपने सत्ता के हित में प्रजा को हिन्दू राजाओं के खिलाफ एकबद्ध किया था। तैमूर के वंशज और काबुल के शासक बाबर ने अपनी सेना सहित उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। नादिरशाह ने 24 घंटे के अंदर डेढ़ लाख लोगों का कत्ल किया था। वे सब हिन्दू ही नहीं थे। उनमें एक लाख मुसलमान थे। नादिरशाह इरानी मुसलमान था। उसने मुगलों का कत्ल किया था। तैमूर लंग ने 4 दिन के अंदर ही 4-5 लाख आदिमियों का कत्ले आम किया था। उसमें से 3 लाख पठान मुसलमान थे। जब मुगलों का जमाना आया तो पठान बेचारे हिन्दुओं की ही तरह दबाये जाते थे और कत्ल किये जाते थे। मुगल शासन काल मोटे तौर पर मध्ययुग के अन्त और भारतीय इतिहास के आधुनिक युग के आरम्भ का द्योतक है।

14वीं और 17वीं शताब्दी के बीच भारत में एक नयी भावना फैली थी। प्रत्येक क्षेत्र में आर्थिक, प्रशासनिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इत्यादि नयी हवाओं के झोंके के आ रहे थे। पहली बार सामन्ती संबंधों का स्थान धीरे-धीरे विकासमान पूंजीवादी संबंध ले रहे थे। इसी समय भारत में जातियों (Nationality) के अंकुरों के फूटने और विभिन्न भाषाओं के विकास का प्रारम्भ हुआ। यदि सूफी धर्म का अध्ययन किया जाय तो पता लग जाएगा कि हिन्दू धर्म से मुसलमानों ने बहुत कुछ ग्रहण किया। अतः समस्या व्यवस्था विशेष के उद्भव और विकास के परिस्थितियों को समझने की है। इसी तरह औरंगजेब ने हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया था लेकिन मुसलमानों पर उसके द्वारा जकात कर भी लगाया गया था। इब्नबतूता ने तो यहां तक लिखा है कि दक्षिण भारत में जमोरिन नामक हिन्दू शासक यहूदियों से जजिया कर वसूलता था। हिन्दुस्तान के बाहर मुसलमान शासकों ने मुसलमान प्रजा पर ही जजिया कर लगाया था। इसलिए जजिया कर को धर्म से जोड़ना गलत है। ऐसे साक्ष्य मिलते हैं कि शत्रुओं के क्षेत्र वाले मंदिरों को ही तोड़ा गया है क्योंकि वे षड्यंत्र के अड्डे बन रहे थे। इस तरह परमार वंश के राजाओं ने भी गुजरात के जैन मन्दिरों को तोड़ा था और औरंगजेब ने कुछ मन्दिर बनवाये भी थे। मुश्किल तो यह है कि मुगल काल के दरबारियों ने जो संस्मरण लिखे हैं वे अधिकतर दरबार से जुड़े हैं परन्तु उसे पूरे भारत के लिए सार्वजनिक बना दिया गया। मुसलमानों के राज्य में बड़े-बड़े अधिकारी व सिपाही हिन्दू थे और हिन्दू राज्यों में मुसलमान थे इसलिए जो संघर्ष हुए या जो दमन हुए उसके पीछे राजनीतिक कारण थे, धार्मिक नहीं।

इस तरह इतिहास के उपनिवेशिक दृष्टि से मुक्ति पाने के लिए साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से मुक्त होकर वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने की जरूरत है।

राष्ट्रीयता की ऐतिहासिक समझ के अभाव में ही आज उग्र जातीयता तथा सभ्यतावाद का उदय हो रहा है। ध्यान देने की बात है कि बहुमत

की साम्प्रदायिकता हमें फासीवाद की ओर ले जाएगी जिसका नारा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ लगाता रहा है और अल्पमत की साम्प्रदायिकता अलगाववाद की ओर ले जाएगी। जमायते इस्लामी, खालिस्तान, गोरखालैंड, झारखंड इत्यादि का आंदोलन इसी खतरे की घंटी बजा रहे हैं। शोषक शासक वर्ग यथास्थिति कायम रखने के लिए इसे और उकसावा दे रहे हैं और इतिहास का साम्प्रदायिक दृष्टिकोण हमारे संस्कार में पृष्ठभूमि का काम कर रहा है। यही नहीं अरब और इसराइल के झगड़े में अमरीकी साम्राज्यवाद की भूमिका से सभी अवगत हैं। मिशनरियों के द्वारा भारत में क्षेत्रियतावाद को बढ़ावा देना, पेट्रोलॉलर द्वारा भारतीय मुसलमानों में हिन्दू विद्वेष फैलाना, विश्वहिन्दू परिषद द्वारा रामजन्मभूमि और बाबरी मस्जिद की समस्या को उलझाना तथा मेरठ इत्यादि में शासक वर्ग द्वारा दंगे करवाना, यह हर नागरिक के लिए चिन्ता का विषय है। आज आर्थिक संकट राजनीतिक संकट में बदल रहा है। जनता का असंतोष गलत दिशा में मोड़ने के लिए इतिहास का यह साम्प्रदायिक दृष्टिकोण हिन्दूतत्त्ववाद और मुस्लिमतत्त्ववाद को बढ़ावा दे रहा है।

जब कभी और जहां भी क्षेत्रीय संस्कृति जड़ जमाती है तो पूंजीवाद उसे क्षेत्रीय हितों में बांटने की कोशिश करता है। जाहिर है कि हर क्षेत्र का अपना विशेष इतिहास और विशेष संस्कृति होती है। हमें आंदोलन करके इन दोनों को संरक्षित करना चाहिए। हमारे देश में अलग-अलग भाषाएं, संस्कृतियां और उनकी क्षेत्रीय परंपराएँ हैं, इनको अवश्य संरक्षण मिलना चाहिए, लेकिन इनके परस्पर हितों से जोड़कर एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है। हमारे देश में शोषक शासक वर्ग ने सारे देश का असमान विकास किया है, इसी विषमता के कारण असंतोष पैदा हो रहा है और हमारा पिछड़ापन उसे अन्धराष्ट्रवाद और अलगाववाद की ओर ढकेल रहा है। अतएव वास्तविकता के इस अन्तर्वस्तु को समझे बिना इन समस्याओं को सुलझाया नहीं जा सकता। फिलहाल पिछड़े राज्यों को उन्नत राज्यों के समकक्ष लाना तथा केन्द्र और प्रांतों के संबंधों में राज्यों को अधिक अधिकार के लिए संघर्ष में सबको एकजुट करके जनवादी क्रांति दिशा में अग्रसर होकर ही हम इतिहास को सही दिशा में मोड़ सकते हैं। समाजवादी देशों में जहां क्रांति का एक स्तर सम्पन्न हो चुका है वहां समस्याएं नहीं हैं। बिना जनवादी क्रांति के राष्ट्रीय अखंडता सुरक्षित नहीं रखी जा सकती। आज हम एक निर्णायक बिन्दु पर पहुंच चुके हैं जहां हमें अपने इतिहास, अतीत, अपनी अस्मिता और अपनी संस्कृति का पुनर्परीक्षण करना आवश्यक हो गया है। एक बात और नहीं भूलनी चाहिए कि केवल कला, साहित्य, संगीत, सिनेमा की रचना से ही कोई संस्कृति समृद्ध नहीं हो सकती। किसी संस्कृति का समृद्ध होना उसकी प्रगतिशील विषयवस्तु पर निर्भर करता है और इसके लिए वैज्ञानिक विकास की दृष्टि से हमें अपने इतिहास को समझना होगा।

H-13, एल.आई.जी स्टेट

8/1, रूस्तम जी पारसी रोड, कलकत्ता-2

- ❑ मूल गुजराती कहानी : सारंग बारोट
- ❑ नाट्य रूपान्तर : मदन सूदन

निर्दोष

(एक मध्यवर्ती घर में पति पत्नी की बातचीत चल रही है।) (धीरे धीरे)

शोभना : अजी सुनते हो तीन दिनों से रोहित का जापानी बन्दर नहीं मिल रहा है।

दिनकर : बन्दर, वही जो जापान से जनक ने भेजा था ?

शोभना : हां...

दिनकर : पूरे डेढ़ सौ का खिलौना इस तरह गायब हो जाये और हम धीमे स्वर में बातें करने के सिवा कुछ न कर सकें, अब और नहीं सहा जाता। कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा। इस महीने कोई हफ्ता ऐसा नहीं गया जब घर में से कुछ न कुछ गायब न हुआ हो।

शोभना : और इस हफ्ते तो दूसरी बार ऐसा हुआ है। अभी चार दिन पहले चांदी के दो चम्मच गुम हुए और अब यह बन्दर...

दिनकर : मुझे लगता है कि अब रूखी के साथ साफ-साफ बात कर लेनी चाहिए।

शोभना : इन चार वर्षों में हमने रूखी को कोई तकलीफ नहीं दी। तीज त्योहार पर और हर वक्त उसे अच्छे कपड़े और दूसरी चीजें देते रहे। बल्कि उसे कभी नौकर ही नहीं समझा। हमेशा उसे घर की एक सदस्य माना है। रोहित भी उससे कितना हिलमिल गया है और वह उससे।

दिनकर : पता नहीं क्यों अब उसकी मति मारी गयी है। इसीसे कहता हूं कि उससे साफ-साफ बात कर लेनी चाहिए।

शोभना : इस तरह बातें करने से समस्या नहीं सुलझेगी, वह तो कह देगी आई मैं तो कुछ जानती नहीं हूं।

दिनकर : तो फिर क्या किया जाये ?

शोभना : मुझे तो कोई उपाय नहीं दीखता है। रूखी पर विश्वास कर तीन-तीन नौकर बदल डाले पर चोरी फिर भी बन्द नहीं हुई। अब तो यह बात साफ है कि चोरी के पीछे उसी का हाथ है।

दिनकर : किसी न किसी तरह उसे चोरी करते हुए पकड़ना चाहिए। मगर अब भी उसके चोर होने में विश्वास नहीं होता।

शोभना : मैंने तो उसके कमरे की तलाशी भी ली थी।

दिनकर : कब ?

शोभना : रूखी रोहित को बाहर घुमाने ले गयी थी। नौकर को बाजार भेज कर मैंने तलाशी ली पर कुछ हाथ नहीं लगा।

दिनकर : तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था और फिर चोरी की वस्तुएं कोई अपने पास नहीं रखता बल्कि ऐसी जगह रखता है जहां कोई पहुंच न सके।

शोभना : मुझे तो लगता है कि अब तक हमारा विश्वास बनाये रखने के लिए रूखी अच्छा व्यवहार करती रही और अब अपने असली रंग में आ गई है।

दिनकर : मुझे तो लगता है हम एक आध छोटा-मोटा जेवर कम करने का सोचकर रूखी को रंगे हाथों पकड़ें, तब उसकी खबर लें।

शोभना : हां वही ठीक रहेगा।

दृश्य : 2

(बाहर से रूखी की आवाज)

रूखी : आई! आई!!

शोभना : क्या है रूखी ?

रूखी : (पास आकर) लीजिए बेन आपकी यह घड़ी रसोई घर में पड़ी थी...

शोभना : अच्छा-अच्छा ठीक है, रख दे यहां और जा... (रूखी चली जाती है)

दिनकर : (प्रवेशकर के) शोभना !

शोभना : अभी-अभी रूखी मेरी सोने के चेन वाली घड़ी दे गयी है। मैंने जानबूझ कर रसोई में रख दी थी, लेकिन यह तो...

दिनकर : वह तो ठीक है, लेकिन मेरा सिगरेट लाइटर नहीं मिल रहा, जरा बुलाओ तो रूखी को।

शोभना : रूखी... ओ रूखी...

(रूखी का प्रवेश)

रूखी : जी बेन...

दिनकर : मेरा सिगरेट लाइट देखो है रूखी ?

रूखी : नहीं तो !

दिनकर : अभी थोड़ी देर पहले यहीं पड़ा था।

रूखी : मैंने नहीं देखा साहब।

दिनकर : रूखी, घर में आये दिन चीजें गुम होती रहती हैं यह तो तुम जानती हो न ?

रूखी : हां साहब।

दिनकर : मेरी समझ में नहीं आता कि चीजें कौन चुरा लेता है भला ?

रूखी : मेरी समझ में भी यह बात नहीं आती साहब, पहले नौकरों पर शक था पर तीन-तीन नौकर बदलने पर भी चोरी चालू है और बालू तो हाथ का साफ है।

दिनकर : तो फिर चीजें जाती कहाँ हैं ? जमीन तो नहीं निगल जाती। बालू चोर नहीं तो क्या हम चोर हैं ?

रूखी : मैं समझती हूँ साहब।

दिनकर : क्या समझती हो ?

रूखी : अगर इसी तरह चीजें चोरी होती रही तो मुझ पर ही शक होगा, मगर मैं इतने समय से आपके यहां काम करती हूँ कभी एक पैसे की चीज भी...

दिनकर : आदमी की मति फिरते देर नहीं लगती रूखी। चीजें कौन चुराता है यह हम से छिपा हुआ नहीं है।

रूखी : क्या आपको मुझ पर शक है ?

दिनकर : तो और किस पर शक करें ?

रूखी : बेन, साहब मैं भगवान की कसम खाकर कहती हूँ मैंने आज तक कभी चोरी नहीं की।

शोभना : चोरी करने वाले ही झूठी कसमें खाते हैं।

रूखी : मेरा न कोई आगे न पीछे, मैं किसके लिए चोरी करूंगी भला। पेट की खाई तो आपके द्वार पर ही भर जाती है मैं चोर नहीं हूँ। भगवान की कसम के सिवा और कोई उपाय नहीं है मेरे पास।

दिनकर : तुम्हें सफाई देने की जरूरत नहीं हमने रास्ता सोच रखा है।

रूखी : आप ने जो सोचा होगा ठीक ही होगा। जो सत्य होगा वह तो सामने आयेगा ही।

दिनकर : हमने तुम्हें नौकरी से हटाने का फैसला किया है।

रूखी : ठीक है साहब, आप मालिक हैं। पर इस तरह माथे पर काला टीका लगाकर न निकालें। मैं फिर कहती हूँ मैं चोर नहीं।

दिनकर : तुम्हारे जाने के बाद अगर चोरी बंद हो गयी तो हमें फिर किसी दूसरे विश्वास की जरूरत नहीं रहेगी।

रूखी : (रोती सी) हे राम ! इस उमर में ऐसा कलंक लगाकर मुझे किस जन्म के पापों की सजा दे रहे हो प्रभु... (सिसकती सी जाती है) मैं कल ही चली जाऊंगी... कल ही...

दृश्य : 3

(रोहित घबराया सा दौड़कर आता है)

रोहित : मां, मां, देखो न रूखी काकी को क्या हो गया, देखो न।

(दोनों वहां जाते हैं)

रूखी : (बड़बड़ाते हुए) मैं चोर नहीं... मैं चोर नहीं। हे भगवान, मेरे माथे ऐसा कलंक क्यों लगाते हो प्रभु... क्यों लगाते हो प्रभु...

शोभना : चार दिन हो गये पर बुखार जैसे बढ़ता ही जा रहा है। (अपने आप से) डाक्टर ने सन्निपात बताया है वह तो कहता था कि बचना मुश्किल है। ज्वर काबू में ही नहीं आ रहा है।

(बाहर से दिनकर की आवाज)

दिनकर : शोभना...

शोभना : आती हूँ... (आकर) क्या है... ?

दिनकर : वह मेरा सिगरेट केस नहीं मिल रहा...

शोभना : क्या ! इधर यह बेचारी चार दिन से खाट से लगी है।

दिनकर : क्या कहा डॉक्टर ने ?

शोभना : डॉक्टर को कोई उम्मीद नहीं है इसके बचने की। कहता था अस्पताल में भर्ती कर दो, तुम क्या कहते हो ?

दिनकर : यह तो बड़ा जुल्म हो गया शोभना...

शोभना : हां, कहीं ऐसी निर्दोष सेविका की हत्या का पाप हमारे सर न लगे।

दिनकर : कितनी बड़ी भूल हो गयी हमसे... मैं अभी उसे अस्पताल में भर्ती करने का बन्दोबस्त करता हूँ।

दृश्य : 4

(अस्पताल में रूखी के पास शोभना और दिनकर)

शोभना : रूखी कैसी हो... ?

रूखी : आप की दया है।

दिनकर : ...हम से बहुत बड़ी भूल हो गयी रूखी। हमें विश्वास हो गया है कि चोरी तुमने नहीं की, हमने तुम पर नाहक शक किया, सच हमें बहुत अफसोस है।

रूखी : (अपने आप से) मुझे जीवित रखने के लिए ही ऐसा कहते हैं। (दिनकर से) साहब एक बार इज्जत गयी सो गयी, अब मेरे लिए जीना बेकार है।

शोभना : हम झूठ नहीं कहते रूखी, विश्वास करो तुम अस्पताल में पड़ी हो पर घर में अब भी चोरी हो रही है।

रूखी : (अपने आप से) शायद सच ही कहते हो। (दोनों से) तो यह भी बतला दो साहब ताकि मेरी आत्मा की सद्गति हो।

दिनकर : अभी हम उसे पकड़ नहीं पाये हैं पर उसका पता चलते ही हम उसे तुम्हारे सामने जरूर लायेंगे। फिर तुम ही उसे जो सजा देनी हो देना।

रूखी : सजा तो मैं इस समय भोग ही रही हूँ।
 दिनकर : अब ज्यादा नहीं भोगनी होगी। जरूर ही कोई बाहरी आदमी चोरी छिपे आता है या शायद शरीफ लगता बालू ही इस तरह आकर चीजें उठा ले जाता होगा। सिगरेट केस के बाद नये जूते गायब हो गये। बालू की गैरहाजिरी में ही जूते गये थे लेकिन चोरी छिपे आकर वही नहीं ले गया इसका क्या भरोसा ? तुम चिन्ता न करो रूखी, अब चोर जरूर पकड़ा जायेगा चाहे बालू हो या कोई और...

रूखी : उसे जब पकड़ कर आप मेरे पास लायेंगे तभी मुझे विश्वास होगा बेन।

शोभना : ऐसा ही होगा रूखी, तुम जल्दी ठीक हो जाओ। रोहित तुम्हारे बिना नहीं रहता है। अगर तुम जल्दी ठीक होकर घर नहीं आई तो कहीं वही बीमार न पड़ जाये।

रूखी : ना, ना, ईश्वर उसे सौ वर्ष का रखे, भगवान जरूर मेरी लाज रखेंगे। असली चोर पकड़ा जाये तो मुझे भी आपके घर की छाया नसीब हो, वहां के सिवा इस दुनिया में और कहां ठिकाना है ?

दिनकर : वह तुम्हारा अपना घर है रूखी...

शोभना : सच रूखी, अब तुम जल्दी से ठीक हो जाओ...

दिनकर : अच्छा रूखी चलते हैं... फिर आयेंगे। (दोनों का प्रस्थान)

दृश्य : 5

(अस्पताल का दृश्य दिनकर और शोभना चोरी गई वस्तुओं को एक थैले में भरकर अस्पताल रूखी से मिलने आये हैं साथ में रोहित भी है।)

दिनकर : देखो रूखी कौन आया है ?

रोहित : काकी ! काकी !!

रूखी : मेरे बच्चे आ- आ, मेरे पास...

दिनकर : चोर पकड़ा गया रूखी।

रूखी : सच ?

शोभना : सच रूखी, यह देखो, खोई हुई चीजें भी सब मिल गयी हैं... यह देखो। (थैला पलटती है)

रूखी : (खुशी स्वर में) तो अंत में मेरे भगवान ने मेरी लाज रख ली, मेरी प्रार्थना उसने सुन ही ली।

दिनकर : ओरे, यह तो पूछो कि आखिर चोर कौन था ?

रूखी : मुझे यह जानकर क्या करना है ? जाने दो साहब अपना किया वह आप भोगेगा।

शोभना : पर उसका किया तो तुम्हें भोगना पड़ रहा है रूखी, पता है चोरी कौन करता था ?

रूखी : कौन करता था ?

दिनकर : यह बदमाश (रोहित को आगे करता है)। यह तुम्हारा रोहित !

रूखी : यह ! ...मेरा रोहित !

शोभना : हां रूखी, यह रोहित, जो भी चीज हाथ में आती उसी को उठाकर घर के पिछवाड़े जो पानी का होद है न उसी में छोड़ जाता था।

दिनकर : आज पूजा घर से भगवान की मूर्ति उठाकर होद में डालते हुए पकड़ा गया। बालू को होद में उतारा तो खोई हुई सारी चीजें मिल गईं।

रूखी : तो भगवान पानी में जाकर सारी चीजें ढूँढ़ लाये। (ठण्डी सांस भरती है।)

शोभना : बोलो रूखी, अब इस चोर को क्या सजा दें ? बोलो न...

रोहित : नहीं काकी, मैं चोरी नहीं करता था... मैं तो होद के पानी में भस्म करता था।
 (सभी हंसते हैं... संगीत उभरता है।)

महावीर का आरोग्य : मेरा रोग

दो ही वर्ष पूर्व वह स्वस्थ एवं सुदर्शन लड़का महावीर के नाम पर चल रहे गणों और गच्छों में से किसी एक में दीक्षित हुआ था और कल रात वह पूछ रहा था कि मेरी चिकित्सा पद्धति में लीवर बढ़ना रोकने तथा बढ़ी हुई लीवर को सामान्य करने की कोई औषधि है या नहीं। जहां वह दीक्षित बालक बैठा था, वहीं शीर्ष-स्थान पर भगवान महावीर का ध्यान-मग्न विग्रह चित्रित था। इतना स्वस्थ, सुदर्शन, सबल एवं दीप्तिमान शरीर और वह भी बारह वर्षों के उन रोमांचक तपों तथा देव, मनुष्य कृत उपद्रवों के उपरांत भी। आरोग्य, मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक, के साक्षात् विग्रह के गण में दीक्षित इस मुनि की, और ऐसे ही हजारों-हजारों मुनियों की यह अवस्था क्यों? वह क्या आरोग्य मंत्र था जो भगवान जानते थे और हम या तो जानते नहीं, अथवा उसका पालन नहीं करते?

आगमों में भगवान महावीर ने रोग के नौ कारण बताये हैं, जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हमारे लिए परम चिंतनीय हैं-

- (1) अत्यधिक आहार करना।
- (2) अत्यधिक भूखे रहना।
- (3) अत्यधिक विषय सेवन।
- (4) आवेगों का दमन।
- (5) मल के वेग को रोकना।
- (6) मूत्र के वेग को रोकना।
- (7) अत्यधिक विचरण (विहार या यात्रा) करना।

(8) एकदम विचरण न करना।

(9) तीव्र कषाय यथा क्रोध, घृणा।

प्रतिवर्ष उपवास-पर्वों में मैं हजारों ऐसे बालकों, स्त्री-पुरुषों को उपवास करते देखता हूँ जो पेट के घाव (अल्सर) के रोगी हैं और जिनके लिए तीन घंटे से ज्यादा आहार रहित होने से अम्ल बढ़कर पित्त का वमन होता है। धर्म-ध्यान के स्थान पर आर्त-ध्यान होता है। ऐसे तप को भगवान ने बालपन या अज्ञान तप कहा है-

मास मास में जो मूढ़

कुश की नोक पर टिके इतना ही

भोजन करता है - धर्म की

सोलहवीं कला भी नहीं जानता।

महावीर प्रणीत बारह तपों में उपवास या अनशन तो प्रथम एवं गौण है तथा स्वाध्याय अंतिम तथा श्रेष्ठ है। उपवास के लिए भी भगवान का विधान स्पष्ट है, इन सावधानियों में-

(1) इन्द्रियों की क्रिया क्षीण या विकृत न हो।

(2) कोई शारीरिक रोग न बढ़े।

(3) मन में आर्त-भाव न आवे।

महावीर की विधि से भिक्षाचरी करने वाले भिक्षु या भोजन करने वाले गृहस्थ का प्रतिदिन ही एक आनन्दपूर्ण उपवास है, जहां रोग के लिए स्थान ही नहीं है। भिक्षु को दिन में एक बार भिक्षाचरी करनी है और एक बार ही उसका उपयोग करना है- वह भी दिन के तीसरे प्रहर में। प्रथम प्रहर में कुछ नहीं खाना है। दूसरे प्रहर में गृहस्थ तथा उनके भृत्य (नौकर-चाकर) आदि भोजन करते हैं, उसके बाद बचा हुआ भिक्षुओं तथा श्वान आदि पशुओं को दे दिया जाता है। उसके बाद जो प्रांत (बचा हुआ) तथा रुक्ष (नीरस) जिसमें घी, तेल, मिर्च-मसाले नहीं हों, ऐसा भोजन साधु दिन के तीसरे प्रहर गवेषणा करता है - द्वास्थ भिखारियों तथा श्वान आदि पशुओं का भाग मिल जाने और उनके चले जाने के बाद। उस प्रांत और रुक्ष (रस रहित, वसा रहित) भोजन को वह मधु-घृत की तरह ग्रहण करता है। प्रायः दो घंटे तक भोजन आमाशय से पचकर लीवर से बड़ी आंत में चला जाता है। भोजन के मध्य में अल्प जल लेना हितकर है, किन्तु उसके उपरांत कम से कम घंटे भर जल न लेना सुपाचन के लिए आवश्यक है। दिन का चौथा प्रहर जल-सेवन तथा पाचन के लिए बच जाता है। आहार के तत्काल बाद लिया हुआ विपुल मात्रा का जल ही लीवर तथा पाचन-अंगों के रोगों को जन्म देता है। महावीर की भिक्षा-प्रणाली में इसकी अपेक्षा ही नहीं। मल-मूत्र के आवेगों को रोकना महावीर की दृष्टि में शरीर के साथ अपराध है। भगवान का विधान यहां तक है कि भिक्षाचरी करते समय भी मल या मूत्र का वेग हो तो साधु को भिक्षा-पात्रादि किसी गृहस्थ के स्थान पर रख कर प्रासुक भूमि की गवेषणा करना चाहिए तथा आवेगों का विरेचन होने के पश्चात् वहां से पात्रादि लेकर भिक्षाचरी के लिए आगे बढ़ना चाहिए। मल के आवेग को रोकने

के कारण ही बवासीर, कब्जियत, नासूर और भगन्दर आदि रोग होते हैं। मूत्र के आवेगों को रोकने से मूत्राशय के अनेक रोग होते हैं। महावीर के विधान में उच्चार निरोध (मल रोकना) तथा प्रस्राव-निरोध (मूत्र रोकना) सर्वथा निषिद्ध है। इसके औचित्य की पुष्टि प्राचीन आयुर्वेद तथा वर्तमान चिकित्सा पद्धति में सर्वत्र मिलती है। संभवतः मेरा बाल मुनि-मित्र किसी ऐसे गण या गच्छ में रहा होगा जहां नाम तो महावीर का लिया जाता है लेकिन आहार-विहार की विधि शहरी-जीवन से प्रभावित है। जहां प्रातः 'बेड-टी' की गवेषणा होती है। फिर नास्ते की गवेषणा, दूसरे प्रहर में भोजन की गवेषणा, तीसरे प्रहर में चाय-नास्ते की गवेषणा तथा अंतिम प्रहर में पुनः सांध्य-भोजन की गवेषणा होती है। फिर सूर्यास्त से पूर्व पात्र भर-भर कर जल पीने का क्रम चलता है। भोजन के बाद तत्काल और गले तक जल भर कर फिर सांध्य-आराधना तथा प्रवचनादि होते हैं और निद्रा तो रात्रि के दूसरे प्रहर में ही संभव है। जहां शरीर के आवेगों से अधिक महत्व प्रवचनों तथा लोक-संपर्क को दिया जाता है, वहां लीवर तथा पाचन प्रणाली के रोग होंगे ही क्योंकि भगवान के प्रणीत विधान का नित्य उल्लंघन होता है। भोजन के बारे में भगवान शाकाहार-मांसाहार के विवाद में नहीं गये हैं, लेकिन उनकी प्ररूपणा में हिंसा का निषेध होने से भोजन का विकल्प शाकाहार ही शेष रहता है। चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से यह भी महत्वपूर्ण है। मांसाहारी जानवरों के दांतों की बनावट तथा पाचन-संस्थान की संरचना में शाकाहारियों से सर्वथा विपरीत शारीरिक संस्थान होता है। इस दृष्टि से मनुष्य शाकाहारी वर्ग में आता है। मांसाहार उसके लिए नैसर्गिक नहीं है। मांसाहार में यूरिक एसिड ज्यादा होता है जो गठिया जैसे रोगों को जन्म देता है। साथ ही उसमें वसा की मात्रा इतनी ज्यादा होती है कि वह हृदय, लीवर और तिल्ली सबके लिए हानिकारक है। संसार के सबसे बड़े मांसाहारी देश अमेरिका में हृदय रोग से मृत्यु की दर सबसे ज्यादा है, साथ ही यकृत, लीवर कैंसर तथा पित्ताशय की पथरी के रोग ज्यादा पाये गये हैं। प्रकृति प्रदत्त फल, दूध, हरी सब्जियां, सूखे फल और मेवे, दालें

आदि मानव शरीर के लिए पोषक हैं। महावीर जैसी ही बात नाथपंथी सिद्ध मुनि श्री गोरख नाथ की वाणी में भी मिलती है-

आसन दृढ़ आहार दृढ़ जे निद्रा दृढ़ होई,
गोरख कहे सुनो रे पूतां मरे न बूढ़ा होई।

आसन का अर्थ पतंजलि की दृष्टि में सुखासन है जिसमें चांचल्य त्याग कर व्यक्ति देह स्थिर कर दीर्घ समय तक बैठ सके। आहार की दृढ़ता सात्विकता, पोषकता तथा पवित्रता में है। निद्रा की दृढ़ता स्वप्न रहित प्रगाढ़ निद्रा में है जिसे योग निद्रा कहा गया है।

भोजन के अलावा चर्चा तथा भाव भी स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। महावीर ने इसे जागरूकता (जयं) पूर्वक चलना, उठना, बैठना, बोलना, आहार-विहार आदि करना कहा है। गोरखनाथ भी इसी प्रकार का मंत्रव्य प्रकट करते हैं-

हबकि न बोलना, ठबकि न चलना, धीरे रखना पांव,
गरब न करना, सहजे रहना, भणंत गोरख राव।

भगवान बुद्ध का मध्यम मार्ग, जिसे आर्य अष्टांगिक मार्ग कहा गया है, इसी ओर इंगित करता है। भगवद्गीता में भी तामसिक, राजसिक व सात्विक आहारों का विवरण देकर उनकी तुलना की गयी है तथा शरीर और मन पर उनके प्रभाव का विवेचन है जो पठनीय तथा मननीय है। लाओ-त्से ने ताओ-दर्शन में भी इसी मध्यम मार्ग की चर्चा की है।

अंत में मुझे विजयवाड़ा के एक ईसाई सर्जन की बात याद आती है। मेरे एक मित्र की पत्नी को ऑपरेशन के समय दूसरे का रक्त दिया गया था। उसने चेतावनी दी थी कि जब तक यह पराया रक्त शरीर में है। उसके स्वभाव तथा व्यवहार में अप्राकृतिकता आ सकती है। मेरे पूछने पर कि यदि पराये रक्त का यह प्रभाव है तो पराये मांस का क्या प्रभाव होता होगा जो लाखों आदमी खाते हैं। उसने स्पष्ट कहा- पशु होकर ही कोई पशु को खा सकता है और पशु को खाने से पशुता आना अनिवार्य है। वर्तमान युग की दारुण हिंसा का यही कारण है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएँ व समाधान

राष्ट्र-जीवन में सबसे अल्पकालीन स्थान है प्रशासन का। सरकारें आती-जाती हैं, प्रशासक बदलते रहते हैं पर राष्ट्र सतत अस्तित्व में रहता है। सरकार की अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी है भाषा, भाषा की अपेक्षा बहु काल व्यापी है धर्म और धर्म से भी अधिक आयाम है संस्कृति का। वस्तुतः संस्कृति ही राष्ट्र-वृक्ष का मूल काष्ठ है, बाकी सब छिलके हैं। छिलकों के हटने पर भी वृक्ष गिरता नहीं है। राष्ट्र की राष्ट्रीयता को अच्छिन्न कर दो, वह धराशायी हो जायेगा। राष्ट्रीयता के साथ संस्कृति का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। संस्कृति के विनष्ट होने पर राष्ट्रवृक्ष खड़ा नहीं रह सकता।

विश्व में भारत ही एकमात्र देश है जिसकी राष्ट्रीयता ईसा पूर्व दसवीं सहस्राब्दि से अव्याहत चली आ रही है। इसका एक और भी सौभाग्य है जो किसी भी देश को प्राप्त नहीं है और वह है धर्म एवं भाषा। वही सनातन धर्म समय-समय पर विभिन्न धर्माचार्यों द्वारा देश कालानुरूप संशोधन-परिवर्द्धनों द्वारा अपने को सुपुष्ट करता हुआ अद्यावधि हमें अपना अक्षय पीयूष पान कराता चला आ रहा है। साथ ही यहां वैदिक भाषा संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश की घाटियों से प्रवाहित होती हुई आज आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से अपना स्तन्य पान करा रही है। इसे वैदिक वंश की भी संज्ञा दे सकते हैं।

भाषा और राष्ट्र

यह बात सच है कि भाषा— विशेष राष्ट्र जीवन में अल्पकालीन है लेकिन भाषा राष्ट्रीय जीवन में रक्तवाहिनी या प्राणवाहिनी धमनी के समान महत्वपूर्ण है। केवल नदी, नद, पर्वत, उपत्यकाओं आदि से ही राष्ट्र की संरचना नहीं होती। इसके लिए संगठित जनशक्ति का एवं उसकी संस्कृति का होना भी आवश्यक है। भाषा ही जन संगठन विधात्री है और वही संस्कृति की जननी है। इसी से राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था सुस्थापित होती है। वाणी अपना परिचय खुद देती हुई वेद में कह रही है:-

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां

चिकितुषी प्रथमा याज्ञियानाम्।

तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा

भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।

अर्थात् मैं ही राष्ट्र की वह शक्ति हूं जो राष्ट्र को धन प्रदान करती है, जो यज्ञों के भावों को एवं देश को जानने वाली है। मैं बहुत स्थिर, सर्वव्यापक और सबको प्रेरणा देने वाली हूं, देवता लोग मुझे धारण करते हैं।

प्रत्येक भाषा की अपनी निजी धड़कन होती है और हर धड़कन में उसकी संस्कृति की झंझट सुनाई पड़ती है। जो झंझट 'ऋषि', 'मुनि' और 'संत' शब्दों में है, वह 'फकीर', 'पीर', 'हरमिट' या 'सेज' में नहीं है। अपनी भाषा माता के समान होती है। इसमें अपनी मिट्टी की गन्ध होती है, अपनी सरिताओं का कलनाद होता है और अपने पूर्वजों के साथ तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता होती है। अंग्रेजी में इंग्लैंड की मिट्टी एवं संस्कृति गूंजती है जबकि हिन्दी में भारत की। आज दिनोंदिन क्षीयमाण देशभक्ति को संजीवनी देने के लिए केवल मातृभाषाओं के माध्यम से शिक्षा की अनिवार्यता होनी चाहिए।

हिन्दी और हिन्दुस्तान

आज हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्र भाषा है। सरकारी भाषा न होने पर भी राष्ट्र के बहुजन की भाषा होने के नाते और एक मात्र सम्पर्क भाषा होने के नाते हिन्दी राष्ट्र भाषा के पद पर सहस्रों वर्ष पूर्व आसीन हो गई थी यद्यपि इसे सरकारी स्वीकृति न मिली थी।

मुगलिया शासन की स्थापना के समय भी हिन्दी राष्ट्र की, बहुजन की भाषा थी। मुगल बादशाह एवं उनके कारिन्दे फारसी के अतिरिक्त किसी भारतीय भाषा को महत्व यदि देते थे तो वह थी हिन्दी। खुसरो इसके गवाह हैं। टूटी-फूटी हिन्दी, फारसी मिश्रित हिन्दी ही कालान्तर में उर्दू बनकर उद्भूत हुई। यदि गिलक्राइस्ट ने फोर्टविलियम कालेज में भाषा (हिन्दी) और उर्दू का अलग-अलग विभाग न खोला होता तो शायद उर्दू हिन्दी की मात्र एक शैली होकर रह जाती।

मुगल शासन के दौरान अरबी-फारसी का, विशेष कर फारसी का प्रचार सरकार की ओर से किया गया लेकिन वह सरकारी फरमानों एवं

कचहरियों तक ही सिमट कर रह गया। हिन्दी ही समूचे राष्ट्र की सम्पर्क भाषा थी, राष्ट्रभाषा थी। कुंभ मेलों में जहां देश के हर कोने से तीर्थयात्री आते हैं, हिन्दी का ही व्यवहार करते थे और आज भी करते हैं। साधुओं के अखाड़े भी समग्र भारत के संगम स्थल होते हैं। वहां भी हिन्दी का ही व्यवहार होता चला आ रहा है। चारों धाम की तीर्थ यात्रा के समय हिन्दी ही सम्पर्क सूत्र का काम करती है।

हिन्दी का प्रचार हिन्दीतर प्रदेशों में काफी अधिक रहा है। गुलामी के समय आसेतु हिमालय की प्रिय भाषा हिन्दी ही थी। इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि कोई भी विदेशी जो हिन्दुस्तान में आया, हिन्दी ही पढ़ना आवश्यक समझा। डच यात्री जान केटेलर ने सन् 1685 ई० में हिन्दी का प्रथम व्याकरण लिखा। वह सूरत (गुजरात) में रहता था और वहां व्यापारियों की भाषा का उसने अध्ययन किया जिसमें गुजराती मिश्रित हिन्दी थी। उसने जो व्याकरण लिखा, उसमें हिन्दी की ही प्रधानता थी।

इसी प्रकार मद्रास में ईसाई पादरी बेन्जामिन शुल्गे ने सन् 1719 ई० में हिन्दी का व्याकरण 'ग्रैमेटिका हिन्दोस्तानिका' लिखा। इस पादरी ने मद्रास में रहते हुए भी यह अनुभव किया कि हिन्दुस्तान की जनता के साथ विचार-विनिमय के लिए एक मात्र यदि कोई भाषा सर्वाधिक समर्थ है तो वह है हिन्दी।

हिन्दी सारे हिन्दुस्तान में इतनी धड़ल्ले से बोली जाती थी कि ईसाई धर्म प्रचारकों ने सर्वप्रथम हिन्दी को ही अपनाया। और अंग्रेज अधिकारी एडवर्ड पिनकाट ने इंग्लैंड से यह राजाज्ञा निकलवा दी कि भारत में वही अंग्रेज अधिकारी नियुक्ति पा सकता है जो हिन्दी जानता हो।

स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने धर्म का प्रचार संस्कृत में कर रहे थे लेकिन केशव चन्द्र सेन के आग्रह पर आपने हिन्दी में अपना प्रचार कार्य शुरू किया। हिन्दी का आश्रय पाकर ही आर्य समाज अल्पकाल में इतना प्रचार-प्रसार पा सका। गोस्वामी तुलसी दास संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे लेकिन उन्हें अपने पाण्डित्य प्रदर्शन की ललक न थी। वे राम कथा को जन-जन तक पहुंचाना चाहते थे। इसी से उन्होंने हिन्दी का सहारा लिया। यही बात रही सूफी सन्तों के साथ। वे भी अपने को जन-जन तक पहुंचाने के लिए हिन्दी का सहारा लेते रहे।

अंग्रेजी शासन के समय अंग्रेज बुद्धिजीवियों की भाषा बन गई। ये बुद्धिजीवी दो प्रकार के थे :-

1- एक वे थे जो अंग्रेजी पढ़कर ऊंचा ओहदा पाना चाहते थे, अंग्रेजों की प्रीति एवं अपने लोगों में सम्मान पाना चाहते थे। इनका प्रयास आत्मनेपदी था।

2- दूसरे वे थे जो अंग्रेजी पढ़कर अंग्रेजों का जवाब देना चाहते थे और आजादी की लड़ाई को जानदार बनाना चाहते थे। सुभाष चन्द्र बोस, सावरकर आदि इसी कोटि के थे। यह संयोग की या सौभाग्य की बात हुई कि कुछ आत्मनेपदी नेता भी काल प्रवाह में परस्मैपदी बन गये।

अस्तु, इन नेताओं ने बहुत शीघ्र यह अनुभव कर लिया कि अंग्रेजी

से हम स्वतंत्रता संग्राम में आम जनता की भागीदारी नहीं पा सकते। बुद्धिजीवियों की भाषा हवाई भाषा है, धरती की भाषा हिन्दी भाषा ही है। भारत की जनता को जगाने के लिए गांधीजी ने हिन्दी का सहारा लिया। विनोबा भावे भारत की कई भाषाओं के पण्डित थे लेकिन उन्होंने भी सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी को ही अपनाया।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व देश के सभी मनीषी एक स्वर में बोल रहे थे कि हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्र भाषा बनने की क्षमता रखती है। राजा राम मोहन राय का कहना था- "हिन्दी ही ऐसी भाषा नजर आती है जिसे राष्ट्रभाषा के पद पर बिठाने का प्रस्ताव रखा जा सकता है।"

केशव चन्द्र सेन ने कहा, "अभी जितनी भाषाएं भारत में प्रचलित हैं, उनमें हिन्दी ही सर्वत्र प्रचलित भाषा है। इसी हिन्दी को यदि भारतवर्ष की एकमात्र भाषा स्वीकार कर लिया जाय, तो यह (एकता) सहज ही में सम्पन्न हो सकती है।"

बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय कहते हैं, "बिना हिन्दी की शिक्षा दिये, अंग्रेजी के द्वारा यहां का कोई कार्य नहीं चलेगा। भारत के अधिकांश लोग अंग्रेजी और बंगला न तो बोलते हैं और न समझते ही हैं। हिन्दी के द्वारा ही भारत के विभिन्न भागों के मध्य ऐक्य स्थापित हो सकेगा।"

बंग दर्शन - खण्ड - 5 वर्ष, 1884

रवीन्द्र नाथ टैगोर के कथानुसार, "अगर हम हर भारतीय के नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं तो हमें उस भाषा को (राष्ट्रभाषा के रूप में) स्वीकार करना चाहिए, जो देश के सबसे बड़े भाग में बोली जाती है और जिसके स्वीकार करने की सिफारिश महात्माजी ने हमलोगों से की है- अर्थात् हिन्दी" कलकत्ता हिन्दी क्लब बुलेटिन सित., 1938।

सुभाष चन्द्र बोस ने कहा, "मैंने सर्वदा ही यह अनुभव किया है कि भारत में एक राष्ट्रभाषा का होना आवश्यक है और वह हिन्दी ही हो सकती है।" एडवांस जुलाई, 1938।

इसी प्रकार महाराष्ट्र में लक्ष्मण नारायण गर्दे, बाबू राम विष्णु पराडकर, माधव राव सप्रे ने हिन्दी का प्रचार-प्रसार किया। पंजाब में लाला लाजपत राय, लाला हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द आदि हिन्दी की सेवा कर रहे थे। राजस्थान और गुजरात तो हिन्दी प्रचारकों का गढ़ ही रहा है। तात्पर्य यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में भाषा को लेकर कोई विवाद न था। हवा हिन्दी के पक्ष में बह रही थी। सभी का ध्यान राष्ट्रहित पर टिका हुआ था। राष्ट्र के लिए उत्सर्ग का भाव था। आदर्श नागरिकता थी। देशवासियों का मनोबल ऊंचा था।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महात्मा गांधी का योगदान अमूल्य है। आपने हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए सन् 1936 ई० में 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना की थी। 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा' ने ही सन् 1975 में नागपुर में प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन का आयोजन किया था। स्वतंत्रता प्राप्ति पूर्व इन संस्थाओं द्वारा हिन्दी का काफी जोरदार प्रचार होता रहा।

गांधी जी ने 1918 में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व किया था। आपने अध्यक्ष पद से सुझाव दिया था कि राष्ट्रीय

एकता स्थापना के लिए विभिन्न प्रान्तों में हिन्दी प्रचार समिति गठित की जाय। आपके ही सत्प्रयास से 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना हो गई जो अब तक काम कर रही है। इसका प्रमुख कार्यालय मद्रास में है।

गांधी जी हिन्दी को परिनिष्ठित या मानक हिन्दी से अलग कर उर्दू मिश्रित हिन्दी या हिन्दुस्तानी बनाना चाहते थे। सन् 1933 ई० में गांधी जी की ही अध्यक्षता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का इन्दौर अधिवेशन हुआ था। इसमें गांधी जी ने ही प्रस्ताव रखवाया था कि हिन्दी में संस्कृत के शब्दों के बदले उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया जाय लेकिन दुर्धर्ष वक्ता पं० रामबालक शास्त्री के तगड़े विरोध के फलस्वरूप वह प्रस्ताव वापस ले लिया गया।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अब वह समय आ गया जब आजादी की लड़ाई के समय किये गये भाषा सम्बन्धी वायदों को पूरा करना था। हिन्दी के प्रबल समर्थकों में अब बच गये थे महात्मा गांधी के अलावा सेठ गोविन्द दास एवं टण्डनजी। दुर्भाग्य से गांधी जी का सम्बल भी शीघ्र ही छूट गया। अगस्त 1948 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली द्वारा भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों का सम्मेलन बुलाया गया और अध्यक्ष थे सेठ गोविन्द दास। इस सम्मेलन में सर्वसम्मति से हिन्दी को राष्ट्रभाषा एवं नागरी को लिपि के रूप में स्वीकारा गया।

9 अगस्त, 1948 को कांग्रेस पार्टी की एक बैठक हुई थी। इसमें हिन्दी के साथ अंग्रेजी को भी 15 वर्षों तक चलाने के विषय पर गरमागरम बहस हुई थी। इसमें भाग लेने वालों में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, श्री पट्टाभिसीतारमैया, पं. जवाहर लाल नेहरू, सरदार बल्लभ भाई पटेल, मौलाना अबुल कलाम आजाद, पं. गोविन्द बल्लभ पंत, सुचेता कृपलानी आदि थे। इसी साल 2 सितम्बर से 14 सितम्बर तक गरमागरम बहस के बाद 14 सितम्बर को हिन्दी राजभाषा विधेयक संविधान सभा में पास हो गया। 15 वर्षों तक अंग्रेजी में भी काम करने की छूट थी।

हिन्दी पर भीतरघात

हिन्दी आज हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा होती, विवाद का सारा मुद्दा ही समाप्त हो गया होता यदि पण्डित नेहरू हिन्दी के प्रति कठोर न होते। पण्डित नेहरू का संस्कार पाश्चात्य था। उनकी दृष्टि में हिन्दी दरिद्र भाषा थी। इसी बात को लेकर एक बार वे डॉ. रघुवीर से उलझ गये थे। डॉ. रघुवीर हिन्दी का शब्दकोश बना रहे थे। नेहरूजी ने उपेक्षा भाव से कहा था— 'इस कंगाल भाषा को कुबेर नहीं बनाया जा सकता।' डॉ. रघुवीर को पं. नेहरू के ज्ञान पर हंसी आ गयी। नेहरू जी झुल्ला उठे, बोले— बताओ, हिन्दी में कार्य के लिए कितने शब्द हैं।' डॉ. रघुवीर कहा— 'अनेक हैं। कार्य 'कृ' धातु से बना है। इसी से कृति, करण, कारण कर्म, कारक, करणीय, कर्तव्य, कर्ता, क्रिया, कृत, कुर्वाण आदि अनेक शब्दों का निर्माण किया जा सकता है।' इसी प्रकार नेहरू जी ने जब 'ला' के अर्थ में हिन्दी का शब्द पूछा तब डॉ. रघुवीर ने बताया— 'विधि, संविधान, विधान, विधायक, विधायिका, विधेयक,

विधाता, विधेय, विधिज्ञ आदि।' "

तात्पर्य यह है कि पं. नेहरू की इसी मानसिकता ने हिन्दी की नैया डुबो दी। हिन्दी की गति रोकने के लिए ही प्रारंभ में हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी का झमेला खड़ा किया गया। यह तो टण्डन जी जैसे तपस्वी का कड़ा विरोध था कि हिन्दी और नागरी को संवैधानिक मान्यता मिली। आपने उर्दू का विरोध करते हुए कहा था— "उर्दू को उत्तर प्रदेश की क्षेत्रीय भाषा घोषित करना साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देना है।" 18 फरवरी, 1953 अलीगढ़। "जो लोग उर्दू को प्रादेशिक भाषा बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे इस देश की संस्कृति के शत्रु हैं।" 15 मार्च, 1953, नेशनल क्लब, नई दिल्ली

"उर्दू को अलग भाषा के रूप में या क्षेत्रीय भाषा के रूप में चालू रखने का कार्य अराष्ट्रीय है।" 19 जुलाई, 1953 सिरसा, इलाहाबाद।

पं. नेहरू को यदि हिन्दी से एलर्जी न होती तो 15 वर्षों का टेक न लगा होता। उस समय समग्र भारत में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल थी। लोग इसे स्वीकार लिए होते। पं. नेहरू का 1950 तक वह व्यक्तित्व था जिसके विरोध में कहीं से स्वर न उठता। स्मरण आता है टर्की का कमाल पाशा। उसने अपने मंत्रियों एवं कर्मचारियों से पूछा— "देश में तुर्की को राजभाषा बनाने में कितना समय लग सकता है?" कर्मचारियों ने बताया कि तुर्की को राजभाषा के पद पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करने में दस वर्ष लग सकते हैं। कमाल पाशा ने कहा— "कल सबेरे दस बजे तक यह दस वर्ष बीत जाना चाहिए" और वही हुआ। दूसरे दिन से ही तुर्की टर्की की राजभाषा बन गई। यही काम पण्डित नेहरू भी कर सकते थे लेकिन वे जिस बात को नहीं चाहते थे, उसे उलझाते जाते थे।

1962 से हिन्दी को अंग्रेजी की गद्दी पर बैठ जाना था। नहीं हुआ। दक्षिण में प्रबल विरोध हुआ, आत्मदाह हुए। फलतः 1963 में पुनः संविधान में संशोधन करना पड़ा। हिन्दी के साथ अंग्रेजी का व्यवहार तब तक के लिए मान लिया गया जब तक भारत के सभी राज्य सहमत न हो जाएं।

यह बात समझ में नहीं आती कि जब एक वोट के बहुमत से भी कोई पार्टी पूरे देश पर शासन कर सकती है तब बहुमत की भाषा हिन्दी को एकमात्र प्रशासकीय भाषा होने से क्यों रोका जा रहा है?

हिन्दी बनाम अंग्रेजी

आज लड़ाई हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के बीच नहीं है, लड़ाई है हिन्दी बनाम अंग्रेजी की। सरकारी नीति के कारण ही प्राथमिक विद्यालयों से ही अंग्रेजी की पढ़ाई शुरू की जा रही है। अंग्रेजी माध्यम के स्कूल 'रक्तबीज' के समान बढ़ रहे हैं। इन अंग्रेजी स्कूलों में भारतीय संस्कृति का श्राद्ध हो रहा है। राजर्षि टण्डन ने जिस उर्दू का विरोध किया था और कहा था कि इससे साम्प्रदायिकता भड़केगी और राष्ट्रीय एकता पर खतरा आ जायेगा, उसी उर्दू को उत्तर प्रदेश और बिहार के देशभक्त मुख्य मंत्रियों ने द्वितीय भाषा का दर्जा दिया। जो लोग ऐसे कुकृत्य का समर्थन कर रहे हैं, उन्हें 'हिन्दी दिवस' मनाने की भी

पात्रता नहीं है।

राष्ट्र भाषा किसी भी राष्ट्र की प्रथम रक्षार्पणित है। इसे ध्वस्त कर दीजिये, राष्ट्र का ध्वंश निश्चित है। आज हमारे छात्रों के श्रम व समय का 50% अंग्रेजी सीखने में बर्बाद हो जाता है। कैसा मीठा जहर है। हम प्यार व आग्रह से पी रहे हैं। अंग्रेजी स्कूलों में दाखिले के लिए मोटी रकम घूस के रूप में दी जा रही है। रहना है भारत में और दक्षता पा रहे हैं अंग्रेजी में। 20 वर्षों की अंग्रेजी पढ़ाई के बाद काम मिला कारखाने में जहां मजदूरों से हिन्दी में या भारतीय भाषा में बात करनी है। आफिस की भाषा अलग है और मजदूरों से बात करने वाली भाषा अलग। ऐसा क्यों? गुलामी मनोवृत्ति! राजनैतिक दृष्टि से आजाद होने के बावजूद मानसिक दृष्टि से अभी हम आजाद नहीं हुए, प्रत्युत गुलामी का रंग दिनोंदिन और गाढ़ा होता जा रहा है। अंग्रेज गये, पर अंग्रेजियत छोड़ गये। लार्ड मैकाले ने जो सपना देखा था वह धीरे-धीरे साकार सा होता जा रहा है। उसका सपना था कि अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारत में ऐसी कौम पैदा होगी जो रूप-रंग में भारतीय होगी पर विचार एवं व्यवहार में अंग्रेज होगी।

भारत की गरीबी एवं दुर्गति में अन्यतम कारण विदेशी भाषा का शिक्षा का माध्यम होना है। जापान एवं चीन के छात्र मातृभाषा में शिक्षा पाते हैं। वे विषय की जानकारी हासिल करते हैं, जबकि हम भाषा और वर्तनी करते रहते हैं। और वर्तनी भी ऐसी कि जिसमें कोई विवेक नहीं है। Put पुट हो गया जबकि But बट रह गया। Neighbour के फालतू वर्ण विन्यास रहना गोइंठा में घी डालना है। एक दिन मैं अपने नाती को श्रुति लेख दे रहा था। मेरा तात्पर्य था, मैं एक मधु मक्खी देखता हूँ। अर्थात्। see a bee लेकिन नाती ने रोमन लिपि के मात्र चार वर्ण लिख दिये- l c a b। मैं माथा पीटकर रह गया।

गीता में भगवान श्री कृष्ण कह रहे हैं- “बड़े जो काम करते हैं, छोटे उसी का अनुकरण करते हैं।” बात बिल्कुल सही है। सामने दिखाई पड़ रही है। पैसे वालों के लड़के अंग्रेजी स्कूल में पढ़ रहे हैं। ममी, डेड बोल रहे हैं (ईश्वर न करे जीती जागती माता ममी बने और पिताश्री डेड हो जाएं)। बस, कम वित्तवाले अर्थात् निम्न मध्यम वर्गीय समाज टूट पड़ा अपने बच्चों को अंग्रेजी स्कूल में भर्ती कराने के लिए। दहेज प्रथा से भी ज्यादा घातक है यह अंग्रेजी स्कूलों की ओर भागने की प्रवृत्ति।

आजादी पाने के बाद घाना, नाइजीरिया, कीनिया, यूगाण्डा, तंजानिया, जाम्बिया, गैबिया आदि देशों ने अपने शासकों की ही भाषा को अपनी राष्ट्र भाषा बना ली जबकि इजराइल, थाइलैंड, सोमालिया, इथियोपिया ने अपने देश की भाषा को अपनाया। भारत, श्रीलंका एवं मलेशिया ऐसा न कर सके क्योंकि इनके यहां अपने घर में ही विवाद उठ खड़ा हुआ। अपनी भाषा को अपनाने का सुफल उन देशों को मिल रहा है जिन्होंने अपनाया और जिन्होंने नहीं अपनाया उनके बच्चे भाषा द्वय की चक्की में पिस रहे हैं और पिसते रहेंगे तब तक जब तक दोनों में से कोई एक भाषा दूसरी को निगल नहीं जाती।

वर्तमान संकट

आज दूरदर्शन के माध्यम से भारतीय संस्कृति पर धुआंधार आक्रमण हो रहा है। इससे एक ओर हमारी संस्कृति चरमरा रही है, दूसरी ओर भाषा भी प्रभावित हो रही है। सिने स्टारों का जब इण्टरव्यू होने लगता है तब लगता है सभी स्टार इंग्लैंड से आये हैं। कोई हिन्दी बोल नहीं पाता है या अंग्रेजी बोलने में ही अपनी महिमा समझता है। इनके प्रदर्शनों से निराशा ही नहीं घृणा भी होती है। आज दूरदर्शन शिक्षा प्रसार व मनोरंजन का साधन न रहकर सहस्र मुख जहर फैला रहा है। यह सब मात्र इसलिए किया जा रहा है कि किसी अन्य राजनीतिक दल को फायदा न पहुंचे। देश भले रसातल को चला जाय।

अंग्रेजी भाषा एवं भोगपरक संस्कृति न केवल हिन्दी का अहित कर रही है, प्रत्युत सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के लिए कैंसर का कीड़ा बन चुकी है। इसके लिए जिम्मेदार है राजनेताओं का क्षुद्र स्वार्थ एवं देश-भक्ति का अभाव जो बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क्रमशः प्रतिक्षण प्रबलतर होता जा रहा है।

कागजी बयान

सरकारी आंकड़ों के अनुसार हिन्दी की दिनोंदिन तरक्की हो रही है। केन्द्रीय कार्यालयों में हिन्दी प्रकोष्ठ हैं जो अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सिखा रहे हैं। प्रतिवर्ष करोड़ों रुपए खर्च हो रहे हैं और हिन्दी में जोर-शोर से काम चल रहा है लेकिन असलियत कुछ और ही है। ये सफेद हाथी अपनी हिफाजत अच्छी तरह कर लेते हैं।

लेकिन सारा दोष इनके मत्थे मढ़ देने से काम नहीं चलेगा। मुझे अच्छी तरह स्मरण है 1964 से पूर्व का भारत। मैं जिस विद्यालय में कार्यरत हूँ, उसमें लगभग 10% छात्र दक्षिण भारतीय थे। अधिकांश छात्र हिन्दी में हिन्दी वालों से भी अच्छा अंक पाते थे। दक्षिण भारतीय अग्रदर्शी होते हैं। बच्चों से कहा करते थे— हिन्दी पढ़ो। इसके बिना काम चलने को नहीं। विद्यालय के पास ही मद्रासी मुहल्ला है। इनकी अच्छी खासी आबादी है लेकिन आज की स्थिति यह है कि एक भी मद्रासी लड़का अपने विद्यालय में नहीं पढ़ रहा है। सभी अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में जा रहे हैं। यही आंकड़ा सही है, बाकी सब कल्पित। इनके बच्चे अतिरिक्त समय में अपने माता-पिता से हिन्दी बोलना सीख लेते हैं।

विदेशों में हिन्दी

स्वदेश की अपेक्षा विदेशों में हिन्दी का अच्छा खासा प्रचार हुआ है। ऐसा लगता है विदेशी जब हिन्दी में बोलने लगेंगे तभी हम हिन्दी का महत्व समझेंगे, आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज से हिन्दी पढ़कर आने में गौरव का अनुभव करेंगे।

मारिशस को तो लघु भारत कहा ही जाता है। यहां की आबादी का 52% हिन्दू है। यहां के निवासी आचार्य वासुदेव विष्णु दयाल भारत से उच्च शिक्षा प्राप्त कर 1939 ई० में मारिशस लौटे थे। आपने अपने अथक प्रयास से मारिशस में हिन्दी की उच्च शिक्षा की व्यवस्था की। आज भारत से हिन्दी विद्वानों का आना-जाना बढ़ गया है। यहां अगस्त,

1976 ई० को द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन भी हो चुका है। इसका प्रमुख श्रेय तत्कालीन प्रधानमंत्री सर राम गुलाम को है। इसमें भाग लेने के लिए भारत से 500 प्रतिनिधि गये थे जिनमें पं. श्री नारायण चतुर्वेदी, आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर, उपेन्द्रनाथ अशक आदि थे। यहां चतुर्थ विश्व हिन्दी सम्मेलन भी हो चुका है। जबकि तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन दिल्ली में हुआ था।

सन् 1965 तक अमेरिका के लोग यही जानते थे कि भारत की राष्ट्र-भाषा अंग्रेजी है। विवेकानन्द आदि विद्वानों ने अंग्रेजी में वक्तृता देकर इस धारणा को आधार दे दिया था लेकिन आज स्थिति यह है कि यहां लगभग सैकड़ों ऐसे विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय हैं जहां हिन्दी की पढ़ाई हो रही है। अमेरिका की कांग्रेस लाइब्रेरी तो ऐसी है जहां भारत में छपी सभी अच्छी पुस्तकें एवं पत्रिकाएं पहुंच जाती हैं और वहां से स्थानीय विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों को भेजी जाती हैं।

फ़ीजी में हिन्दी भाषियों की संख्या पर्याप्त है। वहां के संसद में भी हिन्दी में बोलने की छूट है।

भारत से बाहर कुछ तो ऐसे देश हैं जहां भारतीयों की संख्या अधिक है और वे स्वेच्छा से हिन्दी पढ़ रहे हैं। ऐसे देश हैं- मारिशस, फ़ीजी, सूरीनाम, गुयाना, त्रिनीदाद, जमैका, मलयेशिया, कीनिया, थाईलैंड, बर्मा, नेपाल आदि।

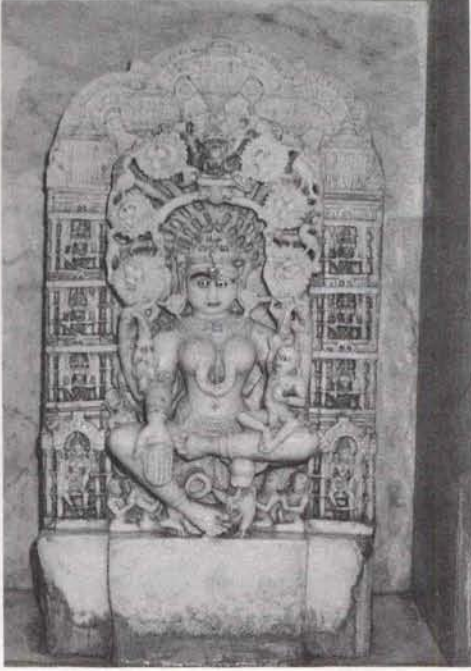
जिन देशों के निवासी भारत के बारे में जानकारी के लिए या मैत्री स्थापन के लिए हिन्दी पढ़ रहे हैं, वे देश हैं- अमेरिका, कनाडा, रूस, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, हालैंड, इंग्लैंड, इटली, फ़्रांस, जापान, जर्मनी आदि। आज विश्व के 100 से ऊपर विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन एवं शोध कार्य चल रहा है। जिन विदेशी हिन्दी विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं, वे हैं— कैम्ब्रिज के मैकग्रेगर, जर्मनी के लोठार लुत्से एवं श्रीमती मार्गेट गात्स्लाफ, रूस के वारात्रिकोव,

प्रो. चेलिशेव एवं साजानोवा, हालैंड के प्रो. शोकर, डेनमार्क के प्रो. थीसन, पोलैंड के ब्रिस्की, इटली के तुर्वियानी, फ़्रांस की प्रो. निकोल बलवीर, हंगरी की प्रो. इबा अरादी, जापान के प्रो. मिजोकामी, प्रो. कोगा और प्रो. सुजुकी उल्लेखनीय हैं। फ़ीजी में डॉ. विवेकानन्द शर्मा, श्री जे.एस. कैवल एवं बलराम वशिष्ठ जैसे मनीषी अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा हिन्दी का कोश बढ़ा रहे हैं।

हिन्दी माँग रही बलिदान

सुन्दर सृष्टि बलिदान माँगती है। हिन्दी को नामधारी (Dejure) से कर्मधारी (Defacto) की स्थिति तक पहुंचाना है। इसके लिए हमें अपने क्षुद्र स्वार्थ का बलिदान करना होगा। आज हिन्दी वाले ही हिन्दी बोलने में संकोच का अनुभव करने लगे हैं, यही घातक स्थिति है। इंग्लैंड और जापान के निवासी अपने देश की महंगी चीजें खरीदते हैं और विदेशी सस्ती चीजें नहीं छूते। यही भाव जब हिन्दी वालों में आ जायेगा, तभी देश का कल्याण होगा और हिन्दी को अपना उचित स्थान मिल सकेगा। सम्पन्न वर्ग ऐसे स्कूल-कालेज खोलें जिनमें उच्च कोटि की शिक्षा की व्यवस्था हिन्दी माध्यम से हो। आज केवल साहस एवं दृढ़ निश्चय की अपेक्षा है। साधन-सम्पन्न वर्ग यदि अपनी चाल बदल दें तो हिन्दी एवं हिन्दुस्तान का हित संवरने में देर न लगेगी। राजनेता भी जरा अपनी अन्तरात्मा को टटोलें। वे जिस भाषा में वोट मांगते हैं, उसके लिए वे क्या कर रहे हैं। समग्र हिन्दी भाषी और हिन्दी समर्थक अहिन्दी भाषी भी संकीर्णताओं से ऊपर उठकर हिन्दी की शक्ति का एवं राष्ट्रीयता की भावना का सिंहनाद कर दें ताकि विश्व में चीनी व अंग्रेजी के बाद सर्वाधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा को राष्ट्र-संघ में भी स्वीकृति मिल सके। अटल बिहारी वाजपेयी ने सर्वप्रथम एवं नरसिंह राव ने तदनन्तर अपने भाषणों से जो अनुगूँज राष्ट्रसंघ में पैदा की है उसे वैधानिक मान्यता दिलाकर स्थाय्य प्रदान करना है।

82, रामकृष्णपुर लेन, हवड़ा-2



शासन देवी अम्बिका

अम्बिका देवी द्वाविंशतम तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान की शासन देवी है। प्रभावशाली एवं जागरूक होने से इसकी मान्यता न केवल जैनों में ही रही है किन्तु जैनेतरों में भी इसका सार्वभौम प्रचार हुआ है। अम्बिका माता की मूर्तियां अनेक स्थानों पर पूज्यमान संप्राप्त हैं। अनेक म्यूजियमों में भी इसकी कई मूर्तियां उपलब्ध हैं। सर्वप्रथम यह शासन देवी कैसे हुई यह जानने के लिए इसका पूर्वभव वृत्तान्त यहां जिनप्रभसूरि कृत “विविध तीर्थ कल्प” से दिया जाता है।

अम्बिका देवी का विविध तीर्थ कल्प में वर्णन

श्री उज्जयंत गिरि शिखर के मंडन श्री नेमिनाथ भगवान को नमस्कार करके कोंहंडी देवी कल्प वृद्धोपदेशानुसार लिखता हूं। सौराष्ट्र देश में धनधान्य सम्पन्न कोडीनार नामक एक नगर है। वहां सोमनामक कृद्धि-समृद्ध, षट्कर्मपरायण, वेदागमपारागामी ब्राह्मण था। उसकी अंबिणि नामक स्त्री थी। यह शील रूपी मूल्यवान अलंकार को धारण करने वाली थी। उसके दो पुत्र थे। 1- सिद्ध और 2- बुद्ध।

एक दिन पितृ श्राद्ध पक्ष आने पर सोमभट्ट ने श्राद्ध के दिन ब्राह्मणों को निमंत्रित किया। वे ब्राह्मण वेदपाठी एवं अग्निहोत्र करने वाले थे। अंबिणि ने जीमणवार के लिए खीर, खांड, दाल-भात व्यंजन पक्वानादि तैयार किये। उसकी सासु स्नान कर रही थी। उसी समय मासक्षमण के पारणे के लिए एक साधु उसके घर में भिक्षार्थ आया। उसको देखकर अम्बिका उठी और भक्ति पूर्वक उस मुनिराज को भात-पाणी देकर प्रति-लाभा। साधु भिक्षा लेकर चला गया। सासु नहा करके लौटी।

रसोई में जाने पर उसने देखा कि खाद्य पदार्थ पर शिखा नहीं है। उसे बड़ा क्रोध आया और बहू से बोली कि तूने यह क्या किया? “पापिनी! अभी तो कुलदेवता की पूजा ही नहीं की है और न ब्राह्मणों को भोजन ही कराया है और न पिंडदान ही हुआ है। अतः तुमने अग्नि-शिखा किस प्रकार से साधु को दे दी।”

सासू ने वह सारा वृत्तान्त अपने पुत्र सोम भट्ट को कहा। वह भी बहुत नाराज हुआ। उसने अपनी पत्नी को घर से निकाल दिया। पराभव से दुखी होकर अम्बिणी अपने दोनों पुत्रों को लेकर चली गई। वह बहुत दुखी हुई। उसने अपने एक बच्चे बुद्ध को गोद में लिया और दूसरे पुत्र सिद्ध की अंगुली पकड़कर चलने लगी। मार्ग में प्यास से पीड़ित होकर पुत्र पानी की मांग करने लगे। वहां पानी उपलब्ध नहीं था। अम्बिणी अश्रुपूर्ण हो गई। ठीक उसी समय सामने एक सरोवर दिखाई दिया। उस अमूल्य शीतल जल से उसने अपने दोनों पुत्रों की प्यास बुझाई। भूखे बालकों ने जब भोजन मांगा तो सामने रहा आम्रवृक्ष तत्काल फला। अम्बिका ने उन्हें आम्रफल खिलाये। जब वे आम्रवृक्ष के नीचे सो रहे थे तब वे पत्तलें जिन पर उन्होंने आम्रफल खाये और उन्हें फेंक दिया था वे अम्बिका के शील प्रभाव से सोने की हो गई। इस प्रकार से वे पत्तलें, दोने और बाहर बिखरी हुई जूठन सब सोने और मोती के हो गये। उसी समय उसके घर जिसे वह छोड़ कर आई थी वहां भी अग्निशिखा युक्त बर्तन भरे देखे। उसकी सास को वह सब चमत्कार मालूम हुआ। उसने अपने बेटे सोम भट्ट से कहा कि बेटा तेरी बहू सुलक्षणी और पतिव्रता है उसको तू वापस घर ले आ।

मां द्वारा दिये आदेशानुसार बेटा पश्चाताप की अग्नि में जलता हुआ वह अपनी पत्नी को वापस लिवा लाने को गया। अम्बिणी ने अपने पति को आता हुआ देखा तो उसने दिशावलोकन किया तो सामने कूप दिखाई दिया। उसने जिनेश्वर भगवान की मन में अवधारणा करते हुए अपने आपको कुएं में गिरा दिया। उसे सुपात्र दान का फल मिले, वह कामना की। शुभ अध्यवसायों से भरकर वह सौधर्म कल्पस्थित चारयोजन वाले कोहण्ड विमान में अम्बिका देवी नामक महाद्विक देवी हुई। विमान के नाम से उसे कोहण्डी भी कहते हैं। सोमभट्ट ने उसे कुएं में गिरते हुए देखकर वह स्वयं भी कुएं में गिर गया। वह भी मर करके वहीं पर देव हुआ। अभियौगिक कर्म से सिंह रूप धारण कर वह अम्बिका देवी का वाहन हो गया। अन्य लोग यह भी कहते हैं कि अम्बिका ने रैवन्तगिरि पर झम्पापात किया था सोमभट्ट भी उसके पीछे वहीं मरा था।

अम्बिका भगवती के चार भुजाएं हैं। इनके दाहिने हाथ में आम्रलुम्ब एवं पाश है। बाएं हाथ में पुत्र एवं अंकुश धारण किए हुए हैं। उनका शरीर तपे हुए सोने जैसा है। यह नेमिनाथ भगवान की शासनदेवी है। इसका गिरनार शिखर पर निवास है। उसके मुकुट, कुण्डल, मुक्ताहार, रत्नकंकण नूपुरादि सर्वांगआभरण रमणीय है। वह सम्यग् दृष्टि से सबके मनोरथ पूर्ण करती है। विघ्न दूर करती है। उस देवी का मंत्र मंडलादि

रचना पूर्वक आराधना करने वाले भक्तों के अनेक प्रकार की कृद्धि-समृद्धि देखी जाती है। उन्हें भूतपिशाच, डाकिनी और दुष्ट ग्रह पराभव नहीं करते हैं। पुत्र, कलत्र, धन-धान्य, राजश्री आदि सब सम्पन्न रहते हैं। (लेख के अन्त में मंत्र दिया जा रहा है।)

इस प्रकार से अम्बिका देवी के बहुत से मंत्र रक्षा करने वाले हैं। यह स्मरण योग्य मार्ग क्षेमादिगोचर है। उन मंत्रों व मण्डल को यहां विस्तार भय से नहीं दिया जा रहा है। इन्हें गुरुमुख से जानना चाहिए। वह कल्प निर्विकल्प चित्तवृत्ति से बांधने, सुनने वाले संमोहित पूर्ण होते हैं।

जब अम्बिका शासन देवी हो गई वह सतत जागरूक रहकर शासन सेवा में प्रवृत्त होकर भक्तों की मनोकामना पूर्ण करने लगी तो समस्त भारतवर्ष में उसकी मूर्तियां और मन्दिर बनने लगे एवं जिनालय एवं स्वतंत्र मन्दिर भी प्रतिष्ठित हो गये। गिरनार पर्वत की दूसरी टूंक अम्बिका देवी के लिए प्रसिद्ध है। सुदूर बंगाल में भी एक अम्बिकापुर है जहां अम्बिका देवी का मन्दिर है। उसके पास ही भगवान् ऋषभदेव का प्राचीन मन्दिर है। हमें नदी पार करके बस द्वारा बांकुड़ा जाना था। अतः प्राचीन जैन मन्दिर का सूक्ष्मता से अध्ययन नहीं कर सके। परन्तु अम्बिका मन्दिर का जीर्णोद्धार बंगला संवत् 1320 दिनांक 16 फाल्गुन को राजा राईचरण धवल ने रानी लक्ष्मीप्रिया की स्मृति में कराने का उल्लेख देखा था। पाकवीर में एक प्राचीन पांच मन्दिरों का समूह है जहां अनेक खण्डित मूर्तियां हैं इनमें से एक अम्बिका की भी है। नाडोल के दांता गांव की पंचतीर्थी के लिए लिखा है, “दांता गांवने देहरो जुहारुं जगदीश। जोगमाया अधिष्ठायाका जय अम्बा देवीश”। दो एक जगह दक्षिणी भारत में भी अम्बिका देवी के नाम से गांव हैं। श्री जिनप्रभसूरिजी महाराज ने सात सौ वर्ष पूर्व “विविधतीर्थ कल्प” की रचना की जिसमें अनेक स्थानों में अम्बिका देवी के मन्दिरों का उल्लेख किया है।

उज्जयंत कल्प में अम्बिका के आदेश से काश्मीर के रत्न श्रावक ने लेप्य मय बिम्ब के स्थान पर पाषाणप्रतिमा स्थापित की।

इसी में अम्बिका आश्रम पद में स्वर्ण सिद्धि प्रयोग की चमत्कारिक बात भी लिखी है।

रेवन्तगिरिकल्प में लिखा है कि काश्मीर के श्रावक अजित व रत्न आये थे। प्रतिमा गल जाने से उन्होंने आहार त्याग दिया तो अम्बिका ने संघपति को उठाकर रत्नमय बिम्ब कंचन बालाणक से एक तीर से खींच प्रतिमा लाकर रख दी। उन्हें सीधे देखने पर मना करने पर भी उन्होंने देखा तो वह निश्चल हो गई। देवी ने कुसुम वृष्टि पूर्वक जय-जय कार किया। अब भी गिरि पर चढ़ने पर अम्बिका देवी का भवन दिखाई देता है।

कन्नौज से यक्ष नामक एक महर्द्धिक व्यापारी के गुजरात आने पर अणहिलपुर पाटन के निकट लक्षाराम में आकर ठहरा, वहां सार्थ सहित रहते वर्षाकाल आ गया। मेघ बरसने लग गये। भादवे के महिने में बैलों का सारा सार्थ कहीं चला गया। पता नहीं लगा। वह व्यापारी अत्यंत चिन्ता में सो रहा था। अम्बादेवी प्रकट हुई और कहा, बेटा

सोते हो या जागते हो। सेठ ने कहा कि मां मुझे नींद कहां? जिसका सर्वस्व भूत बैलों का सार्थ चला जावे उसे नींद कहां? देवी ने कहा भद्र! इसी लवखाराम में इमली के वृक्ष के नीचे तीन प्रतिमायें हैं। तीन पुरुष जमीन खुदवा कर इन्हें ग्रहण करो। एक प्रतिमा अरिष्टनेमि भगवान की, दूसरी पार्श्वनाथ भगवान की और तीसरी अम्बिका देवी की। यक्ष सेठ ने कहा कि भगवती! इमली के वृक्ष बहुत हैं अतः उस वृक्ष को कैसे जाना जाए? देवी ने कहा कि धातुमय मण्डल एवं पुष्पों का ढेर जहां देखो, उसी स्थान पर तीनों प्रतिमाएं हैं। उन्हें प्रकट करने पर तुम्हारे बैल स्वयं आ जावेंगे। इन प्रतिमाओं को प्रातः काल पूजा विधान पूर्वक करके प्रकट की गई। ब्रह्माणगच्छ के आचार्य श्री यशोभद्र सूरिजी के पधारने पर सं० 502 मार्गशीर्ष पूर्णिमा को ध्वजारोपण महोत्सव हुआ। वे अरिष्टनेमि भगवान कोहण्डी कृत प्रतिहार्य से आज भी पूजे जाते हैं। जिनप्रभसूरिकृत यह कल्प 33 ग्रन्थाग्रंथ परिमित है।

काश्मीर से आये हुए रत्न श्रावक ने गिरिनार पर कुष्माण्डी अम्बिका के आदेश से लेप्यमय बिम्ब के स्थान पर पाषाणमय नेमिनाथ प्रतिमा स्थापित की। अम्बाजी के आदेश से स्वर्णसिद्धि, रौप्य सिद्धि आदि प्राप्त की। इस प्रकार से अम्बिका देवी को न्हवण, अर्चन, गन्ध, धूप, दीपक से पूजन कर प्रणाम करके धनार्थी अर्थ लाभ ग्रहण करते हैं।

विविध तीर्थ कल्प के पृष्ठ 7 पर गिरिनार पर अम्बिका के वर्णन की गाथा...

सिंह याना हेम वर्णा सिद्धबुद्ध सुतान्विता

कृप्रायं लुम्बिभृत पाणिरत्राम्बासंघ विघ्नहृत् ॥ 3 ॥

इस पर्वत पर सुवर्ण सी कान्तिवाली सिंहवाहिनी, सिद्ध और बुद्ध नामक पुत्रों को साथ लिये हुए कमनीय आम्र की लुम्ब जिसके हाथ में है ऐसी अम्बा देवी यहां रही हुई है। यह संघ के विघ्नों का संहार करती है।

अहिच्छत्रा कल्प में लिखा है कि प्राकार के समीप नेमिनाथ भगवान की प्रतिमा सहित सिद्ध बुद्ध धारित, आम्रलुम्ब धारणी सिंह वाहिनी अम्बिका देवी विद्यमान है। मथुराकल्प में लिखा है कि वहां नरवाहिनी कुबेरा और सिंहवाहिनी अम्बिका देवी विद्यमान है। हस्तिनापुर के दोनों कल्पों के अनुसार वहां अम्बिका देवी का देवकुल था।

सत्यपुर (सांचोर) तीर्थकल्प के अनुसार वल्लभी के शीलादित्य द्वारा रत्नजटित कांगसी के लिए अपमानित शंका सेठ गज्जनपति हमीर को चढ़ाके लाया तब चन्द्रप्रभ प्रतिमा को अम्बादेवी और क्षेत्रपाल के बल से गगनमार्ग द्वारा देवपतन ले जाई गई।

विविधतीर्थ कल्प में एक रोचक प्रसंग और वर्णित है। इसमें गांधार जनपद सरस्वती पत्तन में मदन सार्थवाह उज्जयन्त गिरि का महात्म्य सुनकर वहां गया। मार्ग में देवी ने रूदन करती स्त्री के रूप में हुतासन प्रवेश कराया। अग्नि का जल हो गया। देवी ने स्तुति महिमा की। आगे अम्बा के वर से भील को जीतकर मथुरा स्तूप और चम्पक में वासुपूज्य स्वामी का बन्दन-पूजन किया। सौराष्ट्र के मार्ग से मिथ्या दृष्टि देवी ने परीक्षा पूर्वक संतुष्ट होकर जय जयकार किया और निर्विघ्न यात्रा करने को

कहा। कम्पिलपुर में अठाई की। शक्रादेश में श्रमण निर्दिष्ट अम्बिका देवी ने अहिरात्र से 84 योजन दूर सौराष्ट्र देश पहुंचा दिया। पक्षोपवासी मयण ने गजपदकुंड में नहाकर गिरनारजी पर अभिषेक किया। प्रतिमा गलित होने से सबने आहार का त्याग किया। अम्बिका ने वैश्रमण के निर्देश पर पारणा करायी। इसके बाद वहां का चमत्कारिक वर्णन है।

नेमि जिणेसर चरण अम्भोष महुर अंबिकदेवितुहं,

संघहसानिधुकरि सुह भोय देहिमण वंछिय उदय रिद्धि ॥ 30 ॥

भगवान महावीर के भ्राता नन्दिवर्धन निर्मापित 22 धातुप्रतिमाओं को 581 वर्ष बाद अम्बादेवी ने लाकर चन्देरी के सिद्ध मठ में रखा।

बीकानेर के वृहत् भंडार में जिनप्रभ सूरि परम्परा की वि.सं. 1485 के लगभग लिखी हुई अज्ञातक विकृत अम्बिका देवी पूर्वभव वर्णन तलहरा ग. 30 का है। इसकी अंतिम गाथा निम्न है...

बुहयण वयणह किंपिसुणेवि किंपिसुणेवि नियबुद्धि बलिण ।

चरित तुम्हारउ बनिउ देवि पूर मणोरह अम्ह तणइ ॥ 26 ॥

प्रतिष्ठान कल्प में लिखा है कि अम्बा देवी आदि वहां के चैत्य में बसते हुए भक्त श्री संघ के उपसर्ग नष्ट कर सहाय्य करती है। कपर्दिश्वर कल्प में अम्बा देवी का नाम भी सम्मिलित है। डिंपुरी तीर्थ स्तवन में भी द्वार के समीपवर्ती छः भुजाओं का क्षेत्रपाल और अम्बिका देवी का उल्लेख है। आरासण तीर्थ का प्रासाद निर्माण अम्बिका देवी की कृपा से हुआ है। इसका वर्णन उपदेश-सप्तति में दिया हुआ है जो निम्न है—

“आरासण तीर्थ पासिल नामक श्रावक द्वारा आरासण गांव में निर्मापित और देवगुप्तसूरि द्वारा प्रतिष्ठित चैत्य अनुक्रम से तीर्थ रूप में प्रतिष्ठित हुआ।”

एक बार मुनि चन्द्रसूरि के शिष्य आचार्य देवसूरि भृगुकच्छ चातुर्मास स्थित थे। उस समय कान्हड़ नामक एक योगी क्रूर सांपों के 84 करण्डिये लेकर वहां आया और कहने लगा कि हे सुरेन्द्र ! मेरे साथ विवाद कीजियेगा नहीं तो यह सिंहासन त्याग देवें। आचार्य ने कहा कि हे मूर्ख ! तरे साथ विवाद कैसा ? क्या श्वान के साथ कभी सिंह का युद्ध होता है ? योगी ने कहा कि मैं सर्प क्रीड़ा जानता हूं जिससे महल आदि स्थानों में जाकर दूसरे लोगों से अधिक पुरस्कार प्राप्त करता हूं। आचार्य महाराज ने कहा— हे योगी ! हमें किसी प्रकार का वाद करना अभीष्ट नहीं है क्योंकि मुनि तत्त्वज्ञ होते हैं और विशेष कर जैन मुनि तो विशेष तत्त्वप्राज्ञ होते हैं। फिर भी तुम्हें यह कौतुक ही करना हो तो राजा के समक्ष विवाद करो क्योंकि विजय इच्छुकों को चतुरंग वाद करना चाहिए।

योगी और आचार्य महाराज श्रीसंघ के साथ राज्यसभा में आये। राजा ने उन्हें सम्मान पूर्वक सिंहासन पर बैठाया। आचार्य महाराज उदयाचल पर आरूढ़ सूर्यबिंब की भांति सुशोभित थे। योगी ने कहा— राजेन्द्र सुखावह वाद होता है, जो प्राणान्तक वाद है अतः मेरी शक्ति को देखिये। आचार्य महाराज ने उसे शेखी बघारते हुए देखकर कहा— अरे बराक, तुम्हें पता नहीं हमलोग सर्वज्ञ पुत्र हैं। फिर आचार्य महाराज ने अपने चारों ओर सात रेखाएं बनाई। योगी द्वारा बहुत से सांप छोड़े गये पर किसी ने

रेखा का उल्लंघन नहीं किया। योगी ने उदास होकर दूसरा प्रयोग प्रारम्भ किया। उसने कदलीपत्र नालिका में से एक सांप छोड़ा जिससे वह पत्र तुरन्त भस्म हो गया। दुष्ट योगी ने कहा— सुनो लोगों ! यह रक्ताक्ष पत्रग शीघ्र अन्त करने वाला है। यह कहते हुए महाजनों के देखते-देखते सर्प को छोड़ा फिर दूसरे सर्प को भी छोड़ा जो उसका वाहन हो गया। योगी द्वारा प्रेरित सिंहासन पर वह चढ़ने लगा। आचार्य महाराज तो स्वस्थ चित्त से ध्यानारूढ़ हो गये। सब लोग हाहाकार करने लगे। योगी भी मुस्कराने लगा। गुरु महाराज के महात्म्य से वह दृष्टि विष सर्प हतप्रभ हो गया। तप के प्रभाव से एक शकुनिका आई। उसने सर्पयुगल को उठाकर तुरन्त नर्मदा तट पर छोड़ दिया। योगी दीनतापूर्वक गुरु महाराज के चरणों में गिरकर निरहंकार हो कर चला गया। संघ को अपार हर्ष हुआ। राजा ने महोत्सवपूर्वक गुरु महाराज को स्वस्थान पर पहुंचाया। उसी रात्रि को गुरु महाराज को एक देवी ने आकर कहा कि हे भगवन ! मैं सामने वाले वटवृक्ष पर रहने वाली पक्षिणी थी। जब मैंने आपकी धर्म देशना सुनी तो मैं उसी समय मरकर कुरुकुल्लादेवी हुई। मैं ही सकुनिका बनकर सांपों को उठा ले गई थी। गुरु महाराज ने “कुरुकुला स्तव” की रचना की। इसके पाठ से भव्य-जनों को सांपों के भय से दूर कर सकते हैं।

कीर्तिरत्नसूरिशाखा के कवि देवहर्ष ने जिनहर्षसूरि के राजा ने डीसा गजल की रचना की जिसे श्री अगरचन्द नाहटा ने अभय जैन ग्रन्थालय प्रति सं. 1699 पत्र गाथा 120 से स्वाध्याय पत्रिका के वर्ष 7 अंक में प्रकाशित की है। जिसका अंश इस प्रकार है...

आदि- चरण कमल गुरु लायचित सब जनकु सुखदाय ।

के प्रतिबोधा हठ किया विपुल सुज्ञान बताय ॥

गाऊं गुण डीसा गुहिर सीद्ध पाता सुभयान ।

समरणी अंबा सिद्धि विघ्न विंडार दीयै धन वृद्ध ॥ 6 ॥

अंत- रूप विचित्र छत्र अडोल बाधे अधिक जस अलोल ।

सुणतां मंगल गान देव कुशल गुरु वंछित दाता ।

चुगली चोर मद चूर सदा सुख आपै साता ।

चंद्रगच्छ सीरचंदगुरु जिनहर्ष सूरिश्वर गाजे ।

प्रतपो द्रूय जिमपूर भज्यां सब दालिद्र भाजै ।

पुण्य सुजस कीधो प्रगट जिहासिद्ध अम्बा माताधणी ।

कविदेवहर्ष सुख थी कहे दीयै सुजस लीलाधणी ॥ 2 ॥

आरासण गांव के नेमिनाथ मन्दिर का निर्माता गोगा मंत्री का पुत्र पासिल बहुत ही प्रसिद्ध है। इसके लिये कहा जाता है कि वह प्रारम्भ में बहुत ही निर्धन था। एक बार वह गुरु महाराज के पास निवेदन करने आया तो छाड़ा की पुत्री हांसी ने उसकी बड़ी मजाक उड़ाई कि क्या वह भी मंदिर बना रहा है। 99 लाख व्यय करके राजा ने मन्दिर बनवाया है वैसा क्या आप भी बनावेंगे। उसने गुरु महाराज द्वारा बताई गई विधि के अनुसार अम्बिका देवी की आराधना की। दस उपवास करने के बाद अम्बिका प्रगट हुई उसने कहा कि मेरे प्रभाव से सीसे की खान चांदी की हो जावेगी। तुम उसे ग्रहण कर निर्माण कार्य कराओ।

उसने तदनुसार नेमिनाथ के जिनालय का निर्माण कराया। इस मन्दिर की प्रतिष्ठा मुनिचंद्रसूरि के शिष्य वादीन्द्र श्री देवसूरि ने की थी।

विमल शाह को भगवती अम्बिका का इष्ट था। उसकी साधना करने से उसे अपार धन सम्पत्ति मिली। इससे ही उसने अनेक मन्दिर, संघयात्रायें आदि कीं। विमल वसहि की देहरी सं. 21 में एक मूर्ति है। वहां दो मूर्तियां हैं जो सम्वत् 1088 के आसपास में बनी हुई है।

प्राचीन उल्लेख :

अम्बिका देवी एक प्राचीन देवी है। इसके कई उदाहरण प्राचीन उल्लेखों में भी दिये गये हैं। वैदिक साहित्य में भी शक्तिस्वरूपा देवी का उल्लेख है। ये प्राचीन देवियां देवगतिप्राप्त देवियां हैं। वे विभिन्न नामों से जानी जाती हैं। प्रतीकात्मक गुणों से संयुक्त होने से एक पद विशेष है। चार प्रकार के देवों की आयु कम से कम दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तैत्तिरीय सागरोपम की आयु जैनागमों के अनुसार है। नाम का अर्थवर्णन प्रतीकात्मक है। यानी वह जैसे महिषासुर मर्दिनी, मोह महिषासुर और अंधकासुर अज्ञान, त्रिशूल त्रिरत्न आदि समझना चाहिए। अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार उनकी पूजा करना चाहिए। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उत्पाद व्यय और ध्रौव्य के प्रतीक हैं। देवियां कुछ वैमानिक, कुछ भुवनपति, व्यंतर बाण, करारूप प्रकार की होती हैं। जैसा कि अपनी जाति कर्म प्रकृत्यानुसार कुछ सम्यग्दृष्टि और कुछ मिथ्यादृष्टि वाली होती हैं। एक की आयुष्य पूरी होने पर उस पद पर आने वाली देवियां अपनी कर्मप्रकृत्यानुसार उत्पन्न होकर अपनी आराधना विराधना या प्रवृत्ति पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार होती हैं। कई मिथ्या दृष्टि देवियां जैनाचार्यों के सम्पर्क में आकर सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर अपनी हिंसक प्रवृत्ति त्याग देती हैं। मणिधारी जिनचन्द्रसूरि के सम्पर्क में आने से आधिगाली देवता समकित्ती देवी होकर दिल्ली के मन्दिर में अधिष्ठाता का स्थान प्राप्त किया। सेठ माणकचन्द्र तपागच्छ के अधिष्ठाता मणिभद्र बने। नगरकोट का वीरा सुनार भी जिनपतिसूरिजी के उपदेश से आराधक बना। फिर अनशन पूर्वक मर करके अधिष्ठायाक देव हुआ। सुसाणी माता सुराणों व दूराडों की कुल देवी सम्यक्त्व धारिणी है। नाकोड़ा भैरव के सम्बन्ध में कहा जाता है कि सखलेचा गोत्रीय श्रावक थे। इसी प्रकार से भगवान नेमिनाथ जी की अधिष्ठात्री देवी गिरिनारतीर्थ की शासन देवी हुई। धरेणन्द्र एवं पद्मावती तो भगवान पार्श्वनाथ की कृपा से इन्द्र एवं इन्द्राणी हुए।

शत्रुंजय का अधिष्ठायाक कापर्दि यक्ष भी ग्राम महत्तर या सरपंच था जो सातों व्यसन-पाप कर्म में आसक्त था। मुनिराज के चातुर्मास में नवकार मंत्र और आदिश्वर भगवान की भक्ति से अनशन करके कपर्दियक्ष (कवड यक्ष), अधिष्ठायाक देव हुआ। उसकी पत्नी भी अनशनपूर्वक मरकर कपर्दिका वाहन हाथी हुई।

पउमचरिय में जो 472 ई. के आसपास लिखा गया था, सिंहवाहिनी अम्बिका का वर्णन है। विशेषावश्यक भाष्य की टीका में कोट्याचार्य वादी गणि ने अम्बु कुष्माण्डी की गाथा 3590 में उल्लेख किया है।

वि.सं. 1390 में जिन प्रभ सूरि जी द्वारा हस्तिनापुर तीर्थकल्प स्तवन गाथा 20 में “भाषते उत जगसेव पवित्री कारकारणम्। भवनं च अम्बिका

देव्या पात्रिकोसप्त कच्छद ॥ (7) में उल्लेख किया है।

खरतरगच्छ पट्टावली संग्रह पृ. 42 में इस प्रकार उल्लेख है-

“तस्मिन्नवसरे विमलदण्ड नायकेन गुर्जरराज्ञा सम्मानिते नार्बुदाचलधारित्र्यां आरासन नगरे अम्बायाः कुलदेव्या प्रासादःकारित स्तत्रगम्य स्वप्नेदेव्या दर्शनं दत्तं खड्गे ग्रहाणेत्युक्त्वा रूप्यत्रय्यक खानीदर्शते च तथा तत स्तेन महत् सैन्यं कृत्वा देवी महात्म्येन चतुर्विंशति देशागृहीताः। छत्राणि अग्रेताड्यन्ते बणिक् कुलत्वात् शीर्षे वन स्थाप्यन्ते तस्येति। अन्य साक्ष्य :

खरतर गच्छ के साहित्य में अम्बिका देवी का काफी विस्तार से उल्लेख मिलता है। इसकी पट्टावली (खरतरगच्छ वृहद गुर्वावली) में निम्न उल्लेख है-

1- स्तम्भन, शत्रुंजय, उज्जयंत आदि स्थानों पर पार्श्वनाथ, ऋषभदेव, नेमिनाथ की मूर्तियां एवं अम्बिका की मूर्तियां स्थापित करने का उल्लेख। पृष्ठ सं. 17

2- सं. 1236 में अजमेर में महावीर एवं अम्बिका की मूर्तियां स्थापित की। (पृ. 29)

3- वि.सं. 1318 में भीलड़ी में अम्बिका सहित कई प्रतिमाओं की प्रतिष्ठाएं कराई। (पृ. 51)

4- वि. सं. 1362 यशोधवल के पुत्र थिरपालने उज्जयन्त में अम्बिका देवी की माला ग्रहण की। (पृ. 63)

5- वि. सं. 1380 में मानतुंग विहार शत्रुंजय की प्रतिष्ठा के समय अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठायें की। इनमें अम्बिका देवी की एक थी। (पृ. 72)

6- दिल्ली के रयपति सेठ के संघ में जिन कुशल सूरि ने बड़े विस्तार से पूजा उत्सव किया था। (पृ. 76)

7- वि. सं. 1377 में अम्बिका की एक मूर्ति देरावर नगर के लिए जिन कुशल सूरि ने प्रतिष्ठापित की थी।

8- ‘शत्रुंजय वैभव’ के पृष्ठ 180 में इस प्रकार से उल्लेख किया गया है, रत्नाकर सूरि अत्यन्त निस्पृह प्रकृति के महापुरुष थे। समत्व उनके जीवन में साकार था। गिरिनार यात्रार्थ पधारते हुए परीक्षार्थ देवी ने एक मणि मार्ग में रख दी। समस्त शिष्य परिवार का ध्यान उस पर जाना जरूरी था। इस सुंदर प्रभाव पूर्ण मणि को देखते ही शिष्यों ने जिज्ञासा की कि यह क्या है? पूज्य ने कहा, “चिन्तामणि रत्न” रत्न की वास्तविकता की परीक्षा के लिए गुरु ने कहा कि हे मणि! स्तम्भ तीर्थ जाकर के ज्ञानागार से सटीक पंचमांग ले आ! तत्काल भगवती सूत्र उपस्थित किया गया। परीक्षण पूर्ण हुआ। संयम के सामने इस मणि का कोई मूल्य न था। यथा स्थान रख दी गई जो अदृश्य हो गई।

अन्य प्रबन्धों में भी अम्बिका देवी के कई उल्लेख मिलते हैं।

अम्बिका के प्राचीनतम उल्लेख मथुरा के कंकाली टीले के समकालीन मूर्ति अभी भी हस्तीनापुर में मिली है इसमें अम्बिका की मूर्ति स्थापित करने का उल्लेख है। हस्तिनापुर से भी अभी हाल ही में कुछ मूर्तियां

मिली थीं इनमें पद्मासन स्थित 21 इंच की एक मूर्ति अम्बिका की भी थी। राजगृह में वैभारगिरि में एक शृंग कालीन दूसरी शताब्दी ई. पूर्व की अम्बिका की मूर्ति है। खण्डगिरि उड़ीसा में आदिनाथ एवं अम्बिका की मूर्तियां जो ईसा की दूसरी शताब्दी पूर्वार्द्ध की हैं। दक्षिण भारत में वैली मूलल (चित्तूर) में भी नवीं शताब्दी की अम्बिका की सुन्दर मूर्ति है।

जिनदत्तसूरि एवं अम्बिका :

नागदेव नामक एक श्रावक था। वह युगप्रधान आचार्य के दर्शन करना चाहता था। इस कारण उसने गिरिनार पर्वत के अम्बिका शिखर पर जाकर तपश्चर्या की। देवी ने प्रसन्न होकर उसके हाथ में गुप्त लिपि में कुछ अक्षर लिख दिये और कहा कि जो इसे पढ़ देगा उसे ही तू युगप्रधान आचार्य मानना। नागदेव भ्रमण करता हुआ कई जगह गया किन्तु उसे कोई युगप्रधान दिखाई नहीं दिया। अन्त में वह पाटण आया वहां भी सबको अपना हाथ दिखाया। वहां विराजमान जिनदत्त सूरि ने इसे वासक्षेप कर शिष्य द्वारा पढ़ा दिया। शिष्य ने गुरुदेव की स्तुति पढ़ी, वह यह है-

दासानुदासा इव सर्वदेवा यदीय पादाब्ज तले लुठंति

मरुस्थली कल्पतरू सजीयात्, युग प्रधानो जिनदत्त सूरि॥

यह श्लोक बहुत ही प्रचलित है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पाठ भी अवलोकनीय है। (ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह पृ. 30, 46, 216)

1- जिनदत्त नंदउ सुपहु जो भारहंमि जुग पवरो

अम्बा एवि पसाया बिन्नाओ नागदेवेण...।

नागदेव वर सावएण उज्जितं चडेविणु।

पुच्छिय जुगवर अंबएवि उववास करेविणु।

तसु भत्ति तुडायतीय करि आक्खर लिखिया।

भणिउ जवाइय पम्हसय जुगपवर सुधम्मिय।

भमिऊष पुहवि अणहिलपुरि जुगपहाण तिणिजाणियउ।

जिनदत्त सूरि नंदउ सुपहुअंबाएवि वखणियउ...2

2- जिनदत्त सूरि गुरु नमउए-

अम्बिका ए देवि आयेसि जाणियइ चिहुजुगे जुगप्रधान

संयंभरिए रायडइ दीधउ श्री जिनधर्मदान...21

3- अम्बा एवि पयासकरि जाणी जुग पहाणो।

नागदेव जोमुणि पवर वाणी अमिय सयाणो म॥

अमिय समाण बखाण जासु सुणिवा सुर आवइ।

चउसठि जोगणि जासुनामि नहुंतणु संतावइ।

जुगवर सिरि जिनदत्त सूरि महियलि जाणीजइ।

निम्मलमणि दीपतिभाल जिण जिण चंद नमिज्जइ...10

मन्त्री ने वैसा ही किया। कलश, झालर व पूजा के सामान सहित गये। जहां संकेत सिद्ध हुआ, तीन प्रतिमाएं प्रकट हुईं। एक वज्रमय श्री आदिनाथ प्रतिमा, दूसरी अम्बिका माता और तीसरा वालीनाथ क्षेत्रपाल प्रकट हुए। ब्राह्मणों ने कहा, प्रतिमा तो है पर मन्दिर बनाने में बाधा दी तो मंत्रीश्वर विमल दण्डनायक ने स्वर्णमुद्राएं बिछाकर भूमि ग्रहण

की और भगवान् ऋषभदेव का जिनालय निर्माण कराया। अठारह करोड़ तिरेपन लाख द्रव्य व्यय हुआ। सं. 1088 में वर्धमान सूरि जी प्रतिष्ठा करवा कर स्वर्गवासी हुए।

महातीर्थ आबू काव्य गा-13 से (भंवरलाल नाहटा) :—

गुरुवर्द्धमान सूरिश्वर ने अम्बादेवी से सूचित हो। निर्देश किया आदीश्वर की प्रतिमा प्रगटेगी निश्चित हो। द्विजगण से मनपसंद भूमि इच्छित धन देकर के चाही। विठ्ठवाय स्वर्णमुद्राओं को ले लें धरती जो मन भाई...3

जिनकुशलसूरिजी को अम्बिका देवी का इष्ट था। इन्होंने कई अम्बिकादेवी की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की थी। इनके लेख भी दिये जा रहे हैं—

जिनोदयसूरिजी के संघ यात्रा में जाते हुए कोटिनारपुर पहुंचने पर अम्बिका देवी की पूजा अर्चना करने का उल्लेख विज्ञप्ति पत्र में किया गया है।

जयसागरोपाध्याय :

जिनराजसूरिजी के शिष्य जयसागरोपाध्याय उच्चकोटि के विद्वान और प्रभावक संत थे। गिरिनारजी पर जब संघपति नरपाल ने लक्ष्मीतिलक नामक खरतरवसही जिनालय का निर्माण कराया तब अम्बिका देवी के प्रत्यक्ष दर्शन होने का उल्लेख मिलता है...

श्री उज्जयंत शिखरे लक्ष्मीतिलकाभिधो वर विहारः

नरपाल संघपतिना यदादि कारयतुमारोभे।

दर्शयति तदा चाम्बा श्रीदेवी देवता जन समक्षम्

अतिशय कल्पतरूणां जयसागर वाचकेन्द्राणाम्...2

श्री जिनराज सूरि (द्वितीय) :

वे चतुर्थ दादा श्री जिनचन्द्र सूरि के प्रशिष्य थे। वे उच्च कोटि के विद्वान् थे। उन्हें अम्बिका देवी का पूर्ण सान्निध्य था। उन्होंने मेड़ता में भी अम्बिका देवी की स्थापना की थी। वह उनके सान्निध्य में ही वि. सं. 1662 में निकली हुई प्रतिमा थी। आपने प्राचीनतम लिपि को पढ़ा था। उनके रास में लिखा है कि देवी अम्बिका की कही हुई पचासों बातें सत्य साबित हुईं। देवी ने कहा था कि आपको पाचवें वर्ष में आचार्य पद मिलेगा। अम्बिका हाजरा हजूर थी। “जय तिहुण” स्मरण करने पर अहिरूप में धरणेन्द्र ने दर्शन दिये थे। देवी ने उन्हें भट्टारक पद देने का भी आशीर्वाद दिया था जो उन्हें मिल गया था। श्री जिन सिंह सूरि के स्वर्गवास के तीन दिन पूर्व ही उन्हें यह ज्ञात हो गया था। वचपन में भी थराद एवं सांचोर के बीच उन्हें “परचा” दिया था। जिनराज सूरि कृतिकुसुमांजलि एवं ऐतिहासिक काव्य संग्रह में निम्न उदाहरण दिया गया है-

घंघाणि प्रतिमातणी रे वांची लिपि महा जाण।

अम्बिका साधी मेड़ते रे केता करय बखाण॥ 1॥

पार्श्वनाथ नी सानिधि, कीधीए अखियात।

घंघाणी प्रतिमातणी वांची लिपि विख्यात...2

सद्गुरु साधी अम्बिका थई कहयउ परतक्ष।

भट्टारक पद पांच मइ बरसई पामिसिइदक्ष...3,

मिल्या जिके कहया अंबिका बीजा बोल पचास।

करइ सानिध गुरुराजनइ हाजरि रहि हुलास...4

जयतिहुअण समर्या थकी अहिरूपइ धरणीन्द्र।

बोल्थउ थाइसवच्छ तुं खरतरगच्छ मुणीद...5

आजथकी चऊथई वरिस फागुण सुदि शुभव्वार।

सातमी दिवसई तूं लहसि भट्टारक पद सार...6

तिहुं दीहाड़े थाकते तहं जाणयउ जिनराज।

मरणउ जिनसिंहसूरियनउ ए सबल करामति आज...7

बालपणा पणि ताहरउ पूरयउ परतउ एक।

थिराद सांचोर बिचई अंबिका राखी टेक...8

(पत्र 2 से 8 अभय जैन ग्रंथालय प्रति 6713)

बड़ी बखती सुप्रसन्न वदन जाण्यो पुण्य अंकूर।

परतखी देवी अंबिका हुई हाजरा हजूर

परतखि परतउ दिठए अंबानई आधार

लिपि वांची घंघाणीयई जाणइ सहु संसार

...ऐ. जैन काव्य सं. 167

तूठी जेहनह अंबिका रे लाल अविचल दीधी वाच।

लिपि वांची घंघाणीयइ रे सहु को मानइ साच

...ऐ. जैन काव्य संग्रह पृ. 170

जिनसागरसूरि रास में...

उदयदिखायउ अंबिका रे लो श्रीजिनशासनदेव रे।

युगप्रधान जिनचंद्र जीरे करइ कृपा नितमेवरे।

...ऐ. जैन काव्य सं. पृ. 20।

अन्य शिलालेखीय सामग्री :

नीचे लिखे लेख भी मिले हैं जिनमें अम्बिका की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है—

1- सं. 1092 वर्ष नागेन्द्र संतानेन इतबारक स्य ने अंबिका प्रतिमा समस्त गोष्ठ्या कारिता जूनागढ़ महावीरस्वामी के मंदिर में

2- सं. 1384 माघ सुदि 5 जिनकुशल सूरिभिः प्रतिष्ठित कारितेच... सा. उ... बालीस (जयपुर श्रीमाल दादावाड़ी)

3- सं. 1380 श्री जिनकुशल सूरिभिः अंबिका प्रतिष्ठिता। (बम्बई में एक श्रावक के पास)

4- सं. 1381 वैशाख वदि 5 श्री जिनचन्द्रसूरि शिष्यैः श्री जिनकुशलसूरिभिः (बैदों के महावीर जिनालय बीकानेर में)

5- सं. 1483 वर्ष वैशाख सुदि 5 प्रगवाट जाति सा. अभयपाल भा. अहिब दे पु. सा. रायसिंहेन भा. लवली पुत्र सा आसड अभय राज आंबदत्तादि कुटुम्ब युतेन श्रेयसे अंबिका मूर्ति का० प्रतिष्ठिता श्री सोमसुन्दर सूरिभिः (रतलाम शांतिनाथ मंदिर)

6- सं. 1525 वर्ष माह 5 सोमे उके० सा० राजाकेन अंबिका गोत्र देव्या का।

7- सं. 1380 कार्तिक सु. 14 श्री जिनचन्द्रसूरि शिष्यै श्री जिनकुशल सूरिभिः श्री अंबिका प्रतिष्ठिता - जैन तीर्थ सर्व संग्रह 372 यह प्रतिमा

व्यावर में हाला (सिंध) से आ गई है। इसके साथ सं. 1379 में श्री जिनकुशलसूरि द्वारा मार्गवदी 9 प्रतिष्ठित पीतल का सिंहासन भी है।

8- खंभात के चिंतामणि जिनालय में भूमिग्रह में एक अंबिका गवाक्ष है। इसमें देवी की सुन्दर प्रतिमा है। जिस पर सं. 1547 वैशाख सुदि 3 सोमवार का लेख खुदा है जिसमें प्रगवाट जाति के पासवीर की भार्या पूरी ने अपने कुटुम्ब के श्रेयार्थ श्री अंबिका की मूर्ति कराके सुमतिसाधुसूरि से प्रतिष्ठित कराई।

9- सादड़ी के चिंतामणि पार्श्वनाथ मंदिर में अंबिका माता की संगमरमर की एक मूर्ति जो पाली में प्रतिष्ठित है। इसका लेख इस प्रकार है... सिद्धम् सं. (13) 12 मार्ग सु. 13 श्री उ. पल्लिका स्थाने श्री शांति नाथ चैत्ये।

10- देलवाडा मेवाड़ में वि. सं. 1476 का लेख अंबिका की मूर्ति पर है यह महात्मा श्रीलाल जी के संग्रह में है-

सं. 1476 वर्ष मार्ग सु 10 दिने मोढ़ जातीय सा. चउहथ भार्या साजणि सुत सं. मानाकेन अंबिका मूर्तिकारिता प्रतिष्ठिता श्री...

(नाहर जैन लेख संग्रह 200)

11- उज्जयंत गिरि से भी कई अम्बिका की मूर्तियां मिली हैं। इन पर शिला लेख भी मिले हैं...

सं. 1215 वर्ष चैत्र सुदि 8 रवा वद्येह श्री मदुजयन्त तीर्थे जगती समस्त देव कुलिका सत्क छाजा कुवालि सविरण संघवि ठ० सालवाहण प्रतिपत्या सू. जसहड़ पु. सावदेवेन परिपूर्णा कृता। तथा ठ० भरथ सुत ठ. पंडि (न)

सालिवाहणेन नागवरिसिराय परितः (भाग) चत्वारि बिंबी कृतकुंडमार्तर तदधिष्ठात्री श्री अंबिकादेवी प्रतिमा देवकुलिका च निष्पादिता।

12- सं. 1361 फाल्गुन शुदि 3 गुरुवारे अद्येह श्री सरस्वती श्रीमच्चन्द्र कुले वसंचार्य श्री वर्द्धमान संताने साध्वी मलय सुन्दरी शिष्यणी बाई सुहव आत्मश्रेयसे श्री अम्बिका देवी मूर्तिः कारापिता श्री सोमसूरि शिष्यै श्री भावदेव सूरिभिः प्रतिष्ठिता (छ)।

13- विमलवसाहि आबू की प्रशस्ति में निम्न वर्णन है (वि. 1378 का लेख)

अशोक पुत्रासण पाणिपल्लावा समुल्ल स्य त्स्केसरश्यं (सिंह) हवाइना।

शिशु द्यायाल कृतविहुगहा सती सतां क्रियाद्वधत् विनाराम अंबिका ॥ 1 ॥

अयान्वदातं निशि दण्डडनायकं समादिदेश प्रपता किलाम्बिका। इहामि (च) ले त्वं कुरू सद्म सुन्दरं युगा दिभर्तु निरूपायस श्रय...10

14- अचलगढ़ में शांतिनाथ मंदिर में अंबिका देवी की मूर्ति पर सं. 1515 वर्ष आषाढ़वादि। शुक्रेउकेश वंशे दरड़ा गोत्रे आसा. भा. सरयु पुत्रेण सं. मंडलिकेन भाग हीराई सु० सुजण द्वि. भा. रोहिणी पृ. भ्रा. सा. पालहादि परिवार संयुतेन श्री चतुर्मुख प्रासादे श्री अम्बिका

मूर्ति का श्री जिनचन्द्र सूरिभिः :-

इलोरा-गुफा मंदिर : कुशल निर्देश के सितम्बर 92 के अंक में इलोरा की अम्बिका देवी का सुन्दर चित्र प्रकाशित किया जिसमें फलयुक्त विशाल आम्र वृक्ष के नीचे देवी विराजित हैं, दोनों ओर दोनों पुत्र खड़े हैं।

सतना (मध्य प्र.) : अम्बिका की सभी मूर्तियां बैठी हुई मिलती हैं और दोनों पुत्र एक गोद में और दूसरा पास में खड़ा होता है। कुछ सपरिकर और कई बिना परिकर की हैं। सतना (मध्य प्रदेश) की प्रतिमा खड़ी हुई है यह कलापूर्ण सपरिकर है और दोनों पुत्र उभयपक्ष में खड़े हैं। मैंने इस प्रतिमा का चित्र कुशल निर्देश मार्च 1994 के अंक में प्रकाशित किया है।

नगरकोट कांगड़ा : कांगड़ा में अम्बिका का मूर्ति-मंदिर था, किन्तु अब नहीं रहा है। सुप्रसिद्ध उपाध्याय श्री जयसागर जी ने विज्ञप्ति त्रिवेणी में लिखा है कि कांगड़ा-नगर कोट में शासन देवी अम्बिका का चमत्कारिक मंदिर है, जिसका वर्णन अनेकशः संप्राप्त है।

भगवान की चरण सेविका शासन देवी अम्बिका है। इसके प्रक्षालन का जल चाहे वह एक हजार घड़ों जितना हो तो भी भगवान के प्रक्षालन के पानी के साथ पास-पास होने पर भी कभी नहीं मिलता। मन्दिर के मूल गर्भ गृह में कितना ही जल क्यों न पड़ा हो बाहर से दरवाजे ऐसे बंद कर दिए जाए कि चींटी भी प्रवेश न कर सके, तो भी क्षणमात्र में सारा पानी सूख जायगा। जयसागरोपाध्याय लिखते हैं कि-

“बारड़ नेमीसर तणड़ ए, थाप्पेय राय सुसम्मि।

आदिनाह अम्बिक सहिय, कांगड़ कोट सिरम्मि।”

अम्बिका और आरासण नगर :

आरासण नगर चन्द्रावती (आबू) के पास है। यहां अम्बाजी नाम का ग्राम है। इसे अम्बा देवी का मंदिर कहते हैं। यहां कई जैन मन्दिर हैं। महावीर स्वामी के मंदिर में अम्बा देवी की मूर्ति है जिस पर वि. सं. 1675 का लेख है। मूलरूप से यह प्रतिमा वि. सं. 1120 में प्रतिष्ठित हुई थी। इस पर पुनः वि.सं. 1675 में विजय देव सूरि की प्रतिष्ठा का उल्लेख है।

पुराणों में आबू क्षेत्र में अम्बा जी का एक प्राचीन स्थल था। स्कन्दपुराण में अम्बिका खण्ड में इसका उल्लेख है। इसे चंडिका नाम भी दिया गया है। इसे असुरों के नाश करने के लिए भगवान ने प्रकट किया था। ऋग्वेद में सरस्वती एक अम्बिका का उल्लेख भी सरस्वत सूक्त में है। यहां अम्बा देवी के लिए “अंबी तमे” लिखा गया है।

(ऋग्वेद संहिता मंडल 10 सरस्वत सूत्र मंत्र।)

ऐतिहासिक उल्लेखों के अनुसार वल्लभीपुर के राजा शीलादित्य पर मुसलमानों का आक्रमण हो गया। उसकी राणी पुष्पावती चन्द्रावती के राजा की पुत्री थी। उस समय राजा ने बड़ी दृढ़तापूर्वक उनका मुकाबला किया। अंत में उसके राज्य का विनाश हो गया और राणी अम्बा भवानी के मन्दिर में भाग गई। बौद्ध ग्रंथ “डाकार्णव” में आर्बुदीदेवी का नाम अम्बिका के लिए किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अम्बाजी

का मन्दिर 10-11 शताब्दी के बाद प्रसिद्धि में आया था। यह परमार राजा की कुल देवी थी। गिरनार पर्वत पर सं. 1215 में इसके एक मन्दिर बन जाने का उल्लेख एक शिलालेख में है।

अम्बाजी में माताजी का मन्दिर किले के सामने मोटे गढ़ में है। पहले इसका द्वार आता है। इसके बाद डा. वी. बाजु पुजारी का मकान आता है। इसके बाद काल भैरव का स्थान है। इस मन्दिर के पास एक प्राचीन बावड़ी भी है। इसके ऊपर एक धर्मशाला है। इसके बाद खुला चौक आता है। वहां से भगवती का मन्दिर शुरू होता है। इस मन्दिर में सुन्दर सीढ़ियां हैं। इसके बाद भव्य मंडप है। इस मन्दिर के शिलालेखों में नागर ब्राह्मणों द्वारा 15वीं शताब्दी के उल्लेख हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि महाराजा कुंभा ने इस क्षेत्र को जीता और आरासण का नाम बदलकर अपने नाम पर इसे “कुंभारिया” रख दिया।

यहां और आसपास भी कई स्थान हैं। इनमें गम्बर कोटेश्वर आदि स्थान हैं। कुंभारिया में अम्बिका की मूर्ति 12वीं या 13वीं शताब्दी की है। यह देवकुलिका की भ्रमती में है। नेमिनाथ मन्दिर गिरनार में सं. 1059 ई. के आसपास स्थापित मूर्ति है।

श्री जिनेश्वर सूरि कृतम् :

श्री अम्बिका देवी अष्टकम् :

देवगन्धर्व विद्याधरैर्वन्दिते जय जयामित्र वित्रासने विश्रुते।

नपुरा राव सुनिरुद्ध भुनोदरे, मुखरतर किंकिणी चारुता स्वरे।।।

ऊं ह्रीं मंत्र रूपे शिवे शिवकरे, अम्बिके देवि जय जयन्तु रक्षा करे।

स्फुरतार हारावली राजितोरास्थले, कर्ण ताडकं रुचिराम्य दंक स्थले-2

स्तंभिनी मोहिनी इश उच्चाटने, क्षुद्र विद्राविणी दोष निर्वाशिनी।

जम्भिनी भ्रान्ति भूतग्रह स्फोटिनी, शांति धृति कीर्तिमति सिद्धि संसाधिनी।। 3।।

ऊं महामंत्र विद्येउनवद्ये स्वयं, ह्रीं समागच्छ मे देवि दुरित क्षयम्।

ऊं प्रचण्डे प्रसीदक्षण (हे) सदानंद रूपे विदेहि क्षणम्...4

ऊं नमो देवि! दिव्य श्वमे भैरवे, जये अपराजिते तप्त हेमच्छवे:।।

ऊं जगज्जननि संहार सम्मार्जनी, ह्रीं कुष्माण्डि दिव्याधि विध्वंशिनी...5

पिंग तारोत्पद्य कण्डीखे, नाम मंत्रेण निर्नाशितोपद्रवे।

अवसरानतरैवतक गिरिनिवासिनी, अम्बिके जय जय त्वं जगत्सवामिनी...6

ही महाविघ्न संघात् निर्नाशिनी, दुष्ट परमंत्र विद्या बलच्छेदिनी।

हस्तविन्यस्त सहकारफल लुंबिका, हरतु दुरितानि देवी जगदम्बिका...7

इतिजिनेश्वरसूरिभिरम्बिका, भगवतिशुभा मंत्र पदैःस्तुता।

डावर पात्रगता शुभसम्पद वितरतुप्राणिहंतवंशिवं मम...8

अम्बिका मंत्र (विविध तीर्थकल्प से)

वयवीयम् कुल कुलजलह रिहय अक्कंतत्त पेआइं।

पणइणि वायावसिओ अंबिअ देवी इ अहमंतो...1

धुवभुवण देव संबुद्धि पास अंकुस तिलोअ पंचसरा।

णहसिहि कुलकल अम्भासिअमाया पर पणाम पयं...2

वागुम्भवं तिलोअ पास सिणीहा ओतइअवन्नस्स।

कूडं च अंबिआए नमुत्ति आराहणा मंतो...3

अम्बिका स्तुति :

आम्रगुच्छ करां सारां नेमीश्वर क्रमाब्जिनीम्,
मंगलोच्चार मुखराम्बिका देव्यै (नमः) स्वाहा।
श्री अमरसिन्धुर गणिकृत : श्री अम्बिका गीतम्
देशी - गरवानी

मां अंबाई, तो दरसन थी अडसिध नवनिध पाई, माई...।

माई रेवंतगिरि ऊपरमाल्हे, माई गहिर गुणै नितप्रति गाजै

माई छत अधिक ओपम छाजै ॥ माई...2

माइनेमीसरनाचरण नमे माई दोषी जननै तुरत दर्मे।

माई गहिरा दुख वै तुरत दमै... माई 3

माई चिन्तापिण मननीचूरै, माई प्रेम अधिक लक्ष्मी पुरै।

माई चरण नमे उदये सूरै... माई 4

माई आराध्यांततखिण आवै, पेखी निजसेवक सुख पावै।

माई गोरंगी मिलगुण गावै... माई 5

निज दास नी आसा तुरत पुरै, देवी नयणा नंदचढते सूरै।

माई अधिकै पुण्य ने अंकूरै... माई 6

माई नेह निजर भर निरखीजै माई वंछित सुख मुझ ने दीजै।

माई कारज एतोहिव कीजै... माई 7

वरसुजसत्रंबाल जगत बाजै, सबली सिंघ असवारी छाजै।

भावठ भय तो दरसै भाजै... माई 8

बड बखती वीनती अवधारो, इक सबल भरोसो छै थारो।

अवलवेसर आपद थी तारो... माई - 9

आतंक अरी अलगा हरिजो, देवी सुख संपत बहिला दीजो।

“अमरेश” आपणड़ा जाणीजे... माई 10

॥ इति अंबिका गीतम् ॥

गिरनारजी तीर्थ में जो अम्बिका मन्दिर-शिखर पर वर्तमान है वह वस्तुपाल तेजपाल द्वारा निर्मापित है उसकी सुकृत कीर्ति कल्लोलिनी आदि वस्तुपाल प्रशस्तिसंग्रह में इस प्रकार प्रकाशित है।

अम्बिका स्तोत्रम् :

पुण्ये गिरीश शिरसि प्रथिताव तारा मासूत्रित त्रिजगती दुरितापहाराम्।
दौर्गत्य पाति जनता जनितावलम्बा मम्बा महं महिम हैमवती महेशम्...।
यद्रवत्रकुञ्ज कुहरोद्गत सिंहनादो अप्युन्मादि विघ्नकरि यूथ क धाम माथम्।
कुष्माण्डि! खण्डयतु दुर्विनयेन कण्ठः, कण्ठीरवः स तव भक्ति नतेषु
भीतिम्...2

कुष्माण्डि! मण्डनमभूत् तव पादपद्मयुग्मं यदीय हृदयावनि मण्डलस्य।
पद्मालया नवनिवास विशेष लाभ लुब्धा न धावति कुतोऽपि ततः परेण...3
दारिद्र्य दुर्दम तमः शमन प्रदीपाः सन्तान कानन घनाघन वारिधाराः।
दुःखोपतप्त जनबल मृणाल दण्डाः कुष्माण्डि! पान्तु पदपद्म
नखांशवस्ते...4

देवि! प्रकाशयति सन्ततमेष कामं, वामेतरस्तव करचरणा नतानाम्।
कुर्वन् पुरः प्रगुणितां सहकार लुम्बिमवे! विलम्ब विकलस्य फलस्य
लाभम्...5

हन्तुं जनस्य दुरितं त्वरिता त्वमेव, नित्यं त्वमेव जिनशासन रक्षणाय,
देवि! त्वमेव पुरुषोत्तम माननीया, कामं विभासि विभया सभया त्वमेव...6
तेषां मृगेश्वर गर ज्वर मारि वैरि दुर्वारवारण जल ज्वलनोद्भवा भीः।
उच्छृखलं न खलु खेलति येषु धत्से, वात्सल्य पल्लवितमम्बकमम्बिके!
त्वम्...7

देवि त्वदूर्जित जितप्रतिपन्थि तीर्थयात्रा विधौ बुध जनानरंगसंगि।
एतत् त्वयिस्तुति निभादभुत कल्पवल्लीहल्लीसकं सकल संघ मनो मुदेऽस्तु...8
वरदे कल्पवल्ली त्वं स्तुतिरूपे सरस्वति,
पादाग्रातुगतं भक्तं, लम्भयस्वा तुलैःफलैः ॥ 9 ॥
स्तोत्रं श्रोत्ररसायनं श्रुत सरस्वा नम्बिकायाः पुर-
श्चक्रे गूर्जर चक्रवर्तिसचिवः श्रीवस्तुपालः कविः
प्रातः प्रातर धीयमान मनघं यच्चित्तवृत्तिं सता
माधत्ते विभुतां च ताण्डवयति श्रेय श्रियं गुरयति...10
॥ इति महामात्य श्री वस्तुपाल विनिर्मित अम्बिका स्तोत्रम् ॥

गिरनारजी पर जो वस्तुपाल तेजपाल ने अम्बिका शिखर या मन्दिर निर्माण कराया उसका उल्लेख उनकी प्रशस्तियों में सर्वत्र उपर्युक्त उल्लिखित ग्रन्थ के पृ. 28, 44, 46, 48, 51, 54, 56 में है।

श्री विजयसेन सूरि कृत रेवंतगिरि रासु जो सं. 1288 के आसपास की प्राचीन रचना है। इस 10, 20, 22 कुल 52 गाथा की रचना की प्रथम गाथा में अम्बिका देवी को भी नमस्कार किया है और द्वितीय कंडव में काश्मीर देश के श्रावक रतन द्वारा अभिषेक करते लेप्यमय बिंब गल जाने से निराहार रहकर आराधना की। 21 उपवास होने पर अम्बिका देवी ने प्रसन्नता पूर्वक प्रकट होकर कहा, “वत्स तुम कंचनवाला-नक से आते हुए मणिमय बिम्ब को पीछे की ओर मत देखना। जिनालय की देहली तक पहुंचते बिंब हर्षातिरेक से पीछे देखा और वहीं भगवान नेमिनाथ की प्रतिमा स्थिर हो गई, कुसुमवृष्टि हुई आदि वर्णन है। वैशाख सुदि पूनम को जिन बिंब स्थापन कर अजित और रतन दोनों संघपति भ्राता स्वदेश लौट गये।

तृतीय कंडव में अम्बिका स्वामिनी के मंदिर का इस प्रकार वर्णन किया है...

गिरिगरुया सिहरि चडेवि, अंब जंबाहि बंबा लिउंए।

संमिणि ए अम्बिक देवि देउलु दीतु रमाउलं ए...।

वज्जई ए ताल कंसाल वज्जई महल गुहिरसर।

रंगिहिं ए नच्चई बाल, पेखिवि अंबिक मुह कमलु...2

शुभकरू ए ठविउ उच्छंगि विभकरो नंदणु पासि कए।

सोहइ ए ऊजिल सिंगि, सामिणी सीह सिंघासणी ए...3

दावई ए दुक्खहं भंगु, पूरई वंछिउ भवियजण।

रक्खइ ए चउविहु संघु, सामिणी सीह सिंघासणी ए...4

अंत - रंगिहि ए रमइ जो रासु, सिरिविजयसेणिसूरि निम्मविउए

नेमिजिनु ए तूसई तासु, अंबिक पूरइ मणि रली ए...5

सुकृत कीर्तिकल्लोलिनी (पृ 103)

अप्पा सो परमप्पा

सिद्धत्व हमारा स्वभाव सिद्ध अधिकार है। न केवल अधिकार है, स्वभाव भी है। आत्मा न मन है, न वचन है, न काया है, आत्मा सिर्फ 'आत्मा' है। निरालम्ब है, निष्कलुष है, निर्दोष है, मोह-रहित, भयमुक्त, वीतराग है। क्रोध, वैमनस्य, घृणा ये सब आत्मा के व्यक्तित्व नहीं हैं। राग और द्वेष, ये सब आरोपित हैं। खौलता हुआ पानी हाथ जला सकता है, लेकिन अग्नि को नहीं जला सकता। पानी का स्वभाव उष्णता नहीं, शीतलता है। चाहे जितना खौलता पानी अग्नि में डाला जाये, वह अग्नि को बुझाने में ही सहायक होगा, जलाने में नहीं। चाहे अग्नि में खौलता पानी डाला जाये या ठण्डा पानी, दोनों ही अग्नि को शान्त ही करेंगे।

यहां जल का स्वभाव शीतलता है, गरमाहट आरोपित है। शीतलता वास्तव में निर्भयता, वीतरागता, निष्कलुषता की प्रतीक है, जबकि गरमाहट क्रोध, वैमनस्य, सांसारिकता आदि का प्रतीक है।

सिद्धत्व का अर्थ भगवत्ता से है, हमारे परमात्म-स्वरूप से है। बहुत से लोग ऐसे हुए, जिन्होंने परमात्मा की खोज के लिये सारे संसार में तलाश की, लेकिन उन्हें हताश होना पड़ा। जो कभी खोया हो, उसे खोजा जाता है। बगल में बच्चे को रखकर, नगर भर में उसे ढूँढ़ना बेकार की पेशानी नहीं तो और क्या है? जिसे खोया ही नहीं, उसे खोजोगे कैसे? यह खोजने की यात्रा तो ठीक वैसे ही हुई, जैसे मृग कस्तूरी को ढूँढ़ने के लिये चारों ओर भटकता है, लेकिन अन्ततः कस्तूरी वहीं मिलती है, जहां से उसने खोजना प्रारम्भ किया था। परमात्मा

भी आखिर वहीं मिलेगा जहां हम स्वयं है, जहां से हमने यात्रा प्रारम्भ की।

परमात्मा का कभी वियोग नहीं हो सकता। जहां योग होता है, वहां वियोग होता है। परमात्मा का कभी वियोग नहीं हुआ, इसलिये योग भी कैसे होगा। इसलिए परमात्मा को खोजना नहीं है, मात्र बोध का रूपान्तरण करना है। सिर्फ अन्तर की आंख खोलकर स्थिति को देखना है, समझना है। यह दर्शन ही समझ की क्रान्ति होगी।

देखा या खोजा उसे जाता है, जो बाहर हो। जो बाहर है ही नहीं, उसे बाहर कैसे ढूँढ़ा जाये? क्या आत्मा, आत्मा को ढूँढ़ेगी? क्या व्यक्ति अपने आप पर शंका करेगा? लोग आत्मा पर शंका करते हैं। हकीकत में तो जो शंका कर रहा है, वही आत्मा है। इससे अधिक हास्यास्पद क्या होगा कि 'आत्मा' अपने आप पर शंकास्पद है।

परमात्मा कहीं बाहर नहीं, हमारे भीतर है, हम स्वयं हैं, पर बाहर इसलिए ढूँढ़ रहे हैं, क्योंकि इन्द्रियां बाहर खुलती हैं। आंख दूसरे को देखती है, कान दूसरे को सुनते हैं, नाक दूसरे की गंध लेती है, सब कुछ बाहर से जुड़ा है, लेकिन अपने आप को ही भुला बैठे, तो बाहर क्या करोगे? आंख सब कुछ देख लेती है, लेकिन अपने आप को नहीं देख पाती, कान सब कुछ सुन लेता है, लेकिन अपनी अन्तर की आवाज अनसुनी रह जाती है। अगर परमात्मा को खोजना और पाना भी चाहते हो तो भीतर की यात्रा करनी होगी। इसमें आंख, कान, नाक, गला सहायक नहीं होंगे। यह यात्रा अतीन्द्रिय होती है। अन्तर के तत्व का दर्शन कर पायेगी अन्तर की आंख। जिसे शिव का तीसरा नेत्र कहा गया है, महावीर ने प्रज्ञा का नेत्र कहा।

प्रकृति बाहर है, परमात्मा भीतर है। आखिर जो जहां होगा उसे वहीं तलाश जायेगा। प्रकृति बाहर है, उसकी तलाश बाहर करो। परमात्मा भीतर है, उसे भीतर ढूँढ़ो। संसार बाहर है, उसे बाहर ढूँढ़ो। समाधि भीतर है, उसे भीतर देखो। लोग विपरीत चलते हैं, अन्तर में संसार को बसाते हैं, बाहर समाधि और सिद्धत्व खोजते हैं। जो जहां है उसे वहीं देखना चाहिए। सुई अगर कमरे में खोई है, तो वहीं मिलेगी चाहे वहां अंधेरा ही क्यों न हो। कमरे में खोई हुई सुई, कभी छत पर नहीं मिलेगी। उल्टी यात्रा करने से क्या फायदा, जाना है बम्बई और बैठ रहे हो 'कालका मेल' में, गंतव्य आखिर कैसे मिलेगा।

पर से जुड़ने के लिए आधार चाहिये। जैसे बिना इन्द्रियों के प्रकृति से सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता, वैसे ही इन्द्रियातीत हुए बिना परमात्मा से सम्बन्ध नहीं किया जा सकता। दूसरे से जुड़ने के लिए आधार चाहिये, लेकिन अपने आप से जुड़ने के लिये? वहां किसी आधार की आवश्यकता नहीं है। कमरे में बैठे हो, अंधेरा है, अगर किसी भी वस्तु को ढूँढ़ना हो तो प्रकाश की आवश्यकता होगी, अगर अपने आपको ढूँढ़ना हो तो? अंधेरे में भी स्वयं का पता रहता है कि मैं हूं।

आंख बाहर खुलती है, इसलिये हम उसे भी बाहर ढूँढ़ रहे हैं, जो बाहर है ही नहीं। छोटे दुःख को मिटाने की तरकीब बड़ा दुःख है,

जैसे कोई बच्चा फोड़े के दर्द से कराह रहा है, इसी बीच चलते हुए गिर जाये, हाथ की हड्डी टूट जाये तो बच्चा फोड़े के दर्द को भूल जायेगा और हड्डी का दर्द उस पर प्रभावी हो जायेगा। ठीक ऐसे ही चेतन पर जड़ प्रभावित है। आत्मा पर पुद्गल प्रभावित है। चले थे परमात्मा को ढूँढ़ने, फोड़े का इलाज कराने, संसार में फँस गये, परमात्मा को भूल गये, हड्डी टूट गई, फोड़े को भूल गये।

इंसान बाहर की दौड़ में लगा है। कितने लोग ऐसे हैं जो परमात्मा को या अपने आप को पाना चाहते हैं। कहने में भले ही कह देंगे कि हम परमात्मा का दर्शन करना चाहते हैं, लेकिन मायाजाल के सामने परमात्मा भी गौण हो जाता है। एक ओर लाख रुपये मिलते हैं, दूसरी ओर परमात्मा मिलता हो, तो लोग लाख की ओर लपकेंगे, परमात्मा की ओर नहीं। भले ही जिन्दगी भर कहते रहें, मुझे परमात्मा का दर्शन करना है, लेकिन जब किसी ने कहा, चलो परमात्मा दिखा दू तो कहने लगे, ठहरो, लड़का बाहर गया है, वह आ जाये, उसे दुकान संभलवा कर चलता हूँ। आसक्ति जड़ की, लगाव पुद्गल का, सम्मोहन संसार का, चेतन का सब कुछ तो जड़ के लिए न्यौछावर कर बैठे हो।

बाहर की दौड़ बाहर के उपकरणों से तादात्म्य बनाती है, अन्तर की दौड़ अन्तर से। तलाश कर रहे हो अन्तर की और दौड़ रहे हो बाहर। ठीक उल्टी यात्रा। और तो और व्यक्ति अपनी शक्ल भी आइने में देखकर पहचान पाता है? अपनी पहचान का भी माध्यम कोई और? दूसरे के द्वारा स्वयं को अच्छा कहे जाने पर, स्वयं को अच्छा समझ लेते हैं। स्वयं का परिचय भी दूसरों पर आधारित हो गया है।

मैंने सुना है, पोपटराम अपने दो दोस्तों के साथ तीर्थयात्रा पर निकला। नाम की तीर्थयात्रा थी, निकला तो घूमने-फिरने ही था। एक दिन चलते-चलते जब कोई गांव न आया, सांझ ढल गई तो जंगल में ही रात्रि विश्राम करना पड़ा। तीनों ने निर्णय किया कि प्रत्येक तीन-तीन घंटे पहरा देगा, दो सोयेंगे, एक जागेगा। पोपटराम के मित्रों में एक नाई था, दूसरा गंजा। सबसे पहले नाई पहरा देने के लिये खड़ा हुआ, शेष दोनों सो गये। नाई अकेला खड़ा-खड़ा तंग आ गया और कुछ न सुझा। वह पोपटराम के पास गया और उसका सिर मुंडन करने लगा।

जब तीन घंटे बीत गये, नाई ने पारी बदलने के लिये पोपटराम को उठाया। उसने सिर पर हाथ फेरा, बोलने लगा, मूर्खतू ये क्या कर रहा है, तुमने मेरी जगह उस गंजे को उठा दिया है।

लोग अपनी पहचान भी बाहर से कर रहे हैं, औरों से कर रहे हैं। और इस बाहर की खोज में परमात्मा को भी बाहर ही खोजने लगे हैं। अमृत भीतर है, खोज बाहर चल रही है। भीतर की तो स्मृति भी नहीं है। दशों दिशाओं की तो सभी चर्चा किया करते हैं, लेकिन ग्यारहवीं की चर्चा कोई नहीं करता। मेरा इशारा इसी दिशा की ओर है। इसे अपनी दिशा कहें। कोई कहता है परमात्मा उत्तर में है, कोई कहता है दक्षिण में है, कोई कहता है पूर्व या पश्चिम में है, हकीकत में तो परमात्मा वहां है, जहां सभी दिशाएं गौण हो जाती हैं, वह है अन्तर-दिशा। जो जिस दिशा में है उसकी खोज उधर ही होनी चाहिए। गंगा का

मूल उत्स खोजने के लिए अगर व्यक्ति दक्षिण की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है तो उसकी खोज पूरी न होगी। गंगा का उत्स खोजना चाहते हो, तो वह तुम्हारे भीतर है, हमारी गंगोत्री हमारे भीतर है, जहां से बही है जीवन की धारा। माता-पिता से हमें जन्म मिला है, जीवन नहीं। चाहे सौ नाले गंगा में आकर मिल जायें, लेकिन वे गंगा के आदि स्रोत नहीं हो सकते। गंगा का आदि स्रोत तो गोमुख ही कहलायेगा।

आज हम पूरे शरीर में हैं। इससे पहले छोटे शरीर में थे। उससे पहले और भी छोटे शरीर में थे। जब मां के पेट में थे तब और भी छोटे थे। कभी ऐसा भी था जब मां के पेट में मात्र अणु थे। अणु से पूर्व के इतिहास को जानना चाहोगे? अणु से पूर्व भी हमारा अस्तित्व था। हम एक अदृश्य आत्मा थे। ये जितना, जो कुछ दिखाई दे रहा है यह अणु और परमाणु की विराटता है। कल्पना की जा सकती है बिना बीज के क्या वृक्ष का अस्तित्व हो पायेगा? अगर अपने जीवन के अतीत की ओर झांकोगे, तो स्वयं को छोटे से छोटा, अन्त में अदृश्य पाओगे और मूल स्रोत तो आखिर हम ही हैं और जिस दिन यह अणु और अदृश्य उड़ जायेगा, इस दिन वह सब कुछ, जो आज देख रहे हो एक पिंजरा भर होगा, खाली पिंजरा जिसे मुर्दा कहकर फूंक दिया जायेगा, दफना दिया जायेगा।

लोग आत्मा की पहचान नहीं कर पाते और सारी जिन्दगी संसार के लिए खो देते हैं और जैसे खुद हैं वैसे ही अपना परमात्मा बना लेते हैं। जो शाकाहारी हैं, उसने अपना ईश्वर शाकाहारी बना लिया और जो मांसाहारी हैं, उसने अपना ईश्वर मांसाहारी बना लिया। परमात्मा पर भी अपनी आकृति का आरोपण कर दिया। अगर संसार भर की जितनी मूर्तियां हैं, जितने ईश्वर के भेद-विभेद हैं, उनका निर्माण कार्य पशु-पक्षियों के हाथ में सौंप दिया जाता है तो जितने भगवान के चेहरे होते हैं, सब पशु-पक्षियों से मिलते-जुलते होते। पता नहीं ईश्वर ने इंसान को बनाया या नहीं, लेकिन इंसान ने तो अपना ईश्वर बना ही लिया। अपने ईश्वर को बाहर निर्मित न करें, अपने बनाये हुए परमात्मा की प्रार्थना न करें, क्योंकि वहां सारी-की-सारी प्रार्थनायें संसार की होंगी। अगर करनी है प्रार्थना तो उसकी करो, जिसने तुम्हें बनाया है। अन्यथा, ध्यान में भी बैठोगे तो वहां ध्यान में भी परमात्मा नहीं पति आयेगा, अगर माला गिनने बैठोगे तो भगवान नहीं भोग आएंगे।

मैं आबू में था। ध्यान-साधना के लिए वहां तीन माह की स्थिरता थी, काफी विदेशी लोग भी ध्यान का अभ्यास करने आते थे। एक दिन, इटली का एक जोड़ा हमारे पास बैठा था। दोनों ने कहा, हम इटली में भी रोज आधा घंटा ध्यान करते थे। हम दोनों की सर्विस अलग-अलग स्थानों पर है तथा 200 कि.मी. की दूरी पर है।

मैंने कहा, सो तो ठीक है, पर जरा यह बतायें कि आप दोनों आधे घंटे तक ध्यान में क्या करते हैं? पत्नी ने अपने पति की ओर इशारा करते हुए कहा, ये मुझे याद करते हैं और मैं इन्हें याद करती हूँ।

इस घटना पर हंसी भी आ सकती है, लेकिन यह एक की नहीं, सबके जीवन की आपबीती है। अब तक हमारी ओर से किया जाने

वाला ध्यान-योग, ऐसे ही हुआ है। दिखने में लगता है, व्यक्ति परमात्मा का चिन्तन कर रहा है, पर वहां परमात्म-चिन्तन के नाम पर पति-पत्नी का चिन्तन चलता है।

परमात्म तत्त्व की खोज आवश्यक है, पर यह खोज बाहर की खोज नहीं, अपितु भीतर की खोज हो। परमात्म खोज के नाम पर अब तक जितनी यात्राएं की गयीं, वे सब बाहर की यात्राएं थीं और परमात्मा तो अन्तर-जगत में हैं। या यूं कहे तो जो बूढ़ रहा है, वही परमात्मा है। परमात्मा द्वारा परमात्मा की खोज की जा रही है। मैंने कहा, परमात्मा द्वारा परमात्मा की खोज, यानि अपने आप की खोज। इसे खोज भी न कहें, यह तो आत्म-बोध है, आत्म-दर्शन है। कुन्द-कुन्द ने तो ऐसे लोगों के हाथ से निर्वाण का अधिकार ही छीन लिया, जो आत्म-बोध और आत्मदर्शन से शून्य हैं। इसलिए मोक्ष प्राहुड़ में न परमात्मा की शरण स्वीकार की गयी है, न किसी देवी-देवता की। वहां कुन्द-कुन्द कहते हैं, 'अप्पाहू में शरण' आत्मा ही मेरा शरण है। इस दुनिया में कोई किसी का शरण भूत नहीं है। कोई किसी का नाथ नहीं है, व्यक्ति स्वयं ही अपना नाथ बनता है।

महावीर का दर्शन आत्म-दर्शन है। उनके सारे सूत्र आत्म-अनुभूति के लिए हैं। वे बहिरात्मपन से छुटकारा दिलाना चाहते हैं, अन्तरात्मा में आरोहण कराना चाहते हैं और परमात्म-ध्यान करवाना चाहते हैं।

आत्मा को परमात्मा से कभी अलग नहीं किया जा सकता। दोनों एक साथ हैं। भला कपूर से खुशबू को कभी अलग निकालकर दिखलाया जा सकता है। जैसे तिल में तेल, दूध में मक्खन घुले-मिले रहते हैं वैसे ही शरीर में आत्मा और परमात्मा रहते हैं। इसलिए महावीर ने परमात्मा के ध्यान की प्रेरणा कम दी, आत्म-ध्यान पर विशेष बल दिया। 'जो ज्ञायही अप्पाणम् परम समोहि हवे तस्स' जो आत्मा का

ध्यान करता है, क्योंकि आत्मा पर से मुक्त है। जहां स्व में वास होता है वहां समाधि होती है। आत्मा न शरीर है, न मन है, न वाणी है। जड़ पुद्गलों से भिन्न जो पदार्थ है, वह आत्मा है।

महावीर परमात्म तत्त्व को उजागर करने का सूत्र दे रहे हैं। 'अप्पो वीय परमप्पो' आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। श्रमण संस्कृति को छोड़कर सभी धर्म-दर्शन अपने आपको परमात्मा में खो देने की प्रेरणा देते हैं। लेकिन महावीर स्वयं परमात्मा होने का पाठ पढ़ाते हैं। इसलिए जब राम और कृष्ण धरती पर अवतरण लेते हैं तब उसे अवतरण कहा जाता है। वे ईश्वर से इंसान बनते हैं। जबकि महावीर का दर्शन इंसान से ईश्वर की यात्रा है। वहां ईश्वर इंसान बनकर अपनी ऐश्वर्य्य शक्ति नहीं दिखाता, अपितु इंसान अपने भुजाओं के बल पर यात्रा करता है- गंगासागर से गंगोत्री की ओर, तलहटी से शिखर की ओर। यह सत्य की खोज है, शिखर की यात्रा है और उद्गम तक पहुंचना है। इस यात्रा में वे ही लोग सफल हो पायेंगे जो महावीर और बुद्ध की तरह कृत संकल्प होंगे, तेनसिंह और हिलेरी की तरह अपनी भुजाओं पर विश्वस्त होंगे।

इसलिए जिन दर्शन में अवतरण नहीं होता, ऊर्ध्वारोहण होता है। गंगासागर से गंगोत्री की यात्रा होती है। गंगोत्री से गंगासागर की यात्रा तो मुर्दा भी कर सकता है। शिखर से तलहटी तक पत्थर भी लुढ़क सकता है। लेकिन गंगासागर से गंगोत्री की यात्रा वे ही लोग कर पाएंगे जो चेतना के धनी हैं। तलहटी से शिखर तक वे ही लोग पहुंच पाएंगे जिनकी चैतन्य शक्ति उजागर है। इसलिये महावीर इंसान को ईश्वर बना रहे हैं, आत्मा को परमात्मा बना रहे हैं, नर को नारायण और भक्त को भगवान बना रहे हैं।

भामाशाह कावड़िया

भामाशाह कावड़िया मेवाड़ के महाराणा प्रताप और अमरसिंह (प्रथम) के प्रधान मंत्री थे। स्वाधीनता के दिव्य पुजारी महाराणा प्रताप ने अपने देश की रक्षा के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर दिया था। इस कार्य में उसकी प्रजा उसके प्रधान एवं अन्य लोग भी सहायक थे।

भामाशाह के पिता भारमल ओसवाल जाति के कावड़िया गोत्र के थे। वे मूलरूप से अलवर में रहते थे। इनकी योग्यता, लगनशीलता देखकर महाराणा सांगा ने इन्हें रणथंभोर दुर्ग में लगा दिया था। महाराणा उदय सिंह के समय में वे वहां किलेदार नियुक्त हो गये। कुछ समय बाद यह परिवार चित्तौड़ आ गया। चित्तौड़ में महाराणा प्रताप ने भामाशाह को अपना प्रधान बनाया। उसके द्वारा जारी किये गये कई दान पत्रों में भामाशाह का नाम भी अंकित है। हल्दीघाटी के युद्ध में भामाशाह ने अपना अपूर्व शौर्य प्रदर्शित किया था। शाहबाजखां द्वारा कुंभलगढ़ आदि क्षेत्र जीतने के बाद प्रताप बहुत ही परेशान हो गये। उन्होंने एक बार मेवाड़ छोड़ने का निर्णय ले लिया। उस समय भामाशाह ने अपना सारा धन लाकर महाराणा के सामने रख दिया। उसने कहा कि मेरा यह धन देश की रक्षा के लिए काम आवे इससे अच्छा मेरा क्या काम होगा। लुंका गच्छीय पदावली जिसे 17वीं शताब्दी में लिखा गया था, और इसे नागपुरीय लुंकागच्छीय पदावली के नाम से जाना जाता है, में भामाशाह के परिवार का विस्तार से उल्लेख है। इसमें लिखा है कि भामाशाह ने लुंकागच्छ के प्रचार के लिए जी तोड़कर कोशिश की। आज भीलवाड़ा, चित्तौड़ एवं राजसमन्द जिले में कोई भी मन्दिर मानने

वाला जैन श्रावक नहीं है। मैंने अपने गांव गंगापुर (भीलवाड़ा) में रहते हुए लगभग 25 वर्ष की उम्र तक किसी बिना मुंहपत्ती वाले जैन साधु को नहीं देखा था। मैं पहली बार जब सुमेरपुर गया तब वहां बिना मुंहपत्ती वाले जैन साधुओं को देखा तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने वहां लोगों से पूछा कि इनके मुंहपत्ती क्यों नहीं है तो उन्होंने बताया कि आप शायद मेवाड़ से आये हो। यहां तो मुंहपत्ती वाला कोई साधु नहीं है। मेवाड़ में बाईस सम्प्रदाय के फैलाव का मुख्य श्रेय भामाशाह को है। इनके निरन्तर प्रयास से ही यह सम्प्रदाय बड़ी तेजी से फैला। बाईस सम्प्रदाय के कई साधुओं जिन्हें इन्होंने अपना आश्रय दिया था, मेवाड़ के एक-एक गांव में घूम-घूम कर अपना प्रचार किया था। आज मेवाड़ की स्थिति यह है कि यहां सैकड़ों प्राचीन जैन मन्दिर हैं। कई सुन्दर कलापूर्ण मूर्तियां हैं किन्तु इनके ताले बंद रहते हैं। एक समय मन्दिर की पूजा कोई पुजारी आकर के करता है। इन्हें पूजा के बाद बंद कर दिया जाता है। यह सब भामाशाह के निरन्तर प्रयास के कारण ही हुआ है।

भामाशाह और ताराचंद दो सगे भाई थे। भामाशाह मेवाड़ का प्रधान मंत्री रहा था और ताराचंद गोड़वाड़ प्रदेश का हाकिम। ताराचंद बड़ा ही कलाप्रेमी था। उसके साथ कई गायिकायें आदि भी सती हुई थीं। उसकी मृत्यु सादड़ी में वि.सं. 1654 में हुई थी। वहां एक शिलालेख भी लग रहा है। इसे मैंने कई वर्षों पूर्व प्रकाशित कर दिया है (मरूधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित)। इस शिलालेख के प्रारम्भ में भारमल एवं उसकी पत्नी कर्पूर देवी का उल्लेख है। उसके द्वारा सादड़ी (गोड़वाड़) में एक बावड़ी और बाग बनाने का भी उल्लेख है। यह स्थान घाणेरव के मार्ग पर है। उसने कई ग्रन्थों की सादड़ी में प्रतिलिपि करायी थी। इनमें गोरबादल चौपाई बहुत सुप्रसिद्ध है। ताराचंद को आज भी सादड़ी में बहुत याद किया जाता है।

भामाशाह की मृत्यु वि.सं. 1656 माघसुदि 11 के दिन इक्कावन वर्ष की आयु में हुई थी। “वीर विनोद” नामक ग्रन्थ में लिखा है कि भामाशाह ने कई बड़ी एवं छोटी लड़ाइयां लड़ी थीं। उसके बाद उसका पुत्र जीवाशाह मेवाड़ का प्रधान मंत्री रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवाशाह के बाद इस परिवार को वह सम्मान नहीं दिया गया, जो भामाशाह को मिला था। लेकिन वि. सं. 1912 में ओसवालों की न्यात में उदयपुर में इन्हें पहले तिलक करने का आदेश महाराणा स्वरूपसिंह ने दिया था। इस सम्बन्ध में एक परवाना दिया जिसका अंश इस प्रकार से है—

“स्वस्ति श्री उदयपुर सुभे सूथानेक महाराणा श्री स्वरूप सिंह जी आदेशात कावड़िया जैचंद कुणनो, वीरचंद कस्य अग्रंच थारा, बड़ावा भामों कावड़ियां है राज म्हाै साम ध्रमासुं काम चाकरी करी जी की मरजाद से ठेठ सू म्यांह महाजनां की जातम्ह बाबनी तथा चोका का जीमण वा सीम पूजा होवे जीम्हें पहले तलक थारे होतो हो सो अगला बेणीदास नगरसेठ करसो कयों अर वे दर्याफूत तलक थारे नहीं करबा दीदो। आबरू

साल सी दीखी सो नगे कर सेठ प्रेमचंद ने हुकम की दो सो वे भी अरज करी आ न्यात म्हे हक सर मालुम हुई सो अब तलक माफक दस्तूर के थे थारे करायो जास्यो आगे सू थारे वंस को होवेगा जीके तलक हुवा जावेगा पंचाने बी हुकम कर दी यो है सो पेली तलक थारे होवेगा प्रधानजी मेहता सेरसीध सं. 1912 जेठ सुदि 15 बुधे”

यह दानपत्र बहुत ही महत्व का है। इसमें यह वर्णित है कि न्यात के सम्मेलन में जब सब पंच इकट्ठे होवें तो पहले पहले तिलक भामाशाह के वंशज कावड़िया गोत्रवालों के किया जायेगा। इसके बाद अन्य लोगों को। इसमें यह लिखा है कि पहले से कावड़ियों के ही तिलक होता आया था किन्तु महाराणा स्वरूप सिंह के समय नगर सेठ ने इसमें आपत्ति की और उसने अपने पहले तिलक लगाने को कहा। इस पर कावड़ियों ने महाराणा से शिकायत की, इस पर यह निर्णय दिया गया।

बाईस सम्प्रदाय की पट्टावली जिसमें भामाशाह का वर्णन नागौर के लुंकाकच्छ की है। इसमें वर्णित है कि देपागर नामक एक साधु ने भामाशाह को अपने धर्म के प्रति आस्थावान बनाया है इसके बाद भामाशाह ने इसके प्रचार के लिए दिन-रात पूरी कोशिश की। जगह-जगह और जिलों के हाकिमों को निर्देश दे दिये। इससे इसके प्रचार में महत्वपूर्ण सफलता मिली। राजस्थान में या भारत के किसी राज्य में ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें राज्य के एक मंत्री ने किसी धर्म प्रचार के लिए ऐसा महत्वपूर्ण कार्य किया हो।

अतः भामाशाह का नाम देश भक्ति के साथ धर्म प्रचार की दृष्टि से अद्वितीय है।

एस-3-ए, सत्य नगर झोरवाड़ा, जयपुर (राज.)

जैनधर्म में सामाजिक चिन्तन

जैनधर्म निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा का धर्म है। सामान्यतया उसे सामाजिक न मानकर व्यक्तिवादी धर्म माना जाता है, किन्तु जैनधर्म को एकान्तरूप से व्यक्तिवादी धर्म नहीं कहा जा सकता। यह सत्य है कि उसका विकास निवृत्तिमार्गी संन्यासप्रधान श्रमण परम्परा में ही हुआ है किन्तु मात्र इस आधार पर उसे असामाजिक या व्यक्तिवादी धर्म मानना, एक भ्रांति ही होगी। जीवन में दुःख की यथार्थता और दुःखविमुक्ति का जीवनादर्श यह सम्पूर्ण श्रमण परम्परा का “अर्थ” और “इति” है। किन्तु दुःख और दुःखविमुक्ति के— ये सम्प्रत्यय मात्र वैयक्तिक नहीं हैं, उनका एक सामाजिक पक्ष भी है। दुःख विमुक्ति का उनका आदर्श वैयक्तिक दुःखों की विमुक्ति नहीं है अपितु सम्पूर्ण प्राणिजगत् के दुःखों की विमुक्ति है और यही उन्हें समाज से जोड़ देता है। श्रमणधारा में धर्म और नीति को अवियोज्य माना गया है और धर्म एवं नीति की यह अवियोज्यता भी उसमें सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट कर देती है।

भारतीय चिन्तन में सामाजिक चेतना

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन को तीन युगों में बांटा जा सकता है— (1) वैदिक युग (2) औपनिषदिक युग (3) जैन और बौद्ध युग। सर्वप्रथम जहां वैदिक युग में “संगच्छध्वं संवद्वं संवोमनांसि जानताम्” अर्थात् तुम मिलकर चलो, तुम मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें— इस रूप में सामाजिक चेतना को विकसित करने का प्रयत्न किया गया, तो वहीं औपनिषदिक

युग में उस सामाजिक एकत्व की चेतना के लिए दार्शनिक आधार प्रस्तुत किये गये। ‘ईशावास्योपनिषद्’ में ऋषि कहता है कि जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है वह अपनी इस एकत्व की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता^१। औपनिषदिक चिन्तन में सामाजिकता का आधार यही एकत्व की अनुभूति रही है। जब एकत्व की दृष्टि विकसित होती है तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं क्योंकि “पर” रहता ही नहीं, अतः किससे घृणा या विद्वेष किया जाये। घृणा, विद्वेष आदि परायेपन के भाव में ही सम्भव होते हैं। जब सभी “स्व” या आत्मीय हों तो घृणा या विद्वेष का अवसर ही कहां रह जाता है। इस प्रकार औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना को एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया गया है। साथ ही सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर सामूहिक-सम्पदा का विचार प्रस्तुत किया गया है। ईशावास्योपनिषद् में सम्पूर्ण सम्पत्ति को ईश्वरीय सम्पदा मानकर उस पर से वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया गया और व्यक्ति को यह कहा गया कि वह जागतिक सम्पदा पर दूसरों के अधिकारों को मान्य करके ही उस सम्पत्ति का उपभोग करे। इस प्रकार “तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा” के रूप में उपभोग के सामाजिक अधिकार की चेतना को विकसित किया गया^२। इसी तथ्य की पुष्टि महाभारत में भी की गई। उसमें अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति पर अपना अधिकार मानने वाले को स्पष्टतः चोर कहा गया।^३ इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक और औपनिषदिक युग में सामाजिकता के लिए न केवल प्रेरणा दी गई अपितु एक दार्शनिक आधार भी प्रस्तुत किया गया है।

जैनधर्म में सामाजिक चेतना

जहां तक जैन और बौद्ध परम्पराओं का प्रश्न है उनमें सामाजिक चेतना का आधार “एकत्व” की अनुभूति न होकर “समत्व” की अनुभूति रही है। यद्यपि आचारांग में कहा गया है कि जिसे तू दुःख या पीड़ा देना चाहता है, वह तू ही है।^४ इसमें यह फलित होता है कि आचारांगसूत्र भी एकत्व की अनुभूति पर सामाजिक या अहिंसक चेतना को विकसित करता है फिर भी जैन और बौद्ध परम्परा में सामाजिक चेतना एवं अहिंसा की अवधारणा के विकास का आधार सभी प्राणियों के प्रति समभाव या समता की भावना रही। उनमें दूसरों की जिजीविषा और सुख-दुःखानुभूति आत्मवत् सर्वभूतेषु के आधार पर समझने का प्रयत्न किया गया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया। यद्यपि जैन और बौद्धधर्म निवृत्तिप्रधान रहे, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे समाज विमुख थे। वस्तुतः भारत में यदि धर्म के क्षेत्र में संवीय साधना-पद्धति का विकास किसी परम्परा ने किया तो वह श्रमण परम्परा ही थी। जैनधर्म के अनुसार तो तीर्थंकर अपने प्रथम प्रवचन में ही चतुर्विध संघ की स्थापना करता है। उसके धर्मचक्र का प्रवर्तन संघ-प्रवर्तन से ही प्रारम्भ होता है।^५ यदि महावीर में लोकमंगल या लोककल्याण की भावना नहीं होती तो वे अपनी वैयक्तिक साधना की पूर्णता के पश्चात् धर्मचक्र

का प्रवर्तन ही क्यों करते? प्रश्नव्याकरणसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि “तीर्थंकर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों की रक्षा और कल्याण के लिए है।^{१५} पांचों महाव्रत सब प्रकार से लोकहित के लिए हैं।^{१६} हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और संग्रह (परिग्रह) ये सब वैयक्तिक नहीं, सामाजिक जीवन की ही दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। जैन साधना-परम्परा में पंचव्रतों या पंचशीलों के रूप में जिस धर्म मार्ग का उपदेश दिया गया, वह मात्र वैयक्तिक साधना के लिए नहीं अपितु सामाजिक जीवन के लिए था। क्योंकि हिंसा का अर्थ है किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है किसी दूसरे की शक्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना। इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या समाज जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ रह जाता है? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के जो जीवनमूल्य जैन दर्शन ने प्रस्तुत किये वे पूर्णतः सामाजिक मूल्य हैं और उनका उद्देश्य सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि है। लोकमंगल और लोककल्याण यह श्रमण-परम्परा का और विशेष रूप से जैन परम्परा का मूलभूत लक्ष्य रहा है। आचार्य समन्तभद्र ने महावीर के धर्मसंघ को सर्वोच्च तीर्थ कहा है, वे लिखते हैं कि— “सर्वपदाः अन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव” - हे प्रभो! आपका यह धर्मतीर्थ सभी प्राणियों के दुःखों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण करने वाला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में निवृत्तिमार्ग को प्रधानता देकर भी उसे संधीय साधना के रूप में लोक कल्याण का आदर्श देकर सामाजिक बनाया है। जैन आगमों में कुलधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म और गणधर्म के जो उल्लेख हैं, वे उसकी सामाजिक सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं।^{१७} पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार सुमधुर और समायोजनपूर्ण बन सकें और सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें किस प्रकार से दूर किया जा सके, यही जैनदर्शन की सामाजिक दृष्टि का मूलभूत आधार है। जैनदर्शन ने आचारशुद्धि पर बल देकर व्यक्ति सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया है।

व्यक्ति और समाज : जैन दृष्टिकोण

सामाजिक दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों के सन्दर्भ में जैनों का दृष्टिकोण समन्वयवादी और उदार रहा है। आगे हम क्रमशः उन सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में जैन दृष्टिकोण पर विचार करेंगे—

समाजदर्शन की दृष्टि से व्यक्ति और समाज में किसे प्रमुख माना जाय, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। व्यक्तिवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि व्यक्ति ही प्रमुख है, समाज व्यक्ति के लिए बनाया गया है। व्यक्ति साध्य है, समाज साधन है अतः समाज को वैयक्तिक हितों पर आघात करने या उन्हें सीमित करने का कोई अधिकार नहीं है। दूसरी ओर समाजवादी दार्शनिक समाज को ही सर्वस्व मानते हैं। उनके अनुसार सामाजिक कल्याण ही प्रमुख है, समाज से पृथक् व्यक्ति की सत्ता कुछ

है ही नहीं। वह जो कुछ भी है समाज की निर्मिति है। अतः सामाजिक कल्याण के लिए वैयक्तिक हितों का बलिदान किया जा सकता है। इन दोनों प्रकार के ऐकान्तिक दृष्टिकोणों को जैनदर्शन अस्वीकार करता है। वह यह मानता है कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर अपना अस्तित्व ही खो देते हैं। उसके अनुसार दार्शनिक दृष्टि से व्यक्तिरहित सामान्य (समाज) और सामान्यरहित व्यक्ति दोनों ही अयथार्थ हैं।^{१८} वे सामान्य (Universal) और विशेष (Individual) न्यायवैशेषिकों के समान स्वतन्त्र तत्व नहीं मानते हैं। मनुष्यत्व नामक सामान्य गुण से रहित कोई मनुष्य नहीं हो सकता और बिना मनुष्य (व्यक्ति) के मनुष्यत्व की कोई सत्ता नहीं होती। विशेषरूप से जब हम मनुष्य के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो पाते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः सामाजिकता के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं है। मनुष्य को अपने जैविक अस्तित्व से लेकर भाषा, सभ्यता, संस्कृति और जीवनमूल्य आदि जो कुछ मिले हैं वे समाज से मिले हैं। यदि मनुष्य से उसके सामाजिक अवदानों को पृथक् कर दिया जाय तो उसका कुछ अस्तित्व ही नहीं रहेगा। दूसरी ओर यह भी सही है कि बिना मनुष्य के मनुष्यत्व का कोई अर्थ नहीं है। मनुष्य से पृथक् मनुष्यत्व नहीं होता, ठीक यही बात समाज के सन्दर्भ में भी है। समाज का अस्तित्व व्यक्तियों पर निर्भर है। व्यक्तियों के अभाव में समाज संभव ही नहीं है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि व्यक्ति जो कुछ है वह समाज के कारण है। इस प्रकार जैनदर्शन में न तो निरपेक्ष रूप से व्यक्ति को महत्व दिया गया है और न ही समाज को। जैनधर्म की अनेकान्तिक दृष्टि का निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति समाज-सापेक्ष है और समाज व्यक्ति-सापेक्ष। जो लोग व्यक्ति निरपेक्ष समाज अथवा समाज निरपेक्ष व्यक्ति की बात करते हैं, वे दोनों ही यथार्थ से अपना मुख मोड़ लेते हैं। सामान्यरूप से तो सभी भारतीय दर्शन और विशेष रूप से जैन दर्शन यह मानता है कि व्यक्ति और समाज में से किसी एक को ही सब कुछ मान लेना एक भ्रांत धारणा है। यह ठीक है कि सामाजिक कल्याण के लिए व्यक्ति के हितों का बलिदान किया जा सकता है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सही है कि सामूहिक हित भी वैयक्तिक हित से भिन्न नहीं है। सबके हित में व्यक्ति का हित तो निहित ही है। व्यक्ति में समाज और समाज में व्यक्ति अनुस्यूत है। जैन परम्परा में संघ हित को सर्वोपरित्व दी गई है। इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक कथा है कि भद्रबाहु ने अपनी वैयक्तिक ध्यान-साधना के लिए संघ के कुछ साधुओं को पूर्व-साहित्य का अध्ययन करवाने की मांग को ठुकरा दिया। इस पर संघ ने उनसे पूछा कि वैयक्तिक साधना और संघहित में क्या प्रधान है? यदि आप संघहित की उपेक्षा करते हैं तो आपको संघ में रहने का अधिकार भी नहीं है। आपको बहिष्कृत किया जाता है— अन्त में भद्रबाहु को संघहित को प्राथमिकता देनी पड़ी।^{१९} यद्यपि समाज के हित के नाम पर आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों को समाप्त नहीं किया जा सकता। जैन परम्परा में कहा गया है कि आत्महित करना चाहिए और यदि शक्य हो तो लोकहित भी

करना चाहिए और जहाँ आत्महित और लोकहित में नैतिक विरोध का प्रश्न हो वहाँ आत्महित को ही चुनना पड़ेगा।^{१३} यद्यपि हमें स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ आत्महित का तात्पर्य वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति नहीं अपितु आध्यात्मिक मूल्यों का संरक्षण है। वस्तुतः वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों ही मानवीय अस्तित्व के अनिवार्य अंग हैं। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले ने कहा था— “मनुष्य मनुष्य नहीं है यदि वह सामाजिक नहीं है और यदि वह मात्र सामाजिक है तो पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों का अतिक्रमण करने में है।”^{१४} किन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि जैनदर्शन अपनी अनेकांतिक दृष्टि के कारण मनुष्य को एक ही साथ वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही मानता है।

राग जोड़ता भी है और तोड़ता भी है

यह ठीक है कि जब मनुष्य में राग तत्त्व विकसित होता है तो वह दूसरों से जुड़ता है। लेकिन स्मरण रखना चाहिए कि दूसरों से जुड़ने का अर्थ है कहीं से कटना। क्योंकि जो किसी से जुड़ता है तो कहीं से कटता अवश्य है। राग का तत्त्व व्यक्ति के “स्व” की सीमा का विस्तार तो अवश्य करता है किन्तु उसे दूसरों से अलग भी कर देता है। जब हम वैयक्तिक स्वार्थों से युक्त होते हैं तो हमारा “स्व” संकुचित होता है और जब हम सामाजिकता से जुड़ते हैं तो हमारे “स्व” का क्षेत्र विकसित होता है। किन्तु जब तक हम अपने और पराये के भाव का अतिक्रमण नहीं कर पाते हैं तब तक हमारा “स्व” या आत्मा पूर्ण नहीं बन पाता है। जैनों के अनुसार हमारे जीवन में जो भी टूटन है, जो भी सीमाएं हैं और जो भी मेरे-पराये का भाव है, ये सभी राग और द्वेष के तत्त्वों के कारण हैं। जब तक हम मेरा देश, मेरी जाति, मेरा धर्म - इन “मेरे” के घेरों से ऊपर नहीं उठते, दूसरे शब्दों में मेरे-तेरे के घेरों का अतिक्रमण जब तक नहीं कर जाते तब तक सही अर्थों में सामाजिक भी नहीं बन पाते हैं।^{१५} मेरे और पराये की मनःस्थिति में हम अपने आपको किन्हीं शृंखलाओं में जकड़ा हुआ ही पाते हैं। जैनधर्म की साधना वीतरागता की साधना है, वह अनिवार्य रूप से स्व की संकुचित सीमा को तोड़ना है और अपने और पराये की इस संकुचित सीमा का अतिक्रमण करना असामाजिक होना नहीं है। जैनधर्म मुख्यतया इस बात पर बल देता है कि हम एक स्वस्थ सामाजिकता का विकास करें और यह स्वस्थ सामाजिकता राग के आधार पर नहीं बल्कि राग का अतिक्रमण करके ही की जा सकती है।

सामाजिकता का आधार रागात्मकता या विवेक ?

सम्भवतः यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जैनदर्शन राग को समाप्त करने की बात करता है किन्तु राग के अभाव में सामाजिक जीवन से जोड़ने वाला तत्त्व क्या होगा ? यदि अपनेपन और मेरेपन का भाव न हो तो सारे सामाजिक बन्धन चरमरा कर टूट जाएंगे। यह रागात्मकता ही है जो हमें एक-दूसरे से जोड़ती है और समाज का निर्माण करती है। किन्तु क्या वस्तुतः रागात्मकता हमारे सामाजिक संबंधों का यथार्थ कारण हो सकती है ? जैसा कि पूर्व में कहा गया है— राग

यदि हमें कहीं जोड़ता है तो वह हमें कहीं से तोड़ता भी है। मेरी विनम्र मान्यता में यदि हम राग के आधार पर समाज को खड़ा करेंगे तो वह एक स्वार्थी व्यक्तियों का समाज ही होगा। वस्तुतः समाज की संरचना राग के आधार पर नहीं विवेक के आधार पर ही सम्भव है। यदि मैं दूसरों का मंगल या हितसाधन इसलिए करता हूँ कि वे मेरे अपने हैं। लेकिन मेरे अपनेपन का घेरा कितना ही बड़ा क्यों न हो मुझे एक स्वार्थी व्यक्ति से अधिक कुछ भी नहीं रहने देगा। जैन दार्शनिकों के अनुसार समाज जिस आधार पर खड़ा होता है वह राग नहीं, विवेक का तत्त्व है, कर्तव्यता का बोध है। हमें दूसरों का हित-साधन केवल इसलिए नहीं करना है कि वे हमारे अपने हैं अपितु इसलिए करना है कि दूसरों का हित-साधन करना यह मेरा स्वभाव है, स्वधर्म है, कर्तव्य है। तत्त्वार्थसूत्र में यह माना गया है कि जीवद्रव्य का स्वभाव परस्पर एक-दूसरे का उपकारक होना है।^{१६} व्यक्ति के जीवन की सार्थकता स्वहितों/स्वार्थों का बलिदान करके दूसरों का मंगल करने में ही है। पारस्परिक हित-साधन ही जीव का स्वभाव है और इसी से उसकी कर्तव्यता है। इसी के आधार पर हमारा मानव समाज खड़ा हुआ है। रागात्मकता हमें किसी से जोड़ती है तो कहीं से तोड़ती भी है, क्योंकि राग सदैव द्वेष के साथ-साथ जीता है। राग और द्वेष ऐसे जुड़वा शिशु हैं जो एक-दूसरे के साथ जीते और मरते हैं। राग के अभाव में द्वेष और द्वेष के अभाव में राग नहीं जी पाता है। अतः राग के आधार पर जो समाज खड़ा होगा उसमें अनिवार्य रूप से वर्णभेद और वर्णभेद होगा ही, किन्तु कर्तव्यबोध के आधार पर जो समाज खड़ा होगा वह वर्णभेद और वर्णभेद से ऊपर होगा।

वस्तुतः मानवीय विवेक के आधार पर ही कर्तव्यबोध की जो चेतना जागृत होती है वही हमारी सामाजिकता का आधार है। राग की भाषा अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा दायित्वबोध या कर्तव्य की भाषा है। जिस समाज में केवल अधिकारों की बात होती है वहाँ केवल विकृत सामाजिकता फलित होती है। स्वस्थ सामाजिकता का आधार अधिकार नहीं कर्तव्यबोध है। जैनधर्म जिस सामाजिक चेतना की बात करता है, वह मानवीय विवेक का अनिवार्य परिणाम है। विवेक से कर्तव्यता और सम-बुद्धि/समता जागृत होती है। जब विवेक हमारी सामाजिक चेतना का आधार बनता है, तब मेरे और तेरे की चेतना ही समाप्त हो जाती है। सम-बुद्धि से सभी आत्मवत् हैं, ऐसी दृष्टि विकसित होती है। यही आत्मवत् दृष्टि हमारी सामाजिकता का आधार है। जब तक आत्मतुल्यता का बोध नहीं आता है, तब तक न तो हिंसा, घृणा आदि की असामाजिक वृत्तियों से ऊपर उठा जा सकता है और न हम सही अर्थ में सामाजिक ही बन पाते हैं। जैनदर्शन में सामाजिकता का आधार यही आत्मतुल्यता का बोध है।

सामाजिक जीवन का बाधक तत्त्व : अहंकार

सामाजिक सम्बन्धों में व्यक्ति का अहंकार भी महत्वपूर्ण कार्य करता है। अहंकार के कारण शासन की इच्छा अथवा आधिपत्य की भावना जागृत होती है और सामाजिक जीवन में विषमता पैदा होती है।

शासक-शासित का भेद अहंकार के कारण ही खड़ा होता है। वर्तमान युग में बड़े राष्ट्रों में जो अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने की प्रवृत्ति है उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि ही है। जब व्यक्ति में आधिपत्य की वृत्ति दृढ़ होती है, तो वह दूसरों के अधिकारों का हनन करता है, परिणामतः दूसरों की स्वतन्त्रता खण्डित होती है। न केवल शासित और शासक का भेद अपितु जातिभेद और वर्णभेद के पीछे भी यही अहंकार का तत्व काम करता है। जब हम अपने कुल या जाति के अहंकार से युक्त होते हैं तो दूसरों को हीन समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिसका परिणाम जाति-संघर्ष या वर्ण-संघर्ष होता है।

जातिवाद का विरोध और सामाजिक समता

जैनधर्म अहंकार के उपशमन के साथ-साथ जातिवाद और वर्णवाद का स्पष्टरूप से विरोध करता है, वह कहता है कि किसी जाति में जन्म लेने मात्र से नहीं अपितु व्यक्ति का सदाचार और उसकी नैतिकता ही उसको श्रेष्ठ बनाते हैं। इस प्रकार जैनधर्म जातिगत श्रेष्ठता के सम्प्रत्यय का विरोध करता है। वह स्पष्टरूप से कहता है कि कोई व्यक्ति इस आधार पर ब्राह्मण नहीं होता कि वह किसी ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुआ है, अपितु वह ब्राह्मण इस आधार पर होता है कि उसका आचार और व्यवहार श्रेष्ठ है।^{१५} जैनदर्शन जातिगत श्रेष्ठता के स्थान पर आचारागत श्रेष्ठता को ही महत्व देता है आचारांग में स्पष्ट कहा गया है कि न तो कोई हीन है और न कोई श्रेष्ठ।^{१६} आज हम देखते हैं कि जातिगत आधारों पर अनेक सामाजिक संगठन बनते हैं लेकिन ऐसे सामाजिक संगठनों को जैनधर्म कोई मान्यता नहीं देता है। आज भी जैनसंघ में अनेक जातियों के लोग समान रूप से अपनी साधना करते हैं। मथुरा आदि के प्राचीन अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि अनेक जिन-मन्दिर और मूर्तियां गंधी, तेली, स्वर्णकार, लोहकार, मल्लाह, नर्तक और गणिकाओं द्वारा निर्मित हैं। वे सभी जातियां और वर्ग जो हिन्दू धर्म में वर्णव्यवस्था की कठोर रूढ़िवादिता के कारण निम्न मानी गई थीं, जैनधर्म में समादृत थे।^{१७} हरिकेशीबल (चाण्डाल), मातंग, अर्जुन (मालाकार) आदि अनेक निम्न जातियों में उत्पन्न हुए महान् साधकों की जीवन गाथाओं के उल्लेख जैनागमों में मिलते हैं, जो इस तथ्य के सूचक हैं कि जैनधर्म में जातिवाद या ऊँच-नीच के भेद-भाव मान्य नहीं थे।^{१८} इस प्रकार जैनधर्म समाज में वर्णभेद और जातिभेद का विरोधी था। उसका उद्घोष था कि सम्पूर्ण मानव जाति एक है।^{१९}

सामाजिक जीवन की पवित्रता का आधार विवाह संस्था

सामाजिक जीवन का प्रारम्भ परिवार से ही होता है और परिवार का निर्माण विवाह के बन्धन से होता है। अतः विवाह-संस्था सामाजिक दर्शन की एक प्रमुख समस्या है। विवाह-संस्था के उद्भव के पूर्व यदि कोई समाज रहा होगा तो वह भयभीत प्राणियों का एक समूह रहा होगा जो पारस्परिक सुरक्षा हेतु एक-दूसरे से मिलकर रहते होंगे। विवाह का आधार केवल यौन वासना की संतुष्टि ही नहीं है अपितु पारस्परिक आकर्षण और प्रेम भी है। यह स्पष्ट है कि निवृत्तिप्रधान संन्यासमार्गी जैन परम्परा में इस विवाह संस्था के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं मिलते

हैं। जैनधर्म अपनी वैराग्यवादी परम्परा के कारण प्रथमतः तो यही मानता रहा कि उसका प्रथम कर्तव्य व्यक्ति को संन्यास की दिशा में प्रेरित करना है इसलिए प्राचीन जैन आगमों में जैनधर्मानुकूल विवाह पद्धति के कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होते। प्राचीनकाल में बृहद् भारतीय समाज या हिन्दू समाज से पृथक जैनों की अपनी कोई विवाह-पद्धति रही होगी यह कहना भी कठिन है। यद्यपि यह सत्य है कि जैन धर्मानुयायियों में प्राचीनकाल से ही विवाह होते रहे हैं। जैन पुराण साहित्य में यह उल्लेख मिलता है कि ऋषभदेव से पूर्व यौगलिक काल में भाई-बहन ही युवावस्था में पति-पत्नी के रूप में व्यवहार करने लगते थे और एक युगल में पुरुष की अकाल मृत्यु हो जाने पर ऋषभ ने सर्वप्रथम विवाह-पद्धति का प्रारम्भ किया था।^{२०} पुनः भरत और बाहुबली की बहनों-ब्राह्मी और सुन्दरी द्वारा भी आजीवन ब्रह्मचारी रहने और अपने भाइयों से विवाह न करने का निर्णय लिये जाने पर समाज में विवाह व्यवस्था को प्रधानता मिली, किन्तु विवाह को धार्मिक जीवन का अंग न मानने के कारण जैनों ने प्राचीन काल में किसी जैन विवाह-पद्धति का विकास नहीं किया। इस सम्बन्ध में जो भी सूचनाएं उपलब्ध होती हैं उस आधार पर यही कहा जा सकता है कि विवाह के सम्बन्ध में जैन समाज बृहद् हिन्दू समाज के ही विधि-विधानों का अनुगमन करता रहा और आज भी करता है।

प्राचीन जैन ग्रन्थों में विवाह कैसे किया जाय, इसका उल्लेख तो नहीं मिलता है, किन्तु विवाह संस्था को यौन सम्बन्धों के संयमन का एक साधन मानकर उसमें गृहस्थ उपासकों के लिए स्वपत्नी-संतोषव्रत का विधान अवश्य मिलता है। आदिपुराण में विवाह एवं पति-पत्नी के पारस्परिक एवं सामाजिक दायित्वों की चर्चा है उसमें विवाह के दो उद्देश्य बताए गए हैं— (1) कामवासना की तृप्ति और (2) सन्तानोत्पत्ति। जैनाचार्यों ने विवाह संस्था को यौन-सम्बन्धों के नियन्त्रण एवं वैधीकरण के लिए आवश्यक माना था। गृहस्थ का स्वपत्नी संतोषव्रत न केवल व्यक्ति की कामवासना को नियन्त्रित करता है, अपितु सामाजिक जीवन में यौन-व्यवहार को परिष्कृत भी बनाता है। अविवाहित स्त्री से यौनसम्बन्ध स्थापित करने, वेश्यागमन करने आदि के निषेध इसी बात के सूचक हैं। जैनधर्म सामाजिक जीवन में यौन सम्बन्धों की शुद्धि को आवश्यक मानता है। विवाह के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए आदिपुराण में बताया गया है कि जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति उसके उपशमनार्थ कटु-औषधि का सेवन करता है, उसी प्रकार काम-ज्वर से सन्तप्त हुआ प्राणी उसके उपशमनार्थ स्त्रीरूपी औषधि का सेवन करता है।^{२१} इससे इतना प्रतिफलित होता है कि जैनधर्म अवैध या स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों का समर्थक नहीं रहा है। उसमें विवाह-सम्बन्धों की यदि कोई महत्वपूर्ण भूमिका है तो वह यौन-सम्बन्धों के नियन्त्रण की दृष्टि से ही है और यह उसकी निवृत्तिमार्गी धारा के अनुकूल भी है। उसकी मान्यता के अनुसार यदि कोई आजीवन ब्रह्मचारी बनकर संयम-साधना में अपने को असमर्थ पाता है तो उसे विवाह सम्बन्ध के द्वारा अपनी यौनवासना को नियन्त्रित कर लेना चाहिए। इसीलिए श्रावक के पांच अणुव्रतों में

स्व-पत्नी संतोषव्रत नामक व्रत रखा गया है। पुनः श्रावक जीवन के मूलभूत गुणों की दृष्टि से वेश्यागमन और पर-स्त्री-गमन को निषिद्ध ठहराया गया। इस प्रकार चाहे विधिमुख से न हो किन्तु निषेधमुख से जैनधर्म विवाह-संस्था की उपयोगिता और महता को स्वीकार करता हुआ प्रतीत होता है।

चाहे धार्मिक विधि-विधान के रूप में जैनों में विवाह सम्बन्धी उल्लेख न मिलता हो, किन्तु जैन कथा साहित्य में जो विवरण उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में समान वय और समान कुल के मध्य विवाह सम्बन्ध स्थापित करने के उल्लेख मिलते हैं।^{२३} आगमों में यह भी उल्लेख मिलता है कि बालभाव से मुक्त होने पर ही विवाह किये जाते थे, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म में बाल-विवाह की अनुमति नहीं थी। मात्र यही नहीं कुछ कथानकों में बाल-विवाह के अथवा अवयस्क कन्याओं के विवाह के दूषित परिणामों के उल्लेख भी मिल जाते हैं। विवाह सम्बन्ध को हिन्दूधर्म की तरह ही जैनधर्म में भी एक आजीवन सम्बन्ध ही माना गया था। अतः विवाह-विच्छेद को जैनधर्म में भी कोई स्थान नहीं मिला। वैवाहिक जीवन दूबर होने पर उसमें स्त्री का भिक्षुणी बन जाना ही मात्र विकल्प था। जैन आचार्यों ने अल्पकालीन विवाह-सम्बन्ध और अल्पवयस्क विवाह को घृणित माना और इसे श्रावक-जीवन का एक दोष निरूपित किया।^{२४} जहां तक बहुपति-प्रथा का प्रश्न है हमें द्रौपदी के एक आपवादिक कथानक के अलावा इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु बहुपत्नी-प्रथा जो प्राचीनकाल में एक सामान्य परम्परा बन गई थी, उसका उल्लेख जैन ग्रन्थों में भी मिलता है। यद्यपि इस बहुपत्नी-प्रथा को जैन परम्परा का धार्मिक अनुमोदन हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय में ऐसा कोई विधायक निर्देश प्राप्त नहीं होता जिसमें बहुपत्नी-प्रथा का समर्थन किया गया हो। जैन साहित्य मात्र इतना ही बतलाता है कि बहुपत्नी-प्रथा उस समय सामान्य रूप से प्रचलित थी और जैन परिवारों में भी अनेक पत्नियां रखने का प्रलचन था, किन्तु जैन साहित्य में हमें कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि किसी श्रावक ने जैनधर्म के पांच-अणुव्रतों को ग्रहण करने के पश्चात् अपना विवाह किया हो। गृहस्थ उपासक स्वपत्नी संतोषव्रत के जिन अतिचारों का उल्लेख मिलता है उनमें एक परविवाहकरण भी है।^{२५} यद्यपि इसका अर्थ जैन आचार्यों ने अनेक दृष्टि से किया है किन्तु इसका सामान्य अर्थ दूसरा विवाह करना है। इससे ऐसा लगता है कि जैन आचार्यों का अनुमोदन तो एक पत्नीव्रत की ओर ही था, आगे चलकर इसका अर्थ यह भी किया जाने लगा कि स्व-सन्तान के अतिरिक्त अन्य की सन्तानों का विवाह करवाना किन्तु मेरी दृष्टि में यह एक परवर्ती अर्थ है।

इसी प्रकार वेश्यागमन को भी निषिद्ध माना गया। अपरिग्रहीता अर्थात् अविवाहिता स्त्री से यौन सम्बन्ध बनाना भी श्रावकव्रत का एक अतिचार (दोष) माना गया।^{२६} जैन आचार्यों में सोमदेव ही एक मात्र अपवाद हैं, जो गृहस्थ के वेश्यागमन को अनैतिक घोषित नहीं करते। शेष सभी

जैनाचार्यों ने वेश्यागमन का एक स्वर से निषेध किया है।

जहां तक प्रेम-विवाह और माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह सम्बन्धों का प्रश्न है— जैनागमों में ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं है, कि वह किस प्रकार के विवाह-सम्बन्ध को करने योग्य मानती है। किन्तु ज्ञातार्थकथा के द्रौपदी एवं मल्ली अध्ययन में पिता-पुत्री से स्पष्ट रूप से यह कहता है कि मेरे द्वारा किया गया चुनाव तेरे कष्ट का कारण हो सकता है, इसलिए तुम स्वयं ही अपने पति का चुनाव करो।^{२७} इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि जैन परम्परा में माता-पिता द्वारा आयोजित विवाहों और युवक-युवतियों द्वारा अपनी इच्छा से चुने गये विवाह सम्बन्धों को मान्यता प्राप्त थी।

जैन परिवार के युवक-युवतियों का जैन परिवार में ही विवाह करें, यह आवश्यक नहीं था। अनेक जैन कथाओं में अन्य धर्मावलम्बी कन्याओं से विवाह करने के उल्लेख मिलते हैं— और यह व्यवस्था आज तक भी प्रचलित है। आज भी जैन परिवार अपनी समान जाति के हिन्दू परिवार की कन्या के साथ विवाह संबंध करते हैं। इसी प्रकार अपनी कन्या को हिन्दू परिवारों में प्रदान भी करते हैं। सामान्यतया विवाहित होने पर पत्नी पति के धर्म का अनुगमन करती है। किन्तु प्राचीनकाल से आज तक ऐसे भी सैकड़ों उदाहरण जैन साहित्य में और सामाजिक जीवन में मिलते हैं जहां पति पत्नी के धर्म का अनुगमन करने लगता है या फिर दोनों अपने-अपने धर्म का परिपालन करते हैं और सन्तान को उनमें से किसी के भी धर्म को चुनने की स्वतन्त्रता होती है। फिर भी इस विसंवाद से बचने के लिए सामान्य व्यवहार में इस बात को प्राथमिकता दी जाती है कि जैन परिवार के युवक-युवतियां जैन परिवार में ही विवाह करें।

पारिवारिक दायित्व और जैन दृष्टिकोण

गृहस्थ का सामाजिक दायित्व अपने वृद्ध माता-पिता, पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि परिजनों की सेवा एवं परिचर्या करना है। श्वेताम्बर साहित्य में उल्लेख है कि महावीर ने माता का अपने प्रति अत्यधिक स्नेह देखकर यह निर्णय ले लिया था कि जब तक उनके माता-पिता जीवित रहेंगे, वे संन्यास नहीं लेंगे। यह माता-पिता के प्रति भक्ति-भावना का सूचक ही है। यद्यपि इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा का दृष्टिकोण भिन्न है। जैनधर्म में संन्यास लेने के पहले पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्ति पाना आवश्यक माना गया है। मुझे जैन आगमों में एक भी उल्लेख ऐसा देखने को नहीं मिला कि जहां बिना परिजनों की अनुमति से किसी व्यक्ति ने संन्यास ग्रहण किया हो। जैनधर्म में आज भी यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से कायम है। कोई भी व्यक्ति बिना परिजनों एवं समाज (संघ) की अनुमति के संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता है। माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पति या पत्नी की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसके पीछे मूल भावना यही है कि व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्वों से निवृत्ति पाकर ही संन्यास ग्रहण करें। इस बात की पुष्टि अन्तकृतदश के निम्न उदाहरण से होती है— जब श्रीकृष्ण को यह ज्ञात हो गया कि द्वारिका का शीघ्र ही विनाश होने वाला है, तो उन्होंने स्पष्ट घोषणा करवा दी

कि यदि कोई व्यक्ति संन्यास लेना चाहता है किन्तु इस कारण से नहीं ले पा रहा हो कि उसके माता-पिता, पुत्र-पुत्री एवं पत्नी का पालन-पोषण कौन करेगा - तो उनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व मैं वहन करूंगा।³⁶ यद्यपि बुद्ध ने प्रारम्भ में संन्यास के लिए परिजनों की अनुमति को आवश्यक नहीं माना था। अतः अनेक युवकों ने परिजनों की अनुमति के बिना ही संघ में प्रवेश ले लिया था, किन्तु आगे चलकर उन्होंने भी यह नियम बना दिया था कि बिना परिजनों की अनुमति के उपसम्पदा प्रदान नहीं की जाये। मात्र यही नहीं, उन्होंने यह भी घोषित कर दिया है कि ऋणी, राजकीय सेवक या सैनिक को भी, जो सामाजिक उत्तरदायित्वों से भाग कर भिक्षु बनना चाहते हैं, बिना पूर्व अनुमति के उपसम्पदा प्रदान नहीं की जावे। हिन्दू धर्म भी पितृ-ऋण अर्थात् सामाजिक दायित्व को चुकाये बिना संन्यास की अनुमति नहीं देता है। चाहे संन्यास लेने का प्रश्न हो या गृहस्थ जीवन में ही आत्मसाधना की बात हो - सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करना आवश्यक माना गया है।

सामाजिक धर्म

जैन आचारदर्शन में न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म की विवेचना की गई है, वरन् धर्म के सामाजिक पहलू पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जैन विचारकों ने संघ या सामाजिक जीवन की प्रमुखता सदैव स्वीकार की है। स्थानांगसूत्र में सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में दस धर्मों का विवेचन उपलब्ध है - 1. ग्रामधर्म, 2. नगरधर्म, 3. राष्ट्रधर्म, 4. पाखण्डधर्म, 5. कुलधर्म, 6. गणधर्म, 7. संघधर्म, 8. सिद्धान्तधर्म (श्रुतधर्म), 9. चारित्रधर्म और 10. अस्तिकायधर्म।³⁷ इनमें से प्रथम सात तो पूरी तरह से सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं।

1. **ग्रामधर्म** - ग्राम के विकास, व्यवस्था तथा शान्ति के लिए जिन नियमों को ग्रामवासियों ने मिलकर बनाया है, उनका पालन करना ग्रामधर्म है। ग्रामधर्म का अर्थ है जिस ग्राम में हम निवास करते हैं, उस ग्राम की व्यवस्थाओं, मर्यादाओं एवं नियमों के अनुरूप कार्य करना। ग्राम का अर्थ व्यक्तियों के कुलों का समूह है। अतः सामूहिक रूप में एक-दूसरे के सहयोग के आधार पर ग्राम का विकास करना, ग्राम के अन्दर पूरी तरह व्यवस्था और शान्ति बनाये रखना और आपस में वैमनस्य और क्लेश उत्पन्न न हो, उसके लिए प्रयत्नशील रहना ही ग्रामधर्म के प्रमुख तत्व हैं। ग्राम में शान्ति एवं व्यवस्था नहीं है, तो वहाँ के लोगों के जीवन में भी शान्ति नहीं रहती। जिस परिवेश में हम जीते हैं, उसमें शान्ति और व्यवस्था के लिए आवश्यक रूप से प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है। प्रत्येक ग्रामवासी सदैव इस बात के लिए जागृत रहे कि उसके किसी आचरण से ग्राम के हितों को चोट न पहुंचे। ग्रामस्थविर ग्राम का मुखिया या नेता होता है। ग्रामस्थविर का प्रयत्न रहता है कि ग्राम की व्यवस्था, शान्ति एवं विकास के लिए, ग्रामजनों में पारस्परिक स्नेह और सहयोग बना रहे।

2. **नगरधर्म** - ग्रामों के मध्य में स्थित एक केन्द्रीय ग्राम को जो उनका व्यावसायिक केन्द्र होता है, नगर कहा जाता है। सामान्यतः ग्राम-धर्म और नगरधर्म में विशेष अन्तर नहीं है। नगरधर्म के अन्तर्गत नगर की

व्यवस्था एवं शान्ति, नागरिक-नियमों का पालन एवं नागरिकों के पारस्परिक हितों का संरक्षण-संवर्धन आता है। लेकिन नागरिकों का उत्तरदायित्व केवल नगर के हितों तक ही सीमित नहीं है। युगीन संदर्भ में नगरधर्म यह भी है कि नागरिकों के द्वारा ग्रामवासियों का शोषण न हो। नगरजनों का उत्तरदायित्व ग्रामीणजनों की अपेक्षा अधिक है। उन्हें न केवल अपने नगर के विकास एवं व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए वरन् उन समग्र ग्रामवासियों के हित की भी चिन्ता करनी चाहिए, जिनके आधार पर नगर की व्यावसायिक तथा आर्थिक स्थितियाँ निर्भर है। नगर में एक योग्य नागरिक के रूप में जीना, नागरिक कर्तव्यों एवं नियमों का पूरी तरह पालन करना ही मनुष्य का नगरधर्म है।

जैन सूत्रों में नगर की व्यवस्था आदि के लिए नगरस्थविर की योजना का उल्लेख है। आधुनिक युग में जो स्थान एवं कार्य नगरपालिका अथवा नगरनिगम के अध्यक्ष के हैं, जैन परम्परा में वही स्थान एवं कार्य नगरस्थविर के हैं।

3. **राष्ट्रधर्म** - जैन विचारणा के अनुसार प्रत्येक ग्राम एवं नगर किसी राष्ट्र का अंग होता है और प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना होती है जो ग्रामीणों एवं नागरिकों को एक राष्ट्र के सदस्यों के रूप में आपस में बांधकर रखती है। राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना अथवा जीवन की विशिष्ट प्रणाली को सजीव बनाये रखना। राष्ट्रीय विधि-विधान, नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना ही राष्ट्रधर्म है। आधुनिक सन्दर्भ में राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्रीय एकता एवं निष्ठा को बनाये रखना तथा राष्ट्र के नागरिकों के हितों का परस्पर घात न करते हुए, राष्ट्र के विकास में प्रयत्नशील रहना, राष्ट्रीय शासन के नियमों के विरुद्ध कार्य न करना, राष्ट्रीय विधि-विधानों का आदर करते हुए उनका समुचित रूप से पालन करना। उपासकदशांगसूत्र में राज्य के नियमों के विपरीत आचरण करना दोषपूर्ण माना गया है। जैनगमों में राष्ट्रस्थविर का विवेचन भी उपलब्ध है। प्रजातन्त्र में जो स्थान राष्ट्रपति का है वही प्राचीन भारतीय परम्परा में राष्ट्रस्थविर का होगा, यह माना जा सकता है।

4. **पाखण्डधर्म** - जैन आचार्यों ने पाखण्ड की अपनी व्याख्या की है। जिसके द्वारा पाप का खण्डन होता हो, वह पाखण्ड है।³⁸ दशवैकालिकनिर्युक्ति के अनुसार पाखण्ड एक व्रत का नाम है। जिसका व्रत निर्मल हो, वह पाखण्ड है।³⁹ सामान्य नैतिक नियमों का पालन करना ही पाखण्डधर्म है। सम्प्रति पाखण्ड का अर्थ ढोंग हो गया है, वह अर्थ यहां अभिप्रेत नहीं है। पाखण्डधर्म का तात्पर्य अनुशासित, नियमित एवं संयमित जीवन है। पाखण्डधर्म के लिए व्यवस्थापक के रूप में प्रशास्ता-स्थविर का निर्देश है। प्रशास्तास्थविर शब्द की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट लगता है कि वह जनता को धर्मोपदेश के माध्यम से नियन्त्रित करने वाला अधिकारी है। प्रशास्ता-स्थविर का कार्य लोगों को धार्मिक निष्ठा, संयम एवं व्रत-पालन के लिए प्रेरित करते रहना है। हमारे विचार में प्रशास्ता-स्थविर राजकीय धर्माधिकारी के समान होता होगा जिसका कार्य जनता को सामान्य नैतिक जीवन की शिक्षा

देना होता होगा।

5. **कुलधर्म** - परिवार अथवा वंश-परम्परा के आचार-नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना कुलधर्म है। परिवार का अनुभवी, वृद्ध एवं योग्य व्यक्ति कुलस्थविर होता है। परिवार के सदस्य कुलस्थविर की आज्ञाओं का पालन करते हैं और कुलस्थविर का कर्तव्य है परिवार का संवर्धन एवं विकास करना तथा उसे गलत प्रवृत्तियों से बचाना। जैन परम्परा में गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिए कुलधर्म का पालन आवश्यक है, यद्यपि मुनि का कुल उसके पिता के आधार पर नहीं वरन् गुरु के आधार पर बनता है।

6. **गणधर्म** - गण का अर्थ समान आचार एवं विचार के व्यक्तियों का समूह है। महावीर के समय में हमें गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। गणराज्य एक प्रकार के प्रजासत्तात्मक राज्य होते हैं। गणधर्म का तात्पर्य है गण के नियमों और मर्यादाओं का पालन करना। गण दो माने गये हैं - 1. लौकिक (सामाजिक) और 2. लोकोत्तर (धार्मिक)। जैन परम्परा में वर्तमान युग में भी साधुओं के गण होते हैं जिन्हें गच्छ कहा जाता है। प्रत्येक गण (गच्छ) के आचार-नियमों में थोड़ा-बहुत अन्तर भी रहता है। गण के नियमों के अनुसार आचरण करना गणधर्म है। परस्पर सहयोग तथा मैत्री रखना गण के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है। गण का एक गणस्थविर होता है। गण की देशकालगत परिस्थितियों के आधार पर व्यवस्थाएं देना, नियमों को बनाना और पालन करवाना गणस्थविर का कार्य है। जैन विचारणा के अनुसार बार-बार गण को बदलने वाला साधक हीन दृष्टि से देखा गया है। बुद्ध ने भी गण की उन्नति के नियमों का प्रतिपादन किया है।

7. **संघधर्म** - विभिन्न गणों से मिलकर संघ बनता है। जैन आचार्यों के संघधर्म की व्याख्या संघ या सभा के नियमों के परिपालन के रूप में की है। संघ एक प्रकार की राष्ट्रीय संस्था है जिसमें विभिन्न कुल या गण मिलकर सामूहिक विकास एवं व्यवस्था का निश्चय करते हैं। संघ के नियमों का पालन करना संघ के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है।

जैन परम्परा में संघ के दो रूप हैं— 1. लौकिक संघ और 2. लोकोत्तर संघ। लौकिक संघ का कार्य जीवन के भौतिक पक्ष की व्यवस्थाओं को देखना है, जबकि लोकोत्तर संघ का कार्य आध्यात्मिक विकास करना है। लौकिक संघ हो या लोकोत्तर संघ हो, संघ के प्रत्येक सदस्य का यह अनिवार्य कर्तव्य माना गया है कि वह संघ के नियमों का पूरी तरह पालन करे। संघ में किसी भी प्रकार के मनमुटाव अथवा संघर्ष के लिए कोई भी कार्य नहीं करे। एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सदैव ही प्रयत्नशील रहे। जैन परम्परा के अनुसार साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारों से मिलकर संघ का निर्माण होता है। नन्दीसूत्र में संघ के महत्व का विस्तारपूर्वक सुन्दर विवेचन हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि जैन परम्परा में नैतिक साधना में संघीय जीवन का कितना अधिक महत्व है।³²

8. **श्रुतधर्म** - सामाजिक दृष्टि से श्रुतधर्म का तात्पर्य है शिक्षण-व्यवस्था सम्बन्धी नियमों का पालन करना। शिष्य का गुरु के प्रति, गुरु का

शिष्य के प्रति कैसा व्यवहार हो, यह श्रुतधर्म का ही विषय है। सामाजिक संदर्भ में श्रुतधर्म से तात्पर्य शिक्षण की सामाजिक या संघीय व्यवस्था है। गुरु और शिष्य के कर्तव्यों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का बोध और उनका पालन श्रुतधर्म या ज्ञानार्जन का अनिवार्य अंग है। योग्य शिष्य को ज्ञान देना गुरु का कर्तव्य है, जबकि शिष्य का कर्तव्य गुरु की आज्ञाओं का श्रद्धापूर्वक पालन करना है।

9. **चारित्रधर्म** - चारित्रधर्म का तात्पर्य है श्रमण एवं गृहस्थ धर्म के आचारनियमों का परिपालन करना। यद्यपि चारित्रधर्म का बहुत कुछ सम्बन्ध वैयक्तिक साधना से है, तथापि उनका सामाजिक पहलू भी है। जैन आचार के नियमों एवं उपनियमों के पीछे सामाजिक दृष्टि भी है। अहिंसा सम्बन्धी सभी नियम और उपनियम सामाजिक शान्ति के संस्थापन के लिए हैं। अनाग्रह सामाजिक जीवन से वैचारिक विद्वेष एवं वैचारिक संघर्ष को समाप्त करता है। अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह पर आधारित जैन आचार के नियम-उपनियम प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में सामाजिक दृष्टि से युक्त हैं, यह माना जा सकता है।

10. **अस्तिकायधर्म** - अस्तिकायधर्म का बहुत कुछ सम्बन्ध तत्वमीमांसा से है, अतः उसका विवेचन यहां अप्रासंगिक है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने न केवल वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक पक्षों के सम्बन्ध में विचार किया वरन् सामाजिक जीवन पर भी विचार किया है। जैन सूत्रों में उपलब्ध नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का यह वर्णन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन आचारदर्शन सामाजिक पक्ष का यथोचित मूल्यांकन करते हुए उसके विकास का भी प्रयास करता है।

वस्तुतः जैनधर्म वैयक्तिक नैतिकता पर बल देकर सामाजिक सम्बन्धों को शुद्ध और मधुर बनाता है। उसके सामाजिक आदेश निम्न हैं—

जैनधर्म में सामाजिक जीवन के निष्ठा सूत्र :

1. सभी आत्माएं स्वरूपतः समान हैं, अतः सामाजिक-जीवन में ऊंच-नीच के वर्ग-भेद खड़े मत करो।
—उत्तराध्ययन, 12/37

2. सभी आत्माएं समान रूप से सुखाभिलाषी हैं, अतः दूसरे के हितों का हनन, शोषण या अपहरण करने का अधिकार किसी को नहीं है।

—आचारांग, 1/2/3/3

3. सबके साथ वैसा व्यवहार करो, जैसा तुम उनसे स्वयं के प्रति चाहते हो।
—समणसुत्तं, 24

4. संसार के सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखो, किसी से भी घृणा एवं विद्वेष मत रखो।
—समणसुत्तं, 86

5. गुणीजनों के प्रति आदर-भाव और दुष्टजनों के प्रति उपेक्षा-भाव (तटस्थ-वृत्ति) रखो।
—सामायिक पाठ 1

6. संसार में जो दुःखी एवं पीड़ित जन हैं, उनके प्रति करुणा और वात्सल्यभाव रखो और अपनी स्थिति के अनुरूप उन्हें सेवा-सहयोग प्रदान करो।

जैनधर्म में सामाजिक जीवन के व्यवहार सूत्र :

उपासकदर्शांगसूत्र, योगशास्त्र एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार में वर्णित श्रावक के गुणों, बारह व्रतों एवं उनके अतिचारों से निम्न सामाजिक

आचारनियम फलित होते हैं—

1. किसी निर्दोष प्राणी को बन्दी मत बनाओ अर्थात् सामान्यजनों की स्वतन्त्रता में बाधक मत बनो।
2. किसी का वध या अंगच्छेद मत करो, किसी से भी मर्यादा से अधिक काम मत लो, किसी पर शक्ति से अधिक बोझ मत लादो।
3. किसी की आजीविका में बाधक मत बनो।
4. पारस्परिक विश्वास को भंग मत करो। न तो किसी की अमानत हड़प जाओ और न किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट करो।
5. सामाजिक जीवन में गलत सलाह मत दो, अफवाहें मत फैलाओ और दूसरों के चरित्र-हनन का प्रयास मत करो।
6. अपने स्वार्थ की सिद्धि-हेतु असत्य घोषणा मत करो।
7. न तो स्वयं चोरी करो, न चोर को सहयोग दो और न चोरी का माल खरीदो।
8. व्यवसाय के क्षेत्र में नाप-तौल में प्रामाणिकता रखो और वस्तुओं में मिलावट मत करो।
9. राजकीय नियमों का उल्लंघन और राज्य के कर्तव्यों का अपवंचन मत करो।
10. अपने यौन सम्बन्धों में अनैतिक आचरण मत करो। वेश्या-संसर्ग, वेश्या-वृत्ति एवं उसके द्वारा धन का अर्जन मत करो।
11. अपनी सम्पत्ति का परिसीमन करो और उसे लोक हितार्थ व्यय करो।
12. अपने व्यवसाय के क्षेत्र को सीमित करो और वर्जित व्यवसाय मत करो।
13. अपनी उपभोग सामग्री की मर्यादा करो और उसका अति संग्रह मत करो।
14. वे सभी कार्य मत करो, जिससे तुम्हारा कोई हित नहीं होता है।
15. यथा सम्भव अतिथियों की, सन्तजनों की, पीड़ित एवं असहाय व्यक्तियों की सेवा करो। अन्न, वस्त्र, आवास, औषधि आदि के द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करो।
16. क्रोध मत करो, सबसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करो।
17. दूसरों की अवमानना मत करो, विनीत बनो, दूसरों का आदर-सम्मान करो।
18. कपटपूर्ण व्यवहार मत करो। दूसरों के प्रति व्यवहार में निश्छल एवं प्रामाणिक रहो।
19. तृष्णा मत रखो, आसक्ति मत बढ़ाओ। संग्रह मत करो।
20. न्याय-नीति से धन उपार्जन करो।
21. शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करो।
22. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करो।
23. सदाचारी पुरुषों की संगति करो।
24. माता-पिता की सेवा-भक्ति करो।
25. रगड़े-झगड़े और बखेड़े पैदा करने वाली जगह से दूर रहो, अर्थात् चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान में न रहो।

26. आय के अनुसार व्यय करो।
27. अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहनो।
28. धर्म के साथ अर्थ-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करो कि कोई किसी का बाधक न हो।
29. अतिथि और साधुजनों का यथायोग्य सत्कार करो।
30. कभी दुराग्रह के वशीभूत न होओ।
31. देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करो।
32. जिनके पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोषण करो।
33. अपने प्रति किये हुए उपकार को नम्रता पूर्वक स्वीकार करो।
34. अपने सदाचार एवं सेवा-कार्य के द्वारा जनता का प्रेम सम्पादित करो।
35. परोपकार करने में उद्यत रहो। दूसरों की सेवा करने का अवसर आने पर पीछे मत हटो।

निदेशक, पूज्य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ,
वाराणसी-5

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. ऋग्वेद, 10/19/12
2. ईशावास्योपनिषद्, 6
3. वही, 1
4. श्रीमद्भागवत 7/14/8
5. आचारांग, 1/5/5
6. प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/1/2
7. वही, 2/1/3
8. समन्तभद्र, युक्त्यानुशासन 61
9. स्थानांग, 10/760
10. देखें - सागरमल जैन, व्यक्ति और समाज, श्रमण
11. देखें - प्रबन्धकोश, भद्रबाहु कथानक
12. उद्धृत (क) रतनलाल देशी, आत्मसाधना संग्रह, पृ. 441
(ख) भगवतीआराधना, भाग 1, पृ. 197
13. Bradle, Ethical Studies
14. गुनि नथमल, नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ. 3-4
15. उमास्वामि, तत्त्वार्थसूत्र, 5.21
16. उत्तराध्ययनसूत्र, 25.19
17. आचारांग, 1.2.3.75
18. सागरमल जैन, सागर जैन-विद्या भारती, भाग 1, पृ. 153
19. जटामिहिरान्दि, वराहचरित, सर्ग 25, श्लोक 33-43
20. आचारांगनिरुक्ति, 19
21. आवश्यकचूर्ण, भाग 1 पृ. 152
22. जिन सन, आदि पुराण 11/166-167
23. अन्तकृतदशांग 3/1/3
24. उपासकदशांग, 1/48
25. वही, 1/48
26. वही, 1/48
27. ज्ञाताधर्मकथा, 8 (महिज्जध्ययन) 16 (द्रौपदी अध्ययन)
28. अन्तकृतदशा, 5/1/21
29. स्थानांग, 10.760 विशेष विवेचन के लिये देखें -- धर्मव्याख्या, पू० जवाहरलालजी म. और धर्म-दर्शन, पं. मुनि श्री शुक्लचन्द्रजी म.
30. धर्मदर्शन, पृ. 86
31. दशवैकालिकनिरुक्ति, 158
32. नन्दीसूत्र -- पीठिका, 4-17

जैन साहित्य और उसका हिन्दी से सम्बन्ध

सांस्कृतिक महत्व :

देश की विभिन्न भाषाओं में जैन साहित्य उपलब्ध है। अतः उसमें विभिन्न प्रान्तों की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर वर्तमान युग तक जैन साहित्य का निरन्तर सृजन होता रहा है, अतः विभिन्न युगों के सांस्कृतिक परिवर्तनों का साक्षी जैन साहित्य है। जैन साहित्य में उपलब्ध सांस्कृतिक तथ्यों की प्रामाणिकता इसलिये स्वीकार्य है कि ये जन-जीवन से जुड़े हुए हैं। केवल आदर्श या काल्पनिक उड़ानें उसमें नहीं हैं। वह दरबारी साहित्य नहीं है। उसके लेखक अधिकांश साधक आचार्य हैं, जिनकी कथनी-करनी की प्रामाणिकता उनके साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हुई है।

जैन साहित्य में वर्णित संस्कृति के विभिन्न आयाम हैं। उसमें दर्शन और अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन है। सिद्धांतों का विशद प्रतिपादन है। मुनि एवं गृहस्थ-जीवन का विस्तार से वर्णन है। इस सबको प्रस्तुत करने के लिए विभिन्न कथाओं, दृष्टान्तों एवं उपाख्यानों का मनोहारी चित्रण है। किन्तु इस सबके भीतर कुछ ऐसी सांस्कृतिक सूचनाएं भी हैं, जो अन्य भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। इतिहास जिनके सम्बन्ध में प्रायः मौन है, उन्हीं तथ्यों की ओर जैन साहित्य के पाठकों का ध्यान आचार्यों ने आकर्षित किया है। इससे भारत के सांस्कृतिक विकास की सही जानकारी में मदद

मिल सकती है।

प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में कथावस्तु एवं पात्रों का चयन जन-जीवन में से किया गया है। अतः इस साहित्य में समाज के समृद्ध और शक्तिशाली व्यक्तियों का ही चित्रण नहीं है, अपितु सर्वहारा, दीन-हीन और उपेक्षित समझे जाने वाले उन व्यक्तियों के जीवन का भी चित्रण है, जो चरित्र एवं सौहार्द के धनी हैं। जैन लेखकों की इस उदार और सर्वग्राही दृष्टि के कारण जैन साहित्य में पहली बार सूक्ष्मता से ग्राम्य संस्कृति का चित्रण हो सका है। इससे भारतीय साहित्य कृत्रिमता और विलासी जीवन से बहुत हद तक मुक्त हुआ है। आंचलिकता को महत्व देने के कारण जैन साहित्य ने विभिन्न प्रदेशों की लोक-संस्कृति की सुरक्षा की है। अनेक जातियों के जीवन-क्रम को नष्ट होने से बचा लिया है।

किसी भी साहित्य में संस्कृति के संवाहक उसके शब्द होते हैं। जैन साहित्य का एक यह महत्वपूर्ण पक्ष है कि उसमें लोक प्रचलित शब्दों और भाषा के प्रयोग का विशेष महत्व दिया गया है। इस कारण देश की उस शब्द सम्पदा को जैन साहित्य ने सुरक्षित रखा है, जो मनुष्य के सांस्कृतिक विकास को अपने में छुपाये हुए है। भारतीय भाषाओं का इतिहास तब तक पूरा नहीं लिखा जा सकता जब तक जैन साहित्य का भाषात्मक विवेचन न किया जाय। इन सब पहलुओं पर चिन्तन-मनन किया जाना अपेक्षित है। पिछले पचास वर्षों में जैन साहित्य के कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। विश्वविद्यालयों में जैन ग्रन्थों पर शोध-प्रबन्ध भी लिखे गये हैं, किन्तु अभी भी नई दृष्टि से कार्य किया जाना शेष है।

सर्व प्रथम जैन साहित्य पर शोध-कार्य की प्राथमिकता अन्य भारतीय साहित्य के साथ उसके अन्तरंग सम्बन्धों की दी जानी चाहिए। जैन साहित्य की कई विधाएं भारतीय साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। कथावस्तु, कथारूढ़ियों, कवि-सम्प्रदाय, वस्तुवर्णनों आदि में जैन साहित्य और अन्य भारतीय साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना अपेक्षित है। हिन्दी साहित्य के साथ तो इस प्रकार का अध्ययन और भी उपयोगी होगा। क्योंकि हिन्दी साहित्य और जैन साहित्य में गहरा सम्बन्ध है।

हिन्दी साहित्य से सम्बन्ध :

हिन्दी साहित्य और जैन साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध की जानकारी के लिए भारतीय भाषाओं और साहित्य के विकास क्रम को जानना आवश्यक है। इस देश में प्रारम्भ से ही लोक भाषाओं में साहित्य लिखा जाता रहा है। पाली, प्राकृत और अपभ्रंश जैसी जनभाषाओं ने साहित्य को पर्याप्त समृद्ध किया है। इस साहित्य की धारा से भारत की आधुनिक भाषाओं-राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि का साहित्य प्रभावित हुआ है। इन सभी भाषाओं के साहित्य ने भाषा, शैली और स्वरूप की दृष्टि से हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। अतः हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध किसी

रूप में इस देश की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं के साथ रहा है। चूंकि जैन कवियों ने देश की प्रायः सभी भाषाओं में विविध प्रकार का विपुल साहित्य लिखा है। अतः स्वाभाविक है कि जैन साहित्य की इस सुदीर्घ परम्परा से हिन्दी साहित्य प्रभावित होता रहा है। प्राकृत, अपभ्रंश और राजस्थानी भाषाओं के जैन साहित्य से तो हिन्दी साहित्य का सीधा सम्बन्ध है। हिन्दी साहित्य के विकास का जो समय जाना-माना जाता है उस युग में जैन कवियों ने अनेक विधाओं में हिन्दी साहित्य भी लिखा है। अतः परम्परा, विकास स्वरूप और भाषा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य जैन साहित्य के साथ जुड़ा हुआ है।

हिन्दी साहित्य में जो काव्य रूप प्राप्त होते हैं उनमें रासो साहित्य और चरितकाव्य प्रसिद्ध हैं। अपभ्रंश साहित्य में जो प्रबंध काव्य लिखे गये हैं, उनका हिन्दी के रासो साहित्य में सीधा संबंध है। रासो का प्रारम्भिक रूप प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में प्राप्त है, जिसका कथा और नृत्य के साथ सम्बन्ध था। हिन्दी साहित्य में उसने प्रबंधात्मक रूप ग्रहण कर लिया। जैन कवियों ने रासो साहित्य की शैली में कई रचनाएं लिखी हैं, जिन्हें पृथ्वीराजरसो आदि के साथ रखा जा सकता है।

हिन्दी साहित्य में प्रबंध काव्यों के अन्तर्गत प्रेमाख्यानक काव्य बहुत लिखे गए हैं जिनमें अनेक लोक-कथाएं प्रेम कथाओं के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। इन प्रेम कथाओं के लौकिक रूप प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में प्राप्त होते हैं। तंगवती कथा, लीलावत्कथा, रणसेहरीकथा आदि प्राकृत कथाएं एवं भविसत्त कथा, विलासवत्कथा, जिनदत्तचरित, सुदत्तचरित आदि अपभ्रंश कथाएं हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों की आधार भूमि मानी जा सकती हैं। ढोला मार रा दोहा की कथा में जिन कथ्य-रूपों और कथानक रूढ़ियों का प्रयोग मिलता है, वे सब अपभ्रंश कथाओं में प्राप्त होते हैं। यहां तक कि यह ढोला शब्द भी प्राकृत के दूल्हा और अपभ्रंश से हिन्दी के दूल्हा तक पहुंचा है।

हिन्दी के प्रसिद्ध ग्रंथ रामचरित मानस का अपभ्रंश साहित्य से घनिष्ठ संबंध है। सातवीं आठवीं शताब्दी के अपभ्रंश महाकवि स्वयंभू के पउमचरित में जिस प्रकार से रामकथा को उपस्थित किया गया है, तुलसीदास ने उसी प्रकार रामचरितमानस में राम कथा को प्रस्तुत किया है। दोनों ने रामकथा की उपमा नदी से की है। रामकथा सरोवर का रूपक, विनयप्रदर्शन, सज्जन-दुर्जन वर्णन, दोहा और चौपाई जैसे छंदों का प्रयोग राम के लौकिक रूप की प्रधानता, विभिन्न वर्णनों की शैली में एकरूपता तथा मानस में लगभग 60 प्रतिशत प्राकृत-अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग, इस बात का सूचक है कि तुलसीदास ने जैन साहित्य में प्रचलित रामकथा को हिन्दी युग तक पहुंचाया है। इस प्रकार हिन्दी के प्रबंध काव्यों के तलस्पर्शी अध्ययन के लिए जैन साहित्य के प्रबंध काव्यों का मूल्यांकन अपरिहार्य है।

हिन्दी साहित्य में छंद और अलंकारों का जो प्रयोग हुआ है वे अधिकांश प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य से आए हैं। अपभ्रंश में विभिन्न छंदों को मिलाकर एक नवीन छंद के प्रयोग करने की प्रवृत्ति अधिक थी। छप्पय, वस्तु, रत्ना, कुंडलियां आदि इसी प्रकार के मात्रिक छंद हैं, जिनका हिन्दी साहित्य में खूब प्रयोग हुआ है। हिन्दी साहित्य में तुलसीदास की कवितावली और केशवदास की रामचंद्रिका में इन छंदों का प्रयोग किया गया है। विभिन्न छंदों के प्रयोग को दिखाने की प्रवृत्ति अपभ्रंश साहित्य में भी थी। सुदर्शन चरित में 70 छंदों का प्रयोग हुआ है तथा जिनदत्तचरित में 30 छंदों का प्रयोग है। इसी तरह की छंद बहुला अपभ्रंश रचनाओं ने हिन्दी साहित्य में काव्यात्मक रचनाओं के सृजन को प्रेरित किया होगा।

मुक्तक काव्य की परम्परा :

हिन्दी साहित्य में अनेक मुक्तक काव्य प्राप्त होते हैं। कबीर, विद्यापति, तुलसी, मीरा, बिहारी आदि कवियों ने भक्ति, उपदेश, नीति, शृंगार आदि विषयों के लिए मुक्तक काव्यों का सृजन किया है। इन काव्यों में प्रायः दोहा छंद का प्रयोग किया गया है। यह दोहा छंद प्राकृत के गाथाछंद का विकसित रूप माना जाता है, जिसका प्रयोग पहली शताब्दी के प्राकृत कवि हाल से लेकर मध्ययुग तक अनेक जैन कवियों ने किया है। गाथासप्तशती और बज्जालग, पाहुणदोहा जैसे मुक्तक काव्यों से हिन्दी में मुक्तक काव्य स्वरूप और विषय की दृष्टि से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। गाथासप्तशती और बिहारीसतसई में तो अद्भुत समानता है।

हिन्दी साहित्य के कई ग्रंथों के कथानकों पर भी जैन साहित्य का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जायसी के पद्मावत पर प्राकृत अपभ्रंश कथाओं का स्पष्ट प्रभाव है। जायसी ने देश आदि तथा ऋतु आदि के जो वर्णन किए हैं, उनको पढ़कर लगता है कि अपभ्रंश कथा साहित्य से अवश्य परिचित थे। पद्मावत की नायिका पद्मिनी को सिंदूर द्वीप का बताया गया है। प्राकृत और अपभ्रंश के लगभग 12 कथाग्रंथों की नायिकाएं सिंदूर द्वीप की होती हैं तथा उसे प्राप्त करने के वर्णन भी प्रायः वही हैं जो पद्मावत में दिए गए हैं। जायसी के 100 वर्ष पूर्व के प्राकृत कथाकार जिनहर्षाणि की रणसंहरनिवकथा और पद्मावत की कथा के अध्ययन से तो ऐसा लगता है कि जायसी ने इस प्राकृत ग्रंथ को अवश्य देखा था। इस तरह विभिन्न अभिप्रायों, कथा-रूढ़ियों और कथारूपों का यदि अध्ययन किया जावे तो जैन साहित्य और हिन्दी साहित्य के कथानकों के संबंध पर नया प्रकाश पड़ सकता है।

हिन्दी के संत साहित्य और भक्ति साहित्य पर भी जैन साहित्य का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्राकृत और अपभ्रंश युग में अनेक ऐसे संत हुए हैं, जिन्होंने भक्ति धारा को प्रवाहित किया है। जैन साधक योगेन्द्र मुनि, रामसिंह कवि, आनन्दधन एवं सुप्रभाचार्य आदि ऐसे साधक हुए हैं, जिन्होंने बाह्य आडम्बरों का खण्डन कर मन की शुद्धि पर बल दिया है। हिन्दी की संत धारा में भी इस प्रकार

के संत हुए हैं। अपभ्रंश संत योगीन्द्र कहते हैं कि न देवालय में, न शिला में, न आलेखन में, न चित्र में भगवान है, किन्तु अलख निरंजन और ज्ञानमय शिव शांत चित्त में स्थित है।

देउ ण देवले णनि सिलए न वि लिप्पइ णवि चित्ति।

अखखु णिरंजण णत्तणमउ, सिउ संठिउ समचित्ति।

इसी तरह कवीर ने भी कहा है कि जगह-जगह ईश्वर नहीं है। मन का ईश्वर ही सब जगह है जैसे—

साधो एक रूप मन मांही।

अपने मन विचारिके देखो, कोउ दूसरो नाही ॥

इसी तरह जैन संतों ने जाति प्रथा के खंडन में कहा है कि सभी आत्माएं समान हैं। उनमें से कोई छुद्र नहीं है और न कोई ब्राह्मण और न शूद्र है। भट्टारक शुभचन्द्र तत्त्वसारदोहा में कहते हैं कि—

बम्हण क्षत्रिय वैश्य न शूद्र।

अप्पाराजा नवि होई छुद्र ॥

कवीरदास भी यही बात कहते हैं कि—

एक बिन्दु तै दोऊ उपजै, को बाहमन को सूदा।

कवीरदास एक ही मन को गोरख, गोविन्द और ओघड़ आदि नामों से पुकारते हैं। जैन कवि आनन्दघन ने स्वयं आत्मा को ही विभिन्न नामों से कहा है जैसे—

राम कहो रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।

पारसनाथ कहो कउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ॥

भाजनभेद कहावत नाना, एकमृत्तिका रूपरी।

तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखंड स्वरूपरी ॥ इसी तरह जैन और हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी संत कवियों ने अपने-अपने आराध्य को मुक्ति प्राप्ति का आधार माना है। तुलसीदास कहते हैं कि राम की भक्ति के बिना संसार का दुःख कैसे मिटेगा—

रघुपति भक्ति सत्संगति बिनु, को भवत्रास नसावै।

जैन कवि बनारसीदास कहते हैं—

जगत में सो देवन को देव।

जासु चरन परसैं इन्द्रादिक, होय मुक्ति स्वमेव।

कवि घानतराय कहते हैं—

जो तुम मोख देत नहीं हमको, कहां जाये किहि डेरा।

महाकवि सूरदास कहते हैं—

सूरदास वृत यहै, कृष्णभजिभवजल-निधि उतरत।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य की विकास यात्रा के विभिन्न सोपान जैन साहित्य की आधार भूमि पर टिके हैं। उपलब्ध प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और हिन्दी के जैन साहित्य के गवेषणात्मक अध्ययन से हिन्दी साहित्य के विकास को नई गति मिल सकती है। जैन साहित्य जन-सामान्य में अधिक प्रचलित हो सकता है। ऐसे गहन अध्ययन से साहित्य के माध्यम से देश के सांस्कृतिक इतिहास को नई दृष्टि मिल सकती है।

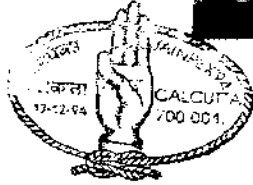
—अध्यक्ष, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

JAINPEX '94
SCOUTS & GUIDES MAIL
17-12-94

TO FORGIVE IS DIVINE
— Lord Mahavir



DIAMOND JUBILEE 1934-1994
SHREE JAIN VIDYALAYA
CALCUTTA 700 001



TO:
THE PRINCIPAL,
SHREE JAIN VIDYALAYA,
25/1 BON BEHARI BOSE ROAD,
HOWRAH - 711 101

भारतीय सिक्कों की विकास-कथा

मानव की विकास यात्रा के साथ ही आरम्भ होती है विनिमय की कहानी। प्रागैतिहासिक काल में यद्यपि लोगों का जीवनयापन मुख्य रूप से वनजनित संसाधनों पर ही आधारित था तथा उनका कार्य क्षेत्र भी केवलमात्र अपने कबीलों तक ही परिसीमित था। परन्तु शनैः शनैः समाज का गठन होने लगा और विभिन्न कबीलों को आपस में वस्तुओं के चलन के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। फलस्वरूप सममूल्य की वस्तुएं आपसी विनिमय का संसाधन बनीं। इस तरह हम दैनिक व्यवहृत वस्तुओं का प्रयोग विनिमय के माध्यम के रूप में देखते हैं। एक समय में गायों तथा धान्य को विनिमय का निमित्त बनाया गया। लेकिन आदान-प्रदान में प्रयुक्त इन वस्तुओं के प्रयोग से बहुत सी कठिनाइयां उत्पन्न होने लगी। यथा गाय की उम्र क्या हो? उसका परिमाण क्या हो? इत्यादि। अतः विभिन्न प्रकार की धातुओं का उपयोग इस कार्य में किया जाने लगा। अंततः विनिमय के विभिन्न आयामों को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मुद्रा के रूप में विनिमय का समीचीन संसाधन उपलब्ध हुआ।

धातुई मुद्राएं अपने आप में असमानान्तर ऐतिहासिक दस्तावेज हैं जो अपनी थाती में अगणित गाथाओं को आत्मसात् किए हुए हैं। वे हमारे समक्ष उन समस्त ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं आर्थिक गतिविधियों की गाथाओं को उजागर करने में सक्षम हैं जो इनके सृजनकर्ताओं के जीवनकाल में घटित हुई होंगी। मुद्राओं से इतिहास के वे भूले-बिसरे पहलू भी उजागर हो उठते हैं जो किसी अन्य स्रोत

से सम्भावित नहीं हो पाते। वे हमारे समक्ष काल की सत्य वस्तुस्थिति प्रस्तुत करती हैं। इन मुद्राओं से इतिहास के उन अबूझ प्रश्नों की भी प्रामाणिकता प्राप्त होती है जो अन्य स्रोतों से पूर्ण प्रामाणिक नहीं हो पाते। सिक्कों के माध्यम से न केवल हमारी जानकारी में निरन्तर अभिवृद्धि ही होती है वरन् हमें पूर्व अनुभवों में परिवर्तन एवं परिवर्धन करने का समुचित साधन भी प्राप्त होता रहता है। इस तरह इतिहास अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त करता रहता है।

प्राचीन वाङ्मय के बहुलता से न पाए जाने के उपरांत भी सिक्कों की उपलब्धता से प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक विस्मृत आयामों का सही एवं सटीक मूल्यांकन करने में हम सक्षम हो सके हैं। और इनसे न केवल हमें इतिहास में अप्राप्य शासकों एवं विभिन्न पीढ़ियों के बारे में ही जानकारी प्राप्त हुई है वरन् उनके कार्यकलापों एवं मानसिकता का भी बोध हुआ है। क्षेत्रीय तथा आक्रांता दोनों ही तरह के शासकों के बारे में हमें सिक्कों द्वारा ही जानकारी उपलब्ध होती है। ग्रीक, सिरियन एवं मथुरा के आरम्भिक शासक इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। पंजाब क्षेत्र से ईस्वी सन् 200-100 वर्ष पूर्व की बेक्ट्रियन मुद्राओं से हमें तीस से ऊपर ऐसे शासकों की जानकारी प्राप्त हुई है जो किसी प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार बहुत सी जन-जातियों द्वारा ईस्वी सन् से पूर्व एवं तत्पश्चात् प्रचारित मुद्राओं द्वारा ही हमें उन गणतंत्रों का परिचय प्राप्त होता है। यद्यपि व्यापारिक गतिविधियों एवं उसके उन्नयन में मुद्राओं का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है तथापि उनसे हमें उस समय प्रचलित धार्मिक आस्थाओं के बारे में भी जानकारी मिलती है। इसके अतिरिक्त मुद्राएं तत्कालीन कला वैशिष्ट्य को भी उद्घाटित करती हैं। इससे उस युग के कलाकारों की कार्यकुशलता, उनके ज्ञान एवं उनकी कल्पनाओं की झलक भी हमें प्राप्त होती है। बैक्ट्रियन शासकों, सातवाहन राजाओं एवं गुप्तकालीन स्वर्णमुद्राओं पर उत्कीर्ण विभिन्न राजाओं की छवियां इसका उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। इसी प्रकार मुगलकालीन मुद्राओं पर, विशेषतः जहांगीर द्वारा प्रतिपादित मुद्राओं पर, अंकित विभिन्न प्रकार के राशि चित्रण कला की पराकाष्ठा के द्योतक हैं। अतः मुद्राएं इतिहास एवं कला प्रेमियों- दोनों ही को समान रूप से आकर्षित करने में सक्षम है।

विनिमय-विकास के विभिन्न चरणों का इतिहास हमें प्राचीन भारतीय इतिहास में यत्र-तत्र बिखरा हुआ उपलब्ध होता है। इनमें ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण, पाणिनि की 'अष्टाध्यायी', गोपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, तैत्तिरीय ब्राह्मण, श्रौत सूत्र, मानव, कात्यायन, बृहदारण्यक उपनिषद् आदि प्रमुख हैं। यद्यपि 800 ई० पू० तक भारत में विनिमय के रूप में धातु से बने एक निश्चित परिमाण एवं तौल के पिंड व्यवहृत होने लगे थे किन्तु इस प्रयोग में भी दूषित धातु एवं सटीक वजन की निश्चितता का अभाव अनुभव किया जाने लगा। अतः इन धातुई पिंडों को किसी अधिकृत व्यक्ति द्वारा आहत किया जाना आवश्यक समझा गया जिससे मुद्राओं की शुद्धता एवं सही तौल को सुनिश्चित किया जा सके। इस

तरह आहत की हुई मुद्राओं का आविष्कार सम्भव हो सका। पांचवीं-छठी शताब्दी लिखित पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुशीलन से हमें तत्समय प्रचलित विभिन्न प्रकार की मुद्राओं एवं उनके अंशों का बोध होता है। इनमें निष्क, सतमान, पद, सन, कर्षापण इत्यादि प्रमुख हैं। अतः हम यह निश्चितता से मान सकते हैं कि पाणिनि काल तक भारतवर्ष में मुद्राओं का प्रचलन पूर्णतः विकसित हो चुका था। इस विकास यात्रा में अत्यधिक समय का लगना अवश्यम्भावी है। चूंकि वेदों तथा आठवीं शताब्दी में लिखित ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इन सिक्कों का कहीं भी उल्लेख न होने से यह सुविदित हो जाता है कि सिक्कों का प्रचलन भारतवर्ष में इस वाङ्मय के लिखे जाने के उपरांत तथा अष्टाध्यायी के लिखे जाने से पूर्व किसी भी समय में हुआ होगा। डॉ. परमेश्वरीलाल गुप्त के अनुसार इस समय की सातवीं शताब्दी ई०पू० का ठहराया जा सकता है।^१

हम देख चुके हैं कि प्रागैतिहासिक काल में व्यापारिक गतिविधियां बहुधा सममूल्य की वस्तुओं के आदान-प्रदान तक ही सीमित थीं लेकिन शनैः शनैः बौद्धिक विकास के बढ़ते चरणों ने विनिमय की सर्वमान्य पद्धति को खोजना प्रारम्भ किया। जहां उच्च आदान-प्रदान का माध्यम पशुधन को बनाया गया वहीं निम्न वस्तुओं के विनिमय के लिए मालद्वीप टापू से आयातित कौड़ियों को इसका आधार बनाया गया। मूल्यवान धातुओं की खोज के उपरांत भारतवर्ष में गाय के स्थान पर 'सुवर्ण' का प्रयोग होने लगा। हिन्दुकुश पर्वत एवं नदियों से प्राप्त स्वर्णधूलि का उपयोग भी उच्च वस्तुओं के विनिमय के लिए किया जाने लगा। 'हेरोडोटस' के मतानुसार 518 ई०पू० से 350 ई०पू० में फारस के क्षेत्रों द्वारा संचालित भारतीय क्षेत्र से 360 टेलेंट स्वर्णधूलि कर के रूप में आकीमेनिड साम्राज्य को चुकायी जाती थी।^२ किन्तु बैक्ट्रियन शासकों से पूर्व (पहली दूसरी शताब्दी) की स्वर्ण मुद्राएं अभी तक अप्राप्य हैं। सभी प्राचीन मुद्राएं रूपहली धातु में ही मिलती हैं।

जिन्हें आज आहत मुद्राओं (पंचमर्क) के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है वही संस्कृत एवं प्राकृत वाङ्मय में संभवतः 'पुराण' अथवा 'धारण' कहलाते थे। ये मुद्राएं आयताकार अथवा गोल रौप्य एवं कभी-कभी ताम्र धातुओं से बनाई जाती थीं। इन्हें धातुई चद्वरों से निश्चित परिमाण में काटकर एक निश्चित आकार दिया जाता था। तत्पश्चात् इन्हें विभिन्न पंचों द्वारा चिह्नित किया जाता था। इस तरह की 80 टेलेंट आहत रौप्य मुद्राएं लेटिन लेखक क्विंटस करटियस के अनुसार आंभि राजा ने अलेक्जेंडर को तक्षशिला में भेंट की। तक्षशिला की खुदाई में जॉन मार्शल को 160 आहत मुद्राओं का एक जखीरा प्राप्त हुआ था। इस समूह में डायटोडोटस की 245 ई०पू० की एक मुद्रा भी थी।^३ उपर्युक्त कथनों से हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि मौर्य साम्राज्य के उत्कर्ष से लेकर तीसरी चौथी शताब्दी ई०पूर्व तक उत्तरी भारतवर्ष में आहत मुद्राएं पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थीं। गुप्त साम्राज्य के आते-आते तथा चंद्रगुप्त से अशोक काल तक ये मुद्राएं समस्त भारतीय उपमहाद्वीप में पूर्णरूपेण स्थापित हो चुकी थीं।

इन आहत सिक्कों के पश्चात् हमें ताम्र धातु से बने पांचवी शती ई०पू० के ढलाई के सिक्के प्राप्त होते हैं जो तीसरी शती तक कौशाम्बि, अयोध्या एवं मथुरा राज्यों के द्वारा मुद्रित किए जाते थे। इनमें से कुछ मुद्राओं पर ब्राह्मीलिपि में स्थानीय राजाओं के नाम भी अंकित किए गए हैं।

चौथी शती ई०पू० तक भारतवर्ष में ढाई द्वारा सिक्के तैयार होने लगे थे। इनको केवल एक छोर पर ही मुद्रित किया जाता था। शेर की छवि वाला ऐसा सिक्का तक्षशिला से प्राप्त हुआ है। गांधार क्षेत्र से प्राप्त कुछ मुद्राओं पर अशोक कालीन बौद्ध धर्म के धार्मिक चिन्ह यथा—बोधि वृक्ष, स्वस्तिक, स्तूप इत्यादि परिलक्षित होते हैं। तत्पश्चात् पांचाल, कौशाम्बि एवं मथुरा से दोनों ओर मुद्रित ढायी के सिक्के भी जारी हुए। इनमें गांधार से मुद्रित एक ओर शेर तथा दूसरी ओर हाथी की छवियों वाले सिक्के सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

कौटिल्य द्वारा प्रणीत चौथी शताब्दी ई०पू० के अर्थशास्त्र से हमें उस समय के सिक्कों के बनाने की पद्धति के विषय में जानकारी मिलती है। विभिन्न ज्यामितीय उपमाओं में प्राप्त आहत मुद्राएं महाभारत के 11वीं शीत ई०पू० के युद्ध के पश्चात् बचे जनपदों एवं महाजन पदों द्वारा जारी की गई थीं। ये सभी जनपद पांचवीं शताब्दी ई०पू० में मगध साम्राज्य के उदय के साथ ही उसमें विलीन हो गए। यद्यपि सर्वप्रथम इन मुद्राओं को किसने जारी किया, यह जानना अत्यन्त कठिन है तथापि हमें सूरसेन, उत्तर एवं दक्षिण पांचाल, वत्स, कुनाल, कौशल, काशी, मल्ल, मगध, बंग, कलिंग, आंध्र, अस्माक, मुलका, अवन्ति, उत्तरी महाराष्ट्र, सौराष्ट्र एवं गांधार क्षेत्रों से मगध साम्राज्य के उदय से पूर्व की मुद्राएं मिलती हैं।

अजातशत्रु के मगध साम्राज्य की बागडोर सम्हालने के साथ ही समस्त भारतवर्ष के निमित्त एक ही तौल के सिक्के प्रचलित किए गए जो द्वितीय शताब्दी पूर्व मगध साम्राज्य के पतन होने तक जारी किए जाते रहे। इन मुद्राओं को 'कार्षापण' अथवा 'पण' के नाम से जाना जाता है। इनके छोटे स्वरूप को 'मेषक' नाम दिया गया है। लेकिन द्वितीय शताब्दी ई०पू० में किसी समय इनके मुद्रण में व्यवधान उपस्थित हुआ, जिसके फलस्वरूप इनकी उपलब्धता में अतिशय हास हुआ। फलतः कतिपय स्थानों पर इन मुद्राओं को ढलाई अथवा डाटू के माध्यम से मुद्रित किया जाने लगा। झूसी, शिशुपालगढ़, मथुरा, कोंडापुर, एन से उपलब्ध मृद, मूषिकाएं इनके उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र के अनुसार ताम्रधातु की आहत मुद्राएं भी प्रचलित थीं। ये मुद्राएं हमें उज्जैन, मगध, विदिशा, अंग, मथुरा एवं मेवाड़ प्रदेशों से प्राप्त हुई हैं। तत्पश्चात् ताम्र मुद्राएं मूषिकाओं में ढालकर भी बनाई जाने लगीं जो प्रायः समस्त उत्तरी भारतवर्ष में लोकप्रिय थीं। इनका प्रचलन समय तीसरी शताब्दी ई०पू० से तीसरी शताब्दी तक का आंका जाता है।

326 ई०पू० में अलेक्जेंडर के भारतवर्ष प्रवेश के साथ ही भारतीय मुद्रा इतिहास में आमूल-चूल परिवर्तन परिलक्षित होता है। और एक नई पद्धति के सिक्के प्रकाश में आते हैं। इन सिक्कों में शासकों तथा

उनकी मान्यता प्राप्त देवी देवताओं की छवियां प्रथम बार अंकित की गईं। पुरु के साथ हुए युद्ध में विजय प्राप्त कर अलेक्जेंडर ने चांदी के डेका ड्रेचम एवं टेट्राड्रेचम सिक्के जारी किए। अलेक्जेंडर के मरणोपरांत उसके उत्तराधिकारियों एवं क्षत्रपों द्वारा सिक्के मुद्रित किए जाते रहे और अब तक लगभग बाईस बेक्ट्रियन शासकों द्वारा जारी सिक्के ज्ञात हो चुके हैं। स्वर्ण मुद्रा सर्वप्रथम इन्हीं शासकों में से एक डायोडोटस द्वारा मुद्रित की गई। संसार की सबसे पहली निकेल धातु से बनी मुद्राएं भी इन्हीं शासकों द्वारा यहां जारी की गईं। स्टैटो द्वितीय द्वार शीशे से बने सिक्के भी प्रचलित किए गए। इनके सिक्कों में प्रथम बार लिपि का उपयोग किया गया। ग्रीक भाषा तथा खरोष्ठी लिपि में प्राकृत भाषा का उपयोग इनके सिक्कों पर हुआ है। कुछ शासकों द्वारा ब्राह्मि लिपि का भी प्रयोग किया गया है।

लगभग 135 ई०पू० से 75 ई०पू० तक 'शक' लोगों ने बेक्ट्रियन शासन का अंत कर इन्हें भारतवर्ष से विस्थापित कर दिया। इन शक शासकों में सर्वप्रथम माओस एवं वोनोन के चांदी तथा ताम्र धातुओं में मुद्रित सिक्के प्राप्त हुए हैं। इनके उत्तराधिकारी एजेज प्रथम के सिक्के बहुलता से पाए जाते हैं। इसके बाद भी कई शक-पहलवों के सिक्के पाए गए हैं। प्रथम शताब्दि के लगभग कुषाणों के आविर्भाव के साथ ही इन शक-पहलव शासकों का अंत हुआ।

कुषाण चीन की सीमावर्ती क्षेत्र विशेष की घुमंतू जनजातियां थीं जिन्हें यू-ची कहा जाता था। इन्हीं की एक शाखा क्यू-शुआंग (कुषाण) ने उत्तरी भारतवर्ष में अपने शासन को फैलाया। इन्होंने पूर्व में वाराणसी तक अपने राज्य को स्थापित किया तथा पश्चिम में भी भारतीय सीमाओं को उल्लंघित किया। इस तरह से इन्होंने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की जो लगभग एक शताब्दि तक कायम रहा। इन शासकों में सर्वप्रथम कुजुल कडफिसेज ने ताम्रमुद्राएं जारी कीं। इसके पुत्र विमा कडफिसेज ने सर्वप्रथम भारतवर्ष में सोने के विभिन्न परिमाणों के प्रचुर मात्रा में सिक्के प्रचलित किए। इन मुद्राओं को हम चौथाई दीनार, दीनार तथा दो दीनार के रूप में जानते हैं। विमा कडफिसेज की ताम्रमुद्राओं पर शिव की छवियां भी अंकित हैं जो यह दर्शाती हैं कि वह भारतीय शैव परम्परा से अत्यधिक प्रभावित रहा होगा। विमा कडफिसेज के उत्तराधिकारी हुविष्क प्रथम तथा कनिष्क प्रथम ने भी क्रमशः सिक्के जारी किए। कनिष्क प्रथम ने शिव की छवि वाले सिक्के तो जारी किए ही साथ ही बुद्ध के नाम वाले सिक्के भी मुद्रित करवाए। कनिष्क प्रथम के पश्चात् हुविष्क द्वितीय, हुविष्क तृतीय, वासुदेव प्रथम, वासुदेव द्वितीय, वासुदेव तृतीय, कनिष्क द्वितीय, वसिष्क, कनिष्क तृतीय तथा मस्र ने क्रमशः कुषाण सिक्के जारी किए। लेकिन कुषाणों का हास वासुदेव द्वितीय के समय से होने लग गया। शशेनियन राजाओं ने अरदासिर प्रथम के कार्यकाल में कुषाण क्षेत्रों को विशेषतः गांधार और हिन्दू के पश्चिमी क्षेत्रों को जीतना आरम्भ कर दिया था। इन हस्तगत क्षेत्रों पर राजपरिवार के व्यक्तियों का आधिपत्य किया जाने लगा। इन राजनयिकों द्वारा शशेनियन मुद्राओं से मिलते-जुलते सिक्के जारी किए गए। इनमें

से सापुर, अरदासिर प्रथम, अरदासिर द्वितीय, फिरोज प्रथम एवं होरमिड प्रथम, फिरोज द्वितीय, वराहरन प्रथम, वराहरन द्वितीय, होरमिड द्वितीय के सिक्के हमें प्राप्य हैं।

कुषाण राजा कनिष्क तृतीय के समय में सिन्धु नदी के पूर्वी हिस्से, जो कुषाण, अधिकार में थे वे भी नीपूनद, गदाहर, गडाखार, पयास और शक जनजातियों द्वारा हस्तगत किए जाने लगे। शकों ने तो हरियाणा तक के कुछ हिस्सों पर अधिकार कर लिया। इन्होंने भी अपने सिक्के जारी किए। तत्पश्चात् शशेनियन राजाओं द्वारा हस्तगत सीमाओं को एक अन्य जनजाति किदारा ने जीत लिया। इनके द्वारा जारी सिक्कों को 'किदारा कुषाण' सिक्कों के नाम से जाना जाता है।

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् उत्तर भारतवर्ष में छोटे-छोटे जनपद पुनः स्वतंत्र होकर अपना राज्य स्थापित करने लगे। पुष्यमित्र शुंग ने 184 ई० पूर्व में मौर्य साम्राज्य को हस्तगत कर अपने ताम्र आहत सिक्के जारी किए। उनके वंशजों ने विदिशा से भी आहत मुद्राएं जारी कीं। शुंग के पश्चात् कण्व वंशजों ने सिक्के प्रचलित किए। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त साम्राज्य के प्रारम्भ होने से पूर्व विभिन्न क्षेत्रीय, जनपदीय एवं राजकीय सिक्के विभिन्न शासकों द्वारा जारी किए गए। ये मुद्राएं आहत सिक्कों के सदृश, डाइ से बनी तथा ढलाई की भी प्राप्त होती हैं। आलेख रहित मुद्राएं गांधार, एरन, उज्जैनी एवं कौशाम्बि आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं तथा आलेख जनित मुद्राएं गांधार, वाराणसी, श्रावस्ति, उदेहिका, सुदवपा, कौशाम्बि, उज्जयिनी, एराकन्य, विदिशा, महिस्मती, कुरार, तगार, त्रिपुरी एवं पुष्कलवती से जारी की गईं। इसी प्रकार पंजाब क्षेत्र के जनजातीय गणतंत्रों यथा औदम्बर, कुनिंद एवं यौधेयों द्वारा अपने-अपने देवताओं के नाम से मुद्राएं जारी की गईं। द्वितीय श०ई०पू० में पंजाब के क्षेत्रों से जिन जनजातीय राजनयिकों ने मुद्राएं प्रचलित कीं उनमें अग्रेय, क्षुद्रक, राजन्य, शिवि, त्रिगर्त एवं यौधेय प्रमुख हैं। प्रथम श०ई०पू० में हमें औदम्बर, राजन्य, वृष्णि, वेमक एवं कुनिंद शासकों के सिक्के उपलब्ध होते हैं। प्रथम सदी के लगभग इन क्षेत्रों से हमें मालव एवं कुलुत लोगों द्वारा जारी सिक्कों की जानकारी मिलती है। इसी तरह द्वितीय शती के आते-आते एक और जनजातीय यथा अर्जुनायन के सिक्कों के बारे में पता चलता है। विदेशी आक्रमण के भय से इनमें से कतिपय जनजातियां चौथी शताब्दि तक राजस्थान की ओर प्रस्थापित होने लग गईं। उधर गंगा-यमुना के समतलीय क्षेत्रों में उपर्युक्त समय में चार प्रमुख राज्यों की स्थापना हुई यथा शूरसेन, पांचाल, कौशल एवं वत्स। शूरसेन से हमें गौमित्र एवं उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के प्राप्त हुए हैं। तत्पश्चात् शेषदत्त एवं उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के भी इस क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। दो अन्य शासकों बलभूति एवं अपलता की मुद्राएं भी हमें इस क्षेत्र में परिलक्षित हुई हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय विदेशी शासकों राजवूला एवं उसके उत्तराधिकारियों के भी सिक्के इसी क्षेत्र विशेष से प्राप्त हुए हैं।

उधर पांचाल क्षेत्र से ताम्र सिक्कों की एक पूरी की पूरी शृंखला हमें प्राप्त होती है, जिनको बीसियों शासकों ने प्रचलित किया। कौशल

क्षेत्र से मूलदेव, वायुदेव, विशाखा देव एवं धनदेव के सिक्के प्राप्त हुए हैं। तत्पश्चात् हमें नरदत्त, ज्येष्ठस्त, शिवदत्त एवं उसके उत्तराधिकारियों के सिक्के प्राप्त हुए हैं। उधर वत्स क्षेत्र से भावघोष, अश्वघोष आदि अठारह शासकों द्वारा जारी मुद्राएं प्राप्त की गई हैं। इसके पश्चात् भी हमें अन्य शासकीय वर्गों का पता चलता है, जिसमें भद्रमय, वेश्रवन, शिवमय आदि प्रमुख हैं। अंततः इस क्षेत्र से हमें रूद्र देव के सिक्के प्राप्त होते हैं जो कुषाण सिक्कों के समकक्ष हैं।

परवर्ती शुंग एवं कण्व शासकों द्वारा मुद्रित आहत ताम्र मुद्राएं हमें विदिशा-एरन क्षेत्रों से मिलती हैं। इनमें सातवाहन शासक सत एवं सातकरणी द्वारा जारी सिक्के प्रमुख हैं। सातवाहनों के पश्चात् पूर्व क्षेत्रीय क्षत्रपों द्वारा भी 350 ई० तक सिक्के जारी किए गए। प्रथम शताब्दि ई० पू० में इस क्षेत्र को शकों द्वारा अधिगृहीत किया गया था। हमूगाम, वालक, माहू एवं शोम शासकों द्वारा जारी की गई मुद्राएं अर्वाचीन ही प्राप्त हुई हैं। इन मुद्राओं के प्राप्त होने से प्राचीन जैन वाङ्मय में वर्णित शक आक्रमणों की गथाओं की सम्पुष्टि होती है। इसी प्रकार इस क्षेत्र में पद्मावती भी एक स्वतंत्र शासन के रूप में पल्लवित हुई जहां से विशाखादेव, महता, शबलसेन, अमित सेन एवं शिवगुप्त के प्रथम श० ई० पूर्व से लेकर प्रथम श० के मध्य तक सिक्के प्रचलित हुए। द्वितीय शताब्दी में हमें नाग शासन के कम से कम बारह राज्याधिकारियों के सिक्के प्राप्त हुए हैं जो चौथी शताब्दी तक निरन्तर प्रचलन में रहे। महाकौशल (त्रिपुरी) क्षेत्र से हमें मित्र, मय, सेन एवं बोधि वंशजों के सिक्के मिलते हैं। उड़ीसा क्षेत्र से भी तृतीय शताब्दि में मुद्रित पूरी-कुषाण सिक्के प्राप्त हुए हैं।

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् दक्षिण भारतवर्ष के पाण्ड्या क्षेत्रों से क्षेत्रीय शासक अफसरों द्वारा, जिनको महारथी कहा जाता था, चांदी के आहत सिक्कों के सदृश मुद्राएं जारी की गईं। डाइ से बने सिक्के भी पाण्ड्या, आंध्र एवं चोल क्षेत्रों में द्वितीय श० ई० पू० में जारी हुए। तत्पश्चात् आलेखित सिक्के भी इन क्षेत्रों से जारी हुए। मैसूर-कनारा क्षेत्र से सर्वप्रथम सदाकन नामक महाराष्ट्रीय परिवार द्वारा शीशे के सिक्के जारी किए गए। तत्पश्चात् एक अन्य परिवार 'आनन्द' द्वारा करवार क्षेत्र से सिक्के जारी किए गए। महाराष्ट्र क्षेत्र के कोल्हापुर से महारथी कुर, विलिवाय कुर, शिवालकुर, गोतमी पुत्र आदि के सिक्के जारी किए गए। अन्य एक महारथी परिवार हस्ती द्वारा भी शीशे के सिक्के जारी किए गए। इसी समय के लगभग हमें कुछ राजकीय परिवारों के सिक्के कोट लिंगल में मिलते हैं जिनमें राजा उपाधि से विभूषित किया गया है। इनमें कामवायसिरि, गोभद्र एवं सामगोप, सत्यभद्र एवं दासभद्र के सिक्के प्रमुख हैं। इसी तरह 'साद' परिवार के सिक्कों पर भी राजा की उपाधियां मिलती हैं। विदर्भ से हमें राजा सेवक के सिक्के प्राप्त हुए हैं। इनके पश्चात् सातवाहनों अथवा सातकरनी राजाओं के सिक्कों की एक शृंखला प्राप्त होती है। ये शुंग तथा कण्व शासकों के पतन के पश्चात् 27 ई० पू० में विदिशा में शासनस्थ हुए तथा अपने राज्य को पश्चिमी भारत एवं दक्कन में फैलाया। श्री सती (श्वानि) एवं श्री

सातकरनी (गौतमी पुत्र सातकरनी) ने अपना राज्य पूर्वी भारत तथा दक्कन में विस्तृत किया। उन्होंने अपने राज्य के विभिन्न स्थानों से विभिन्न प्रकार के सिक्के तांबे, चांदी, पोटीन तथा शीशे की धातुओं में प्रचलित किए। इनके पश्चात् इनके कम से कम दस उत्तराधिकारियों ने क्रमशः सिक्के जारी किए।

दक्षिण में आंध्र शासन के समकालीन रोम में बने सोने एवं चांदी की मुद्राएं रोमन व्यापारियों द्वारा भारतवर्ष में लाई जाती थीं। ये मुद्राएं दक्षिण भारतवर्ष में बहुलता से पाई गई हैं। इन सिक्कों पर कभी-कभी भारतीय शासकों के ठप्पे भी पाए जाते हैं। तीसरी शताब्दि में हमें पूर्वी दक्कन से इश्वाकु शासकों के सिक्के प्राप्त होते हैं। इसके पश्चात् हमें तमिल देश से कालभ्र शासकों के सिक्के प्राप्त होते हैं और कुछ विद्वानों के मतानुसार इन शासकों ने तीसरी शताब्दि से सातवीं शताब्दि के मध्य सिक्के जारी किए। उपर्युक्त समय में शालंकायन राजा चंद्रवर्मन, विष्णु कुंडीन तथा पूर्वी चालुक्य विसमसिद्धि के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। इसी समय में हमें रामकश्यप गोत्रीय राजाओं के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं।

पश्चिमी भारत में सातवाहनों के समकालीन शक पीढ़ी में पूर्वी क्षत्रपों के सिक्के बहुलता से प्राप्त हुए हैं। उनका राज्य गुजरात, सौराष्ट्र एवं मालवा तक फैला हुआ था। उन्होंने 310 ई० तक 250 वर्षों तक शासन किया तथा अपने सिक्के जारी किए। उनकी दो अलग-अलग शाखाओं की जानकारी हमें उनके सिक्कों ही से प्राप्त होती है। प्रथम शाखा जिसे क्षहरत कहा जाता है तथा दूसरी शाखा करदमक नाम से पहचानी जाती है। प्रथम पीढ़ी में केवल मात्र दो शासकों भूमक एवं नाहपना के ही सिक्के प्राप्त हुए हैं जबकि दूसरी शाखा के कम से कम सताईस शासकों की मुद्राएं अब तक प्राप्त हो चुकी हैं। प्रथम शाखा के प्रथम शासक भूमक ने तांबे के सिक्के जारी किए जबकि उसके उत्तराधिकारी नाहपना ने चांदी की धातु में सिक्के प्रसारित किए। करदमक क्षत्रपों ने चांदी, तांबे, शीशे तथा पोटीन धातुओं के सिक्के जारी किए। इन क्षत्रपों के समकालीन एक राजा ईश्वरदत्त की मुद्राएं प्राप्त हुई हैं जिन पर इनकी विरुदावली महाक्षत्रप बताई गई है। यह सम्भवतः उपर्युक्त पूर्वी क्षत्रपों के राज्य की सीमाओं पर कहीं राज्य करते रहे होंगे।

चौथी शताब्दि के प्रारम्भ में हम भारतीय इतिहास के स्वर्णकाल में पहुंचते हैं जब पूर्वी उत्तर प्रदेश अथवा बिहार के किसी छोटे संभाग से गुप्त साम्राज्य का उदय होता है। जो लगभग दो शताब्दियों से अधिक तक स्थापित रह सका। इनका आदि पुरुष पुरुष गुप्त हुआ जिनका प्रपौत्र चन्द्रगुप्त प्रथम 319 ई० से 350 ई० तक शासनस्थ रहा और अपने राज्य को सुदूर क्षेत्रों तक विस्तीर्ण किया। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने 350 ई० से 370 ई० तक शासन करते हुए अनेक युद्धों में विजयश्री प्राप्त की। उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया। इसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 376 ई० से 414 ई० के मध्य अपने साम्राज्य की सीमाओं को पश्चिम में कश्मीर तक तथा पूर्व में उड़ीसा तक विस्तृत किया। उसके पुत्र कुमार गुप्त ने 414 ई० से 450 ई० के मध्य अपने शासन काल में दो-दो बार अश्वमेध यज्ञ किया तथा अपने साम्राज्य में मध्य भारत के कुछ भूभाग

गुजरात एवं सौराष्ट्र के हिस्सों को संलग्न किया। लेकिन उसके राजत्वकाल के उत्तरार्द्ध में हूणों ने उसके साम्राज्य के कतिपय भूभाग को उससे छीन लिया। फलस्वरूप उसके उत्तराधिकारी स्कंदगुप्त को 455 ई० से 467 ई० तक के अपने शासन समय में अधिकतर अपनी सीमाओं की सुरक्षा में ही व्यस्त रहना पड़ा। अंत में उसने हूणों पर विजय प्राप्त करके दम लिया। बुद्धगुप्त 496 ई० में शासनारूढ़ हुआ। 500 ई० तक गुप्त साम्राज्य का पराभव प्रारम्भ हो चुका था और चंद्रगुप्त तृतीय, प्रकाशादित्य, वैन्यगुप्त, नरसिंह गुप्त, कुमार गुप्त तृतीय एवं विष्णु गुप्त शासकों के समय में क्रमशः लुप्त प्रायः हो गया, इन गुप्त शासकों की मुद्राएं अधिकांशतः सोने की प्राप्त होती हैं किन्तु चंद्रगुप्त द्वितीय ने सर्वप्रथम चांदी की मुद्राएं भी 409 ई० में प्रारम्भ कीं। इसी प्रकार तांबे से बनी मुद्राएं केवल मात्र तीन शासकों— समुद्र गुप्त, चंद्र गुप्त द्वितीय एवं कुमार गुप्त प्रथम की प्राप्त हुई हैं। शीशे से बनी मुद्राएं चंद्रगुप्त द्वितीय, कुमार गुप्त प्रथम एवं स्कंदगुप्त की प्राप्त हुई हैं। इन्हीं शासकों के समकालीन ताम्र मुद्राएं अहिछत्र से हरिगुप्त तथा जयगुप्त की प्राप्त हुई हैं। ये संभवतः शासकीय गुप्त वंशजों की ही किसी शाखा विशेष से रहे होंगे। इसी प्रकार विदिशा तथा एरन संभागों से कुछ छोटे ताम्र सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर रामगुप्त का नाम अंकित है। यह चंद्रगुप्त द्वितीय का भाई था। चीन की सीमाओं पर बसने वाली जनजाति हूण की एक शाखा ने पांचवीं शती में हिन्दुकुश पारकर गांधार क्षेत्र को हस्तगत कर लिया था तथा गुप्त साम्राज्य के भूभाग की ओर बढ़ने लगे थे। लेकिन गुप्त सम्राट स्कंद गुप्त ने उनका डटकर मुकाबला किया तथा अंततः उन्हें अपनी सीमाओं से पुरे हटा दिया। इन हूणों ने पुनः एक बार छठी शताब्दि के प्रारम्भ में तोरमाण के नेतृत्व में भारतवर्ष पर आक्रमण किया तथा पंजाब के रास्ते से उन्होंने पूर्वी भारत तथा मालवा के एक विशाल भूभाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल ने उत्तरी भारत के भी हिस्सों को अधीनस्थ कर शकाल में अपनी राजधानी स्थापित किया। उसने 528 ई० में कश्मीर पर भी अपना राज्य स्थापित की। उसने 528 ई० में कश्मीर पर भी अपना राज्य स्थापित किया। इन हूणों ने हस्तगत भूभाग पर अपने सिक्के प्रचलित किए। इन्होंने परवर्ती कुषाण तथा गुप्त सिक्कों सदृश चांदी तथा तांबे के सिक्के जारी किए।

उधर पश्चिम भारत में गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरांत त्रेकुटक शासकों ने गुजरात के दक्षिणी भूभाग को हस्तगत कर चांदी की मुद्राएं जारी कीं। दहरा सेन तथा व्याघ्र सेन नामक राजाओं की उपर्युक्त रौप्य मुद्राएं हमें पांचवीं शताब्दि के उत्तरार्द्धकाल में मिली हैं। इसी प्रकार पूर्वी भारत में मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र तथा संलग्न उड़ीसा क्षेत्र से भी हमें सोने के पतले सिक्के पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और छठी शताब्दी के प्रारंभ के प्राप्त होते हैं। इन सिक्कों से हमें वराह राजा, भावदत्त राजा और अर्थपति राजा के बारे में जानकारीयां उपलब्ध होती हैं। इन्हीं की एक अन्य शाखा के राजाओं— प्रसन्नमात्र, महेन्द्रादित्य और क्रमादित्य के भी सिक्के पाए गए हैं।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत के राजनैतिक क्षेत्र में अत्यधिक उथल-पुथल परिलक्षित होती है और मुस्लिम शासकों के बारहवीं शताब्दी में आने से पूर्व के काल में सिक्कों की निरन्तरता में भी हास हुआ। इसी समय के लगभग बंगाल में समाचर देव एवं जयगुप्त ने सोने की मुद्राएं छठी शताब्दि में जारी कीं। सातवीं शताब्दि में गौड़ राजा शशांक ने निम्न स्वर्ण धातु के सिक्के ढाले। हमें एक अन्य राजा बीरसेन का भी सिक्का इसी समय में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् भी गुप्त राजाओं के अनुकरण वाले सिक्के बंगाल, आसाम आदि क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं। 810 ई० के आसपास हमें देवपाल राजा के सोने के सिक्के भी मिलते हैं।

उधर उत्तर प्रदेश से हमें थानेश्वर के प्रसिद्ध सम्राट हर्षवर्द्धन के सिक्के प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् आठवीं-नवीं सदी के मध्य वत्सदमन, वप्पुका, केशव और आदि वराह की मुद्राएं प्राप्त होती हैं। गुप्त शासकों से मिलती-जुलती रौप्य मुद्राएं कान्यकुब्ज से ईसान वर्मन, सर्ववर्मन और अवन्ति वर्मन की 550 से 600 ई० के मध्य की प्राप्त होती है, इसी तरह प्रभाकर वर्धन और शिलादित्य की थानेश्वर से प्राप्त होती हैं। गुप्त सम्राटों की पश्चिमी भारतीय परिमाण की रौप्य मुद्राओं का कलचूरी साम्राज्य के कृष्ण राजा ने अनुसरण किया। इस प्रकार के सिक्के जिन पर एक ओर बैल अंकित है, भारत के विशाल भूभाग - मालवा, नासिक, मुंबई, सतारा, सलसेत, बेतुल, अमरावती, राजस्थान इत्यादि क्षेत्रों से पाए गए हैं।

आठवीं सदी में हमें चांदी के छोटे-छोटे सिक्के मध्य भारत एवं पूर्वी भारत से प्राप्त हुए हैं। इन्हें प्रतिहार राजा 'वत्सराज' ने प्रचलित किया था। इसी प्रकार के सिक्के बारहवीं श० में गुजरात एवं सौराष्ट्र से चालुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज के नाम से मिलते हैं। हूणों द्वारा प्रसारित सिक्कों के अनुसरण किए सिक्के इस समय में राजस्थान, गुजरात एवं मालवा से बहुतायत में उपलब्ध हुए हैं। इन्हें हिन्द-शैलियन सिक्कों के नाम से जाना जाता है। प्रारम्भ में ये सिक्के पतले किन्तु बड़े आकार के होते थे परन्तु शनैः शनैः इनका आकार छोटा होता गया। इन उत्तरार्द्ध सिक्कों को "गधैया" सिक्कों के नाम से जाना जाता है। उधर उत्तर प्रदेश से हमें विग्रहपाल के सिक्के प्राप्त हुए हैं। इसके साथ ही हमें प्रतिहार राजाओं— भोज प्रथम, तथा उसके पुत्र विनय कपाल के सिक्के भी मिले हैं। उक्त समय में कोंकण क्षेत्र से शील हरा राजा छितराजा के गधैया प्रकार के सिक्के भी प्रकाश में आए हैं। इसी प्रकार के सिक्के राजस्थान से भी प्राप्त हुए हैं। इन पर सोमलेखा का नाम मुद्रित है जो संभवतः 1133 ई० में राज्य कर रहे साकंभरी राजा अजय पाल देव की पत्नी रही होगी। गधैया सिक्के जो मध्य प्रदेश से प्राप्त हुए हैं वे संभवतः ओंकार मान्याता द्वारा जारी किए गए थे। ये सिक्के प्रायः तांबे अथवा निम्न रौप्य धातुओं से बने थे, जिन्हें बिलन कहा जाता है। इसी समय में पंजाब क्षेत्र से तांबे की धातु के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं जिन पर जिसु का नाम मुद्रित किया गया है। कश्मीर में आठवीं श० में कारकोता राजाओं ने तांबे एवं चांदी मिश्रित सोने के सिक्के

जारी किए। इसके पश्चात् उत्पल राजाओं ने यहां से ताम्र सिक्के जारी किए।

नौवीं सदी के उत्तरार्द्ध में शाही शासकों द्वारा तांबे और चांदी की मुद्राएं गांधार तथा काबुल-अहिंद क्षेत्रों से प्राप्त हुई हैं।

इन सिक्कों के एक ओर घुड़सवार तथा दूसरी ओर बैल को मुद्रित किया गया है। इन्हें स्पलपति देव ने भी प्रसारित किया तथा अन्य अनेक शासकों ने भी इन्हें अपनाया। इन सबमें सामंत देव सर्वप्रसिद्ध हुए हैं। ये सिक्के समस्त उत्तरी भारतवर्ष में बहुप्रचलित हुए। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के मध्य भी बहुत से राजाओं ने इस प्रकार के सिक्के जारी किए। सामंत देव के नाम के सिक्के अन्य राजाओं ने भी जारी किए जिनमें तोमर राजा सलक्षण पाल, अनंग पाल तथा महिपाल देव प्रमुख हैं। इसके पश्चात् हमें मदनपाल के गढ़वाल क्षेत्र से मुद्रित सिक्के 1080 से 1115 के मध्य प्राप्त होते हैं। इनके पश्चात् साकंभरी के चौहान राजाओं के सिक्के भी हमें प्राप्त होते हैं। इनमें सोमेश्वर देव एवं पृथ्वीराज के सिक्के प्राप्य हैं। 1200 ई० में हमें बदायूं के राजा अमृतपाल के इसी प्रकार के मिलते-जुलते सिक्के प्राप्त हुए हैं। इसके पश्चात् हमें प्रतिहार राज्य के मलय वर्मन के सिक्के प्राप्त हुए हैं तथा नरवार से चाहड़ देव, आसल देव और गणपति देव के 1235 से 1298 ई० के एक ही प्रकार के सिक्के प्राप्त हुए हैं। त्रिपुरी क्षेत्र से कलचूरी राजा गाणेश देव ने ग्यारहवीं शताब्दी में सोने के सिक्के जारी किए जिन पर लक्ष्मी की छवि अंकित की गई है। ये मुद्राएं रौप्य एवं ताम्र दोनों ही धातुओं में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार की लक्ष्मी छवि वाली मुद्राएं मालवा के परमार राजाओं उदयादित्य तथा नरवर्मन ने भी प्रसारित कीं। चंदेलों ने भी इसी से मिलती-जुलती मुद्राएं ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी के मध्य प्रचारित कीं। इसी तरह गढ़वाल से गोविंद चंद्र देव, शाकंभरी से चौहान राजा अजयराज तथा बयाना के यदु राजाओं अजयपाल, कुमारपाल तथा महिपाल ने भी इसी प्रकार की मुद्राओं को प्रसारित किया। इसी समय की एक प्रसिद्ध मुद्रा पर रामचंद्रजी की छवि का अंकन किया गया था जिसे संभवतः विग्रहराज ने मुद्रित किया था। रतनपुर के कलचूरी राजाओं द्वारा भी तांबे से बने हनुमान की छवि वाले सिक्के प्रसारित किए गए जो अत्यधिक लोकप्रिय हुए। इसी प्रकार हनुमान की छवि अंकित सिक्के चंदेला शासकों ने भी जारी किए थे।

उधर मुद्दू दक्षिण भारत के मैसूर और कनारा क्षेत्रों से कदंब शासकों ने दसवीं-ग्यारहवीं शती में सोने के पद्म-टंका सिक्के प्रचलित किए। इन्हें बनाने के लिए आहत मुद्राओं के मानिंद विधि का अनुसरण किया गया। इनके दोनों ही हिस्सों पर अंकन किया गया। पूर्वी तथा पश्चिमी चालुक्यों, चोलों एवं यादवों ने भी आहत विधि को अपनाया। परन्तु इनके सिक्कों को केवल एक ही छोर पर मुद्रित किया जाता था। पूर्वी चालुक्यों में शक्ति वर्मन, राजा-राज प्रथम के सिक्के न केवल दक्षिण भारत में ही वरन् बर्मा के आराकन क्षेत्र तक विस्तारित हुए। इन्हीं के वंशज राजेन्द्र कुलोदुंगा प्रथम ने कंटाई एवं केरल विजय के उपलक्ष में सिक्के मुद्रित किए। पश्चिमी चालुक्यों में जयसिंह द्वितीय, सोमेश्वर द्वितीय और विक्रमादित्य ने 1015 से 1126 के मध्य सोने के आहत सिक्कों का मुद्रण किया। इन चालुक्यों का पराभव करने वाले विज्जल

त्रिभुवन मल्ल ने इसी प्रकार के सिक्के 1156 से 1181 ई० में जारी किए।

कदंब शासकों की हंगल शाखा द्वारा हनुमान छवि वाली मुद्राएं प्रसारित की गईं। देवगिरि के यादवों ने भी सोने की आहत मुद्राएं प्रचलित कीं। चिल्लम, पंचम, सिंघाना, कृष्ण, महादेव, रामचंद्र राजाओं ने 1185 से 1310 ई० के मध्य विभिन्न प्रकार की मुद्राएं जारी कीं। कुछ सोने के विचित्र अंग्रेजी के 'वी' प्रकार के सिक्के सतारा से प्राप्त हुए हैं। ये संभवतः ग्यारहवीं श० में चालुक्य राजाओं द्वारा प्रसारित किए गए थे। डाई द्वारा मुद्रित स्वर्ण मुद्राएं जयकेशी प्रथम, शोमी देव, शिवचित्त एवं हेम्मदि देव द्वारा जारी की गईं। होयशाला के विष्णु वर्धन और नरसिंह ने भी उपर्युक्त प्रकार के सोने के सिक्के 1115 से 1171 शती के मध्य प्रसारित किए। बीजापुर, बेलगाम तथा धाड़बार क्षेत्रों से बारहवीं शताब्दी में शासनस्थ बर्मा-भूपाल द्वारा सिक्के प्रचलित किए गए। कतिपय लेख रहित छोटे सोने के सिक्के प्राप्त होते हैं जिन्हें कोल्हापुर के शिलहारों द्वारा जारी किया गया बताते हैं। मैसूर से प्रसारित छोटे स्वर्ण धातु निर्मित सिक्कों को 'गजपति पगोड़ा' के नाम से जाना जाता है। उधर उड़ीसा में निर्मित कुछ पतले सोने के छोटे सिक्के गंगा राजाओं द्वारा ग्यारहवीं सदी तक जारी हुए। चोल राजाओं ने सर्वप्रथम तमिल देश से चांदी की मुद्राएं जारी कीं। इनके सर्वप्रथम राजा उत्तर चोल ने ये मुद्राएं सबसे पूर्व प्रचलित कीं। इसी प्रकार की मुद्राएं उसके उत्तराधिकारियों राजा-राज प्रथम (985-1016 ई०) राजेन्द्र चोल (1011-1043) द्वारा भी प्रसारित की गईं।

इसी समय में हमें पाण्ड्या राजाओं द्वारा जारी विभिन्न प्रकार के सिक्के भी प्राप्त होते हैं। 1127 ई० में हमें वीर केरल वर्मन के चांदी के सिक्के मिले हैं जिन पर मगरमच्छ की आकृति मुद्रित की गई है। 1336 ई० में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के साथ हमें तीन पीढ़ियों के शासकों की जानकारी मिलती है जिन्होंने 1565 ई० तक इस क्षेत्र पर शासन किया। सन् 1336 से 1356 के मध्य संगम पीढ़ी के प्रथम शासक हरिहर ने हनुमान और गरुड़ को अपने सिक्कों में स्थान दिया। उसके उत्तराधिकारी बुक्का प्रथम ने भी इसी प्रकार के सिक्के जारी किए। हरिहर द्वितीय के सोने के सिक्के पर उमा महेश्वर, लक्ष्मी नारायण एवं लक्ष्मी नरसिंह इत्यादि अंकित किए गए। अन्य एक शासक देवराम ने 1422 से 1466 ई० में उमा महेश्वर प्रकार के सिक्कों को जारी रखा। तत्पश्चात् हमें 1506 से 1570 ई० के मध्य तुलुभ शासकों के सिक्के प्राप्त होते हैं। विजयनगर के शासकों के पराभव के साथ ही विभिन्न छोटी-छोटी रियासतों ने अपने सिक्के जारी किए। इनमें मदुरा, तंजोर एवं तिनेवेली के नायक एवं रामनद के सेतुपति प्रमुख हैं। सन् 1291-1323 ई० के मध्य हमें काकतिया शासकों द्वारा प्रचलित सिक्के भी प्राप्त होते हैं।

कासिम के पुत्र इमामुद्दीन के सिंध प्रदेश में 712 ई० में प्रवेश के साथ ही मुसलमानों का वर्चस्व भारतवर्ष में प्रारम्भ हुआ। उसके अधिकारियों द्वारा छोटे-छोटे चांदी के सिक्कों का प्रचलन किया गया। इसके पश्चात् उत्तर पश्चिमी भारत पर गजनी के शासक महमूद ने 1001 से 1021 के मध्य कई आक्रमण किए तथा विभिन्न प्रकार के सिक्के भी प्रचलित किए। बाद में भी उसने 1028 ई० में लाहोर से सिक्के

प्रसारित किए। महमूद के परवर्ती उत्तराधिकारियों ने गौर के शासकों ने गजनी को हस्तगत कर लाहौर को अपनी राजधानी बनाया और 1051 ई० के लगभग वहां से सिक्के जारी किए। इन गजनवी शासकों में से हमें फारुखजाद (1052-1059 ई०), इब्राहिम (1059-1099 ई०), बहरामशाह (1118-1152 ई०) और खुशरू मलिक (1160-1187 ई०) के सिक्के प्राप्त हुए हैं। खुशरू मलिक को अपदस्थ करके मुहम्मद गोरी ने 1192 ई० में थानेश्वर की लड़ाई में पृथ्वीराज चौहान को परास्त कर भारत में प्रथम मुस्लिम साम्राज्य की नींव डाली। उसने सोने, ताम्र मिश्रित चांदी के (बिलन) तथा तांबे के सिक्के जारी किए। इसके पश्चात् हमें महमूद, ताजुद्दीन इलदीज, कुतुबुद्दीन ऐबक, इल्तुतमिश (1211-1236 ई०), रुकनूद्दीन फिरोज शाह (1235 ई०), जलालुद्दीन, रजिया (1236-1240 ई०), मोयजुद्दीन, बहराम शाह (1240-1242 ई०), गयासुद्दीन बलबन (1266-1287 ई०), मोयजुद्दीन केकुबाद (1287-1290 ई०), शमशुद्दीन कैयूमास (1290 ई०) के सिक्के प्राप्त होते हैं। 1290 ई० में भारत का शासन अन्य खिलजी शासकों को हस्तान्तरित हो गया। इनमें से हमें जलालुद्दीन फिरोज (1290-1296 ई०), रुकनूद्दीन इब्राहिम (1296 ई०), अलाउद्दीन मुहम्मद शाह (1296-1316 ई०), कुतुबुद्दीन मुबारक शाह के सिक्के प्राप्त हुए हैं। वे 1320 ई० में शासनारूढ़ हुए। इनमें हमें गयासुद्दीन तुगलक, मुहम्मद बिन तुगलक, फिरोज शाह तुगलक, तुगलक द्वितीय (1388 ई०), अबूबकर (1318 ई०), मुहम्मद बिन फिरोज (1389-1392 ई०), सिकंदर (1392 ई०) और महमूद (1392-1412) के सिक्के प्राप्त होते हैं। इसी बीच सन् 1398 ई० में तैमूर ने दिल्ली के सिंहासन पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। तत्पश्चात् तुगलक साम्राज्य के अंतिम वंशधर महमूद के मरणोपरांत उसके राजदरबारियों ने शासन की बागडोर दीलत खान लोदी के हाथों में सौंप दी। वह 1413 ई० में राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, लेकिन उसे भी खिजरखान ने राज्यच्युत कर सैय्यद वंश का वर्चस्व स्थापित किया। बाद में मुबारक शाह, मुहम्मद बिन फरीद, आलमशाह इत्यादि ने सिक्के जारी किए। सन् 1451 ई० में बहलोल लोदी ने शासन की डोर सम्भाली। उसके उत्तराधिकारी सिकंदर लोदी इब्राहिम लोदी हुए जिन्होंने अपने सिक्के प्रचलित किए। 1526 ई० में इब्राहिम लोदी को पानीपत के युद्ध में मारकर बाबर ने मुगल साम्राज्य की नींव डाली। लेकिन उसके उत्तराधिकारी हुमायूँ को शेरशाह सूरी ने 1540 ई० में हटाकर सूरी शासन स्थापित किया। उसने चांदी तथा तांबे के कई सिक्के कई जगहों से प्रसारित किए। इसके उत्तराधिकारी शासकों— इस्लाम शाह (1545-1552 ई०), मुहम्मद आदिल शाह (1552-1553 ई०), इब्राहिम (1553 ई०), सिकंदर सूरी (1554 ई०) ने क्रमशः सिक्के जारी किए। शेरशाह ने ही सर्वप्रथम चांदी के सिक्कों का नाम रुपया रखा जो आज भी प्रचलित है।

उपर्युक्त दिल्ली सुलतानों के उच्चाधिकारी जो विभिन्न क्षेत्रों में नियुक्त किए जाते थे जब कभी केन्द्रीय शासन में शिथिलता का आभास पाते अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर अपने सिक्के प्रचारित करने लगते।

इस तरह के सिक्के हमें बंगाल, गुजरात, मालवा और जौनपुर क्षेत्रों के विभिन्न पदाधिकारियों द्वारा जारी किए मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कश्मीर क्षेत्र से हमें स्वतंत्र राजाओं के सिक्के भी इस समय में मिलते

हैं। सुदूर दक्षिणी क्षेत्रों— मदुरा, दक्कन (बहमनी), बरार (इमाद शाही), अहमदनगर (निजाम शाही), बीजापुर (आदिल शाही), तेलंगाना (कुतुबशाही), बीदार (बारिदशाही) से प्रसारित सिक्के भी हमें प्राप्त हुए हैं।

पानीपत के युद्ध में सन् 1526 ई० में इब्राहिम लोदी को परास्त कर जहूरुद्दीन बाबर ने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली थी लेकिन उसके उत्तराधिकारी हुमायूँ को सन् 1542 ई० में शेरशाह सूरी ने पदच्युत कर दिया था। परन्तु उसने पुनः दिल्ली को हस्तगत कर लिया। सन् 1556 ई० में उसके पुत्र अकबर ने शासन भार सम्भाला। इन तीनों मुगलशासकों के विभिन्न प्रकार के सिक्के हमें प्राप्त होते हैं। इनके पश्चात् क्रमशः हमें जहांगीर (1605-1627 ई०), दावर बख्श (1627 ई०), शाहजहां (1628-1658 ई०) मुराद बख्श (1658 ई०), शाहसूजा (1657-1660 ई०), औरंगजेब (1658-1707 ई०), आजमशाह (1707 ई०), कामबख्स (1707-1708 ई०), शाह आलम बहादुर (1707-1712 ई०), अजिमुसान (1712 ई०), जहांदारशाह (1712 ई०), फारुखसियर (1713-1719 ई०), निकुसियर (1719 ई०), रफूदरजात (1719 ई०), शाहजहां द्वितीय (स्फूर्वैला, 1719 ई०), मुहम्मद इब्राहिम (1720 ई०), मुहम्मद शाह (1719-1748 ई०) अहमदशाह बहादुर (1748-1754 ई०), आलमगीर द्वितीय (1754-1759 ई०), शाहजहां तृतीय (1759-1760 ई०), शाह आलम द्वितीय (1759-1806 ई०), बेदार बख्त (1788 ई०), मुहम्मद अकबर द्वितीय (1806-1837 ई०) तथा बहादुर शाह द्वितीय (1837-1858 ई०) के सिक्के विभिन्न आकार, धातुओं और स्थानों से मुद्रित मिलते हैं।

उपर्युक्त मुस्लिम एवं मुगल शासकों के बढ़ते हुए वर्चस्व के फलस्वरूप चौदहवीं और सोलहवीं सदी के मध्य यद्यपि हिन्दू शासन का बने रहना दूभर हो गया था तथापि हमें कतिपय हिन्दू राजाओं द्वारा मुद्रित सिक्के इस समय के कांगड़ा, मध्य भारत के गोंड शासकों, मिथिला, आसाम आदि स्थानों से प्राप्त होते हैं।

मुगल साम्राज्य के पतन के उपरांत हमें मराठा शक्ति के उदय की झलक मिलती है। जब सत्रहवीं शती में महान् शिवाजी द्वारा कोंकण क्षेत्र में अपना राज्य स्थापित किया गया। उन्होंने तथा उनके उत्तराधिकारियों ने राज्य के क्षेत्रफल को अत्यधिक विस्तृत किया। मराठा शक्ति को पेशवाओं के पदार्पण से और अधिक ऊर्जा मिली। इनके विभिन्न प्रकार के सिक्के हमें मिलते हैं। उधर उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में सन् 1739 में नादिरशाह ने आक्रमण कर दिल्ली तक के क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया था। नादिरशाह का कत्ल उसी के एक अधिकारी अहमदशाह द्वारा सन् 1747 में कर दिया गया। इन दुर्गामी शासकों ने भी अपने सिक्के इस समय में प्रसारित किए।

उधर अहमदशाह दुर्गामी के पंजाब क्षेत्र में लगातार हुए हमलों के फलस्वरूप सिक्खों की लीग 'खालसा' का उदय हुआ और उन्होंने 1710 ई० में अहमदशाह की राजधानी सरहिन्द को तहस-नहस कर दिया। इनके नेता 'बंदा' (सच्चा बादशाह) द्वारा सिक्के प्रचलित किए गए। सन् 1777 ई० के आसपास नानक शाही सिक्कों का प्रचलन अमृतसर से किया गया। इसके पश्चात् राजा रणजीत सिंह द्वारा भी सिक्के मुद्रित किए गए। मालेरकोटला, जिंद, नाभा, कैताल और कश्मीर के डोगरा

राजाओं ने भी रणजीत सिंह के सिक्कों का अनुसरण किया।

सन् 1727 ई० में अवध के नवाबों द्वारा बनारस से सिक्के मुद्रित किए जाने लगे। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बनारस क्षेत्र को हस्तगत कर लिए जाने के उपरांत असफउद्दौला और उसके उत्तराधिकारियों ने लखनऊ से सिक्के प्रसारित किए। रोहिल खंड के अवध शासन में मिल जाने के पश्चात् वहां से भी इनके सिक्के जारी हुए। बाद में गाजीउद्दीन हैदर, नसिरुद्दीन हैदर, मुहम्मद अली, अमजद अली, वाजिद अली ने क्रमशः सिक्के मुद्रित किए। 1857 ई० में जब भारत वर्ष में अंग्रेजों के विरुद्ध बगावत का आरम्भ हुआ तब अवध में ब्रिजिस कादिर को नवाब वजीर बनाया गया और उसके द्वारा प्रचलित कुछ सिक्के हमें इस अवधि में प्राप्त हुए हैं।

उधर मैसूर क्षेत्र में सन् 1761 ई० में हैदरअली द्वारा सत्ता सम्भाल लिए जाने के पश्चात् हम विभिन्न प्रकार के सिक्के वहां से प्रचलित हुए देखते हैं। उसके पुत्र टीपू सुल्तान ने भी बहुत सी धातुओं में विभिन्न प्रकार के सिक्कों का प्रचलन किया। टीपू सुल्तान की मृत्यु के उपरांत सन् 1799 ई० में मैसूर की सत्ता छः वर्षीय कृष्ण राजा वाडियार को हस्तान्तरित की गई। उसके नाम से भी सिक्कों का प्रचलन हुआ।

पंद्रहवीं शताब्दी से हम पुर्तगाली, डच, डेनिस, अंग्रेजों एवं फ्रांसिसियों का भारतवर्ष में प्रवेश देखते हैं। व्यापार के साथ-साथ इन्होंने स्थानीय राजनीति में भी सक्रिय भाग लिया तथा भारतीय भूभाग को हथिया कर विभिन्न स्थानों से अपने व्यापारिक संस्थानों के नाम से सिक्कों का प्रचलन किया। इन व्यापारिक संस्थानों में पुर्तगालियों ने सर्वप्रथम वास्कोडिगामा के नेतृत्व में सन् 1498 में कालीकट में प्रवेश किया और उन्होंने बाद में ड्यू, दमन, सलसेत, बेसिन, चोल और मुंबई में तथा सान थोम, हुगली में अपने उपनिवेश स्थापित किए। धीरे-धीरे ये क्षेत्र उनके हाथों से निकलते गए और अंततः 1961 ई० में द.यू. दमन और गोआ को भी स्वतंत्र भारतवर्ष में सम्मिलित कर लिया गया। डच लोगों द्वारा प्रथम व्यावसायिक संस्थान पुलिकर में सन् 1609 में खोला गया तथा सन् 1616 तक उन्होंने सूरत में भी संस्थान स्थापित किया। मालाबार क्षेत्र, मछलीपत्तन, हुगली, कासिम बाजार, ढाका, पटना तथा सूरत, अहमदाबाद और आगरा में भी उनके द्वारा व्यापारिक क्रियाएं चालू की गईं तथा 1759 में चिनसुरा के युद्ध में क्लाइव द्वारा हराए जाने तक उन्होंने विभिन्न जगहों से अपनी कंपनी के सिक्के प्रसारित किए। इसी तरह सन् 1620 में डेनिस लोगों ने नायक शासकों से टूकेबार को प्राप्त किया तथा बाद में पोर्टो नोवो और बंगाल में श्रीरामपुर और बालासोर में भी अपने उपनिवेश स्थापित किए। लगभग दो शताब्दियों तक इन स्थानों से डेनिस लोगों द्वारा सिक्के प्रचलित किए जाते रहे। फ्रांसीसी लोगों द्वारा ली गई अपनी प्रथम औद्योगिक इकाई सन् 1668 में सूरत में स्थापित की तथा सन् 1669 में अन्य इकाई मछलीपत्तन में स्थापित की। 1673 ई० में उन्होंने वालिकोंडिपुरम के गवर्नर से एक गांव प्राप्त कर पांडीचेरी की स्थापना की। बंगाल में भी उन्होंने सन् 1690 में चंदननगर में औद्योगिक इकाई की स्थापना की। सन् 1725 में उन्होंने माहे को तथा 1734 में कारीकल को अधिग्रहित कर लिया। लेकिन 1815 ई० तक फ्रांसिसियों को अंग्रेजों के हाथों राजनैतिक असफलताओं का सामना

लगातार करना पड़ा। इस अवधि के मध्य उन्होंने विभिन्न प्रकार की मुद्राएं विभिन्न आकार-प्रकार एवं धातुओं में प्रचलित कीं।

सन् 1613 ई० में अंग्रेजों को जहांगीर द्वारा सूरत में व्यावसायिक प्रतिष्ठान प्रारम्भ करने की अनुमति दिए जाने के साथ ही उनका भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश होता है। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने अपने व्यापारिक संस्थान आगरा, अहमदाबाद और भरोच में भी स्थापित किए। सन् 1668 ई० में अंग्रेजों ने पुर्तगालियों से मुंबई को चार्ल्स द्वितीय की कैथरीन के साथ विवाहोपलक्ष में दहेज के रूप में प्राप्त किया। धीरे-धीरे उन्होंने विभिन्न जगहों में व्यापारिक संस्थान खोले और सत्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक अपने व्यवसाय को सर्वत्र भारत में फैलाया। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से उन्होंने राजनैतिक एवं सामरिक हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया और 1834 ई० तक उन्होंने समस्त भारतवर्ष पर अपना कब्जा स्थापित कर लिया। यद्यपि 1857 में भारतीय लोगों ने उनके विरुद्ध आंदोलन शुरू कर दिया था परन्तु हमें स्वतंत्रता सन् 1947 में जाकर मिली तथा अंग्रेजी साम्राज्य का अंत हुआ। इस लम्बी अवधि में अंग्रेजों ने भी विभिन्न आकार-प्रकार के सिक्कों का मुद्रण किया।

स्वाधीन भारत ने सन् 1950 तक किसी भी प्रकार के सिक्के नहीं प्रचलित किए। 1950 के 15 अगस्त के दिन पहला भारतीय सिक्का जारी किया गया। सन् 1957 में भारत वर्ष में दसमलव प्रणाली के सिक्के प्रचलित किए गए जिन्हें “नया पैसा” कहा जाता था। ये सिक्के 1 जून, 1964 तक निरन्तर प्रचलन में रहे। इसके बाद से “नया पैसा” शब्द को सिक्कों से हटा दिया गया। इनके अतिरिक्त बहुत से महत्वपूर्ण व्यक्तियों तथा विषयों पर विशेष प्रकार के सिक्के भी प्रचलित हुए। इस तरह निरन्तर भारतीय सिक्कों का प्रचलन विभिन्न आकार-प्रकार और इकाइयों में हो रहा है और भारतीय सिक्कों की कहानी अपनी तारतम्यता बनाए रख पा रही है।

सन्दर्भ

1. कोयन्स ऑफ एन्सियेंट इंडिया - ए. कनिंघम
2. कोयन्स - सी. जे. ब्राउन
3. कोयन्स - परमेश्वरीलाल गुप्ता
4. केटलोग ऑफ कोयन्स इन द ब्रिटिश म्यूजियम - जे. एलन, एस. लेनपूल इत्यादि।
5. केटलोग ऑफ कोयन्स इन द पंजाब म्यूजियम - आर. बी. व्हाइहेड
6. केटलोग ऑफ कोयन्स इन द इण्डियन म्यूजियम - वी. स्मिथ एवं एनराइट
7. द कायनेज एंड मेट्रोलोजी ऑफ द सुल्तानस ऑफ देहली - एच. एन. राइट
8. केटलोग ऑफ कायन्स ऑफ द सुल्तानस ऑफ देहली - लखनऊ म्यूजियम, प्रयाग दयाल
9. स्टडीज इन मुगल न्युमिस्मेटिक्स - एस. एच. होडीवाला
10. कोयन्स ऑफ मीडियेवल इंडिया - ए० कनिंघम
11. केटलोग ऑफ द कोयन्स इन आसाम म्यूजियम - ए० डब्ल्यू० बोथम
12. द स्टैंडर्ड गाइड टू साउथ एसीयन कोयन्स - कोलिन आर ब्रुस, जे. एस. डायल इत्यादि।

कल्पसूत्र और चित्रकला

सभ्यता के विकास के बहुत पहले, जब मानव भाषा द्वारा अपने मन के उद्गार प्रकट करना नहीं सीख पाया था, तब वह संकेतों, रेखांकनों या चित्रों द्वारा अपने मनोन्मेषों को अभिव्यक्त करने लगा था। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ इसका रूप विविध सरणियों से गुजरता हुआ अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनता चला गया। चित्रसूत्र में इसे “कलानां प्रवरं चित्रम्” कहकर कलाओं का सम्राट घोषित किया है।

कालान्तर में मानव के समक्ष अपने आप को अतिशय भोगों से मुक्त करने की व्यग्रता व्याप्त हो गई। मुक्ति की यही कामना जैन चित्रकला का आधार बनी। लोगों के मन को अहिंसा-करुणा, शान्ति की ओर उन्मुख कर उनमें वैराग्य भाव जागृत करने का जैन मुनियों ने बीड़ा उठाया। जैन तीर्थंकरों ने अपने आप को साधना और तपश्चर्या की आग में तपाया और प्रत्येक आत्मा के उन्नयन के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। जैन-ग्रन्थों में मुनियों ने इसी आध्यात्मिक भाव-सम्पदा को जो आचार्य भद्रबाहु के समय से मौखिक रूप में चली आ रही थी, लिपिबद्ध किया। जीवन के आध्यात्मिक पहलुओं को जन-जन के हृदय में अंकुरित करने के लिए उन्होंने चित्रों का सहयोग लिया। ये चित्र उनकी उद्देश्य पूर्ति में भाषा से अधिक सशक्त सिद्ध हुए। बाद में इन्हीं चित्रों की शैली “जैन-चित्र-शैली” के नाम से प्रसिद्ध हुई।

ईसा की पांचवी शताब्दी में श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुसार गुजरात के वल्लभ के जैन साधुओं की एक संगीति हुई, जिसमें यह निर्णय किया

गया कि समस्त धार्मिक मूलपाठों को लिपिबद्ध किया जाए।¹ दसवीं शताब्दी के पूर्व के प्रारंभिक ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। इसका कारण सम्भवतः उस समय ऐसे ग्रन्थ भण्डारों का अभाव रहा होगा, जहां उन्हें सुरक्षित रखा जा सकता।

मुनि श्री कान्ति सागर का विशाल भारत पत्रिका (1947 भाग 40 अंक 6 पृ० 341-348) में, “जैन द्वारा पल्लवित चित्रकला” शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था। उन्होंने इन जैन चित्रों को ताड़पत्र, कागज तथा वस्त्रों पर निर्मित माना है।

जैन मुनियों ने स्वतन्त्र रूप से समय-समय पर हजारों “कल्पसूत्रों” की रचना की। जिनमें ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवम् महावीर का जीवन चरित्र चित्रों के साथ लिपिबद्ध किया गया है। कुछ विशिष्ट प्रतिलिपियों का विवरण यहां प्रस्तुत है।

सन् 1216 ई० का “कल्पसूत्र” जैसलमेर के भण्डार में सुरक्षित है। “कल्पसूत्र” व कालकाचार्य कथा “जिसका रचना काल 1370 ई० माना गया है, मुनि पुण्य विजय जी के संग्रह में है।” कालकाचार्य कथा में 6 चित्र हैं। ये चित्र मुदक्ष कलाकौशल के उदाहरण हैं। चौदहवीं शताब्दी का “कल्पसूत्र” अहमदाबाद के साराभाई नवाब के संग्रह में सुरक्षित है। भारतीय नाट्य, संगीत और चित्रकला तीनों ही दृष्टियों में उसका महत्व अपूर्व है। इन चित्रों में राग, रागिनी, मूर्छना, तान की योजना संगीत शास्त्र के अनुसार है। 1427 ई० का “कल्पसूत्र” इण्डिया आफिस लंदन में संग्रहीत है, इसमें 46 चित्र हैं।

कागज पर प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में सर्वोत्तम और प्रथम “कल्पसूत्र कलाकाचार्य” कथा अंकित है, जो प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम में सुरक्षित है। सन् 1415 की रचना “कल्पसूत्र कालकाचार्य” कथा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका कल्पसूत्र भाग कलकत्ता की बिड़ला एकेडमी के संग्रह में है और कालक-भाग बम्बई के श्री प्रेमचन्द जैन के निजी संकलन में सुरक्षित है। सन् 1465 ई० में चित्रित “कल्पसूत्र” के चित्र हुसैन शाह शर्की के शासन काल में जौनपुर में चित्रित हुए। इसमें नारी आकृतियों को समकालीन वेश-भूषा में दर्शाया गया है। इस तरह “जैन चित्रकला” गुजरात की श्वेताम्बर कलम से आरम्भ होकर राजपूताना में वर्षों तक अपना विकास करती रही और बाद में इरानी प्रभावों से मुक्त होकर “राजपूत कलम” में ही विलयित हो गई।²

छपाई के आविष्कार के साथ आज भी इनकी प्रतिलिपियां विभिन्न सम्पादकों द्वारा समय-समय पर मुद्रित की जा रही हैं।

कल्पसूत्र के चित्रकार प्रायः मुनि ही हुआ करते थे, वे आत्म सिद्धि के लिए साधना और तपश्चर्या में निरत रहते थे। इस अवस्था में उन्होंने जो कुछ भी अंकित किया तीर्थंकर-भय होकर किया। वे धार्मिक और आध्यात्मिक अन्तर्भावनाओं से ओत-प्रोत थे। उनका उद्देश्य था तीर्थंकर-वाणी को जन-जन में पहुंचाना। उन्होंने “जिन-चरित्रों” को अपनी लेखनी और तूलिका का विषय बनाया। विभिन्न रंगों की तड़क-भड़क में न पड़कर उन्होंने मूल रंगों का ही प्रयोग किया। लाल,

पीले, हरे, काले एवम् सफेद रंगों के साथ मुगल शासन काल में नीले, सुनहरी व रूपहरी रंगों का प्रयोग भी जुड़ गया। ताड़पत्रीय चित्रों में जैन कलाकारों की रेखाएं सूक्ष्म और सशक्त हैं। इनका मूल उद्देश्य भावों को अभिव्यक्त करना था, जिसमें वे सफल हुए।

कल्पसूत्र का आयाम प्रायः 5 से 6 इंच चौड़ा एवम् 10 से 12 इंच लम्बा रहा करता है। उसी में एक ओर तो प्रसंग का विवरण और दूसरी ओर उस विषय पर आधारित चित्र अंकित किए जाते हैं। फलतः इसका वर्ग क्षेत्र 9 से 12 वर्ग इंच तक ही सीमित रहता है। इतने लघु दायरे में अपनी बात कह देने में ये कलाकृतियां अद्वितीय हैं। बाद में इनमें इरानी प्रभाव के कारण बेल-बूटों की पच्चीकारी का प्रचलन भी चल पड़ा।

इन चित्रों के अध्ययन से स्पष्ट है कि जैन देवी-देवताओं के परम्परागत अंकन होते हुए भी ये कलात्मक हैं। पृष्ठभूमि सादी, आकृतियां नुकीली एवम् परली आंख युक्त हैं। पात्र के अनुरूप ही उनकी साज-सज्जा, आकार-प्रकार और अलंकरण हैं। एक ओर देवतागण अथवा राजा आभूषणों से सुसज्जित हैं तो दूसरी ओर श्रमण श्वेत अथवा स्वर्णम वस्त्र धारण किए हुए हैं। कल्पसूत्र की चित्रकला का विषय पुरुष प्रधान हैं। पुरुष दुपट्टा और धोती धारण किए हुए हैं। स्त्रियां कसी हुई अंगिया तथा धोती पहने नजर आती हैं। वस्त्र बेल-बूटों से आच्छादित हैं। पेड़, पौधे स्थान के अनुसार चित्र की आलंकारिकता को बढ़ाते हैं। यही नहीं इन चित्रों में शैली का विकास भी दिखाई देता है। उदाहरणार्थ उल्लमफोई- संग्रह - कल्पसूत्र के महावीर-जन्म वाले दृश्य में परदे का थोड़ा सा अंश दिखाई देता है किन्तु इडर वाले चित्रों में इसी का विस्तृत अंकन हुआ है।

संभवतः सर्वाधिक सुन्दर एवं विपुल चित्रित कल्पसूत्र की प्रति देवशा ने पाड़ो भण्डार, अहमदाबाद की प्रति है। घने वृक्षादि तथा फूलों वाले पौधे, रंगीन चिड़ियां, जीवन्त पशु, विविध रंगों के वस्त्र पहने विभिन्न मुद्राओं में अंकित कन्याएं इस चित्रावली की विशेषताएं हैं। इसमें भरत के नाट्य शास्त्र पर आधारित विभिन्न नृत्य एवं संगीत की मुद्राएं हैं।

इन चित्रों के कुछ विशेष प्रसंग उल्लेखनीय हैं— महावीर स्वामी की दूसरी माता त्रिशला के चौदह महास्वप्न एवम् गर्भापहरण, महावीर का जन्माभिषेक, वर्षादान, दीक्षा ग्रहण के समय पंचमुष्टि लोच करते हुए महावीर तथा महावीर का समवसरण।

भगवान नेमिनाथ की वारात का दृश्य, ऋषभदेव का राज्याभिषेक तथा पार्श्व तपस्या का चित्रण भी सराहनीय है। इन चित्रों में वृषभ, सिंह, हाथी, सर्प आदि पशुओं का रेखांकन कलाकार के कौशल का प्रशस्त नमूना है। कलश, छत्र, अग्नि, ध्वज आदि का अंकन प्रतीकात्मक है।

जैन ग्रन्थों पर लकड़ी की दप्तियां सुरक्षार्थ बांधी जाती थीं। इन दप्तियों पर सूक्ष्म बेल-बूटों की चित्रकारी कलाकार के धैर्य और साधना का अद्वितीय उदाहरण है।

साधना के रास्ते पर बढ़ते हुए एवम् तीर्थंकर की वाणी का स्मरण करते हुए मुनियों एवम् जैन कलाकारों ने जो अनुभूति की वह उनकी कलाकृति की आधार-शिला बनी, जिसने जन साधारण के आध्यात्मिक पक्ष को अत्यन्त प्रभावित किया, साथ ही साथ राजस्थानी और मुगल शैली के निर्माण में भी महत्वपूर्ण योग दिया।

इस तरह 'कल्पसूत्र' ने भारतीय ज्ञान भण्डार को समृद्ध किया। मुगल सल्तनत के संकटकालीन समय में भारतीय सभ्यता एवम् संस्कृति को बचाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्वर्णमय और रजतमय होने के कारण ये पोथियां अत्यन्त मूल्यवान हैं। इनका योगदान साहित्यिक, ऐतिहासिक, कलात्मक एवम् आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। आज धर्म-सूत्रों के साथ ये चित्र भी हमारी आध्यात्मिक परम्परा की अभिन्न धरोहर बन गई हैं।

संदर्भ

1. के. कासलीवाल, जैन ग्रन्थ भण्डारस इन राजस्थान, 1964 जयपुर - पृष्ठ 2
2. खण्डालावाला (कार्ल) एवं मोतिचन्द्र इन इलस्ट्रेटेड कल्पसूत्र पेंसेट पट - 17-14 जौनपुर इन ए० डी० 1465 ललितकला-12 पृष्ठ 9-15
3. वाचस्पति मैरोला, भारतीय चित्रकला, पृष्ठ 138

जैन कला का पुरातात्विक महत्व

भारतीय संस्कृति के विकास व पल्लवन में जैन धर्म का विशिष्ट योगदान रहा है। अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, स्यादवाद जैसे सार्वभौम और विश्व-कल्याण के सिद्धांतों को प्रस्तुत और प्रचारित कर इसने समस्त मानव जाति को एक सूत्र में पिरोने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। फलतः जैन धर्म के आदर्श आदि काल से ही लोक मानस को आकृष्ट करते रहे हैं। प्रचुर साहित्य के साथ कला और पुरातत्व के प्रमाण भी इस तथ्य के साक्षी हैं।

जैन कला के विकास की आरम्भिक कड़ी कहां और कब से है, यह कहना कठिन है। पुरातत्व इस दिशा में हमारी सहायता तो करता है, किन्तु यह तर्क, विवेचन और विश्लेषण का क्षेत्र है जिसमें उत्साह के वेग के साथ धैर्य का अंकुश भी अभीष्ट है। जैन परम्परा के अनुसार जिन मूर्ति पूजा एक शाश्वत पद्धति है जो भगवान् ऋषभदेव के समय से ही प्रचलित हुई। एक तीर्थंकर से दूसरे के बीच की अवधि कभी-कभी इतनी अधिक है कि इसकी काल गणना आज के कम्प्यूटर युग में भी सम्भव नहीं प्रतीत होती तो बेचारा पुरातत्व ही इस काल अवधि तक कैसे पहुंच पाएगा।

यदि सिन्धु संस्कृति के अवशेषों को कला की दृष्टि से प्राचीनतम मान लें (यद्यपि मेहर गढ़ आदि स्थल और अधिक प्राचीन हैं) तो हड़प्पा से निकला मानव धड़ शरीर रचना, नग्नकृति, सुदृढ़ आकार की दृष्टि से किसी तीर्थंकर की मूर्ति का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है। सिन्धु संस्कृति अभी तक रहस्य के आवरण से ढकी है और जब

तक लिपि का प्रामाणिक ढंग से वाचन नहीं हो जाता तब तक रहस्य का उद्घाटन सम्भव नहीं है। पिछले लगभग आठ दशकों से पुराशास्त्री इस ओर सतत प्रयासरत हैं। सिन्धु संस्कृति का समय 2700 ई० पू० से 1500 ई० पू० के बीच का है।

तत्पश्चात् पुरातत्व दीर्घ काल तक मौन साधना करता है और जर्मन पुरावेत्ता डॉ० ए० फ्यूहरर को मथुरा नगर के पश्चिमी अंचल में कंकाली नामक स्थल से जैन कलाकृतियों का विपुल कोष 1889-91 ई० के बीच मिलता है। ये प्रस्तर कला कृतियां द्वितीय शती ई० पू० से 12वीं शती ई० तक की हैं। आरम्भ आयाग-पट्ट के मंगल चिन्हों से हुआ तत्पश्चात् जिन आकृतियां आईं। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ श्री कृष्ण के समकालीन और ब्रजमण्डल के निकटवर्ती शौरिपुर बटेश्वर (आगरा) से सम्बन्धित थे। सुपाशर्व, पार्श्व व महावीर की भी अधिक मान्यता थी और अन्तिम केवली जम्बू स्वामी ने यहीं अपना शरीर त्याग किया। फलतः यहां अनेक कालों में और विभिन्न चरणों में स्तूप या चैत्य बनते रहे एवं जिन मूर्तियां स्थापित होती रहीं। यह कला सम्पदा अब राज्य संग्रहालय, लाखनऊ में सुरक्षित है।

इनमें एक जिन मूर्ति की चरम चौकी का प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में उल्लिखित लेख अद्वितीय महत्व का है। इसके अनुसार कुवेरा देवी द्वारा देव निर्मित स्तूप का जीर्णोद्धार पार्श्वनाथ जिन के समय हुआ। यदि अन्य तीर्थंकर इतिहास और पुरातत्व की सीमा से बाहर भी हों तो वर्धमान महावीर और उनके पूर्ववर्ती जिन पार्श्वनाथ अवश्य ऐतिहासिक विभूति थे जिनका समय क्रमशः पांचवी व आठवीं शती ई० पू० स्थिर हुआ है। यदि सन्दर्भान्तर्गत मूर्तिलेख और उसके पुष्टिकर्ता साहित्यिक प्रसंगों को प्रामाणिक माना जाय तो निष्कर्ष निकलता है कुवेरा देवी द्वारा स्थापित मूल स्तूप इतना प्राचीन और जीर्ण हो चुका था कि आठवीं शती ई० पू० में उसके जीर्णोद्धार की आवश्यकता अनुभूत हुई। अवश्य ही यह कुछ और शताब्दी पूर्व बना होगा। इसे देव निर्मित कहने से भी प्राचीनता सिद्ध होती है, क्योंकि यह कब बना इस तथ्य को लोग भूल चुके थे। जिस स्मारक की स्थिति आठवीं शती से कुछ शताब्दी पूर्व स्थिर होने के सूत्र मिल रहे हों यह भारतीय स्थापत्य के उद्भव व विकास के नए अध्याय का श्रीगणेश करता है।

जैन मूर्ति कला का सांगोपांग अध्ययन मथुरा से मिले अवशेषों के माध्यम से सम्भव है। साथ ही जैन स्थापत्य (चैत्य स्तूप) और समाज का भी विशद विवरण प्राप्त होता है। क्योंकि बहुत सी प्रतिमाएं अभिलिखित और संवत् तिथि आदि से भी अंकित हैं अतः तत्कालीन सांस्कृतिक अध्ययन के लिए वे दर्पणवत् समादृत हैं। सरस्वती की प्राचीनतम प्रतिमा जिस पर देवी का नाम उत्कीर्ण है, यहीं से मिली। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन धर्म ग्रन्थों के संकलन, सम्पादन, संरक्षण के लिए सरस्वती आन्दोलन कुषाण काल में मथुरा से आरम्भ हुआ जिसे माथुरी वाचना भी कहते हैं। समकालीन सरस्वती प्रतिमा का इस दृष्टि से और अधिक महत्व है। इस आन्दोलन से प्रेरित हो देश के विभिन्न स्थानों में जैन

सरस्वती भण्डार अथवा ग्रन्थागार निर्मित हुए जो सौभाग्य से अभी तक सुरक्षित हैं।

ऋषभनाथ की गुप्त कालीन प्रस्तर पट मूर्ति में उनका नाम “ऋषभस्य प्रतिमा” लिखा है। कन्धे पर जटा पड़ी है इससे आदिनाथ की मूर्तियों को पहचानने में बड़ी सहायता मिली। कालान्तर में तो सभी जिनों के निश्चित चिन्ह, यक्ष, शासन देवता आदि स्थिर हो गए।

एक ओर मथुरा जैन मूर्तिकला, स्थापत्य और धर्म ग्रन्थों के विशाल केन्द्र के रूप में ईसा से कई शती पूर्व विकसित हो रहा था उधर बिहार में मौर्य नरेश आजीवक जैन साधुओं के विश्राम के लिए बराबर की पहाड़ियों में कुटियों की व्यवस्था कर रहे थे। बिहार तीर्थकरों की अवतार भूमि रही है अतः जैन अनुयायी अथवा सहिष्णु शासकों के लिए यह पुण्यार्जन का कार्य था। उड़ीसा भी इस दृष्टि से अग्रणी रहा और द्वितीय शती ई० पू० में खारवेल नामक जैन सम्राट ने अपनी उपलब्धियों का ब्यौरा भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि गुहा में एक विस्तृत ब्राह्मी लेख में छोड़ा है। इनमें एक घटना जैन कला और पुरातत्व के दिग्दर्शन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वह उस जिन मूर्ति को कलिंग वापस लाने में सफल हुआ, जिसे पूर्ववर्ती मगध नरेश ले गए थे। यह कौन सी मूर्ति है और कहाँ है यह विवादास्पद है। वैसे एक जैन प्रतिमा जो पटना के पास लोहानीपुर से मिली अब पटना संग्रहालय में है। कला शैली की दृष्टि से अवश्य ही यह मौर्यकाल की है। किन्तु यह कहना कठिन है कि खारवेल के शिलालेख में जिस प्रतिमा का वर्णन है वह यही है क्योंकि पुनः यह कलिंग से मगध कैसे पहुंची इस बारे में इतिहास व पुरातत्व मौन है।

यहां विचारणीय तथ्य यह है कि जिन मूर्तियां मौर्य युग में निर्मित व पूजित होती थी और उनकी प्रतिष्ठा शासकों की प्रतिष्ठा थी। खारवेल ने भी जैन साधुओं के विश्राम, चिन्तन, मनन, अनुशीलन के लिए उदयगिरि-खण्डगिरि में आश्रय स्थल बनवाए। इन कक्षों पर अनेक कथानक उत्कीर्ण हैं। स्थिति को देखते हुए यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि पहाड़ी का एक भाग सभा स्थल अथवा प्रेक्षागार के रूप में बनाया गया जहां से लीला अथवा नाटकों का मंचन होता था। कला व पुरातत्व की दृष्टि से उदयगिरि-खण्डगिरि का जैन गुहा समूह प्रशंसनीय है।

कुछ शताब्दियों तक गुहा तक्षण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और पश्चिमी भारत पर्वत विश्रामालयों का केन्द्र बन गया। इस दिशा में पहले पांच सौ वर्षों तक बौद्धों का वर्चस्व रहा जिसके फलस्वरूप भाजा, कार्ले, कोण्डाने, बाघ, अजन्ता आदि प्रसिद्ध गुहा मण्डप बने। कालान्तर में हिन्दू व जैन समाज ने भी इस पद्धति को अपनाया। एलोरा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है क्योंकि यहां तीनों धर्मों के गुहा मण्डप हैं। संवत् 30 से 34 तक के गुहा मण्डप जैन हैं जो नवीं शती में बने। इनमें छोटा कैलास और इन्द्र सभा प्रसिद्ध है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि गुहा तक्षण सामान्य भवन पद्धति से अधिक कठिन श्रमसाध्य तथा कुशलता का परिचायक है। गुहा तक्षण कुछ अन्य देशों में भी हुआ किन्तु भारतीय गुफा मण्डपों की कोई तुलना नहीं। विश्व स्थापत्य के

लिए भारत का यह विलक्षण योगदान है। सामान्य भवन में तो यदि कोई त्रुटि हो जाय तो उसका परिष्कार व परिवर्तन संभव है, किन्तु पर्वत तक्षण में परिष्कार व परिवर्तन का कोई अवसर नहीं। यहां तो पर्वत को काटकर ही सब कुछ बनाना है। शिल्प, लतावल्ली, स्तम्भ, द्वार, प्रकोष्ठ और यहां तक कि उपस्थ मूर्तियां भी पर्वत का ही अंग है बाहर से लाकर कुछ नहीं लगाया जाता। अतः कला साधना में अत्यन्त सावधानी अपेक्षित है। साथ ही गुहा तक्षण में तक्षण कार्य ऊपर से होता है नीचे से नहीं, क्योंकि यहां नींव की आवश्यकता नहीं। एलोरा की जैन गुफाएं इसी विलक्षणता की द्योतक हैं। बादामी की जैन गुफा एलोरा से पूर्ववर्ती और छोटी है।

दक्षिण भारत में भी जैन धर्म का प्रसार हुआ और कर्नाटक इस दृष्टि से अग्रणी है। गोमटेश्वर की विशाल प्रतिमा न केवल आकार की दृष्टि से आश्चर्यजनक है अपितु इसका कलात्मक सौष्ठव भी सराहनीय है। विशालता में सौम्यता, यौवन में निवृत्ति, वैभव में तपोवृत्ति आदि का विलक्षण समन्वय इस मूर्ति के माध्यम से दिग्दिगन्त में प्रस्फुटित होता है और हम सब इस अलौकिक उपलब्धि के समक्ष कितने बौने दीखते हैं।

जब मन्दिर निर्माण का प्रचलन हुआ तो जैन कलाकार और आश्रयदाता भी अग्रपंक्ति में रहे। युगधर्मीय गुणों के साथ कुछ दोष भी परिलक्षित हुए। क्योंकि खजुराहो के अन्य मन्दिरों के साथ ही जैन मन्दिर भी बने अतः दसवीं शती के पार्श्वनाथ आदि मन्दिरों में भी प्रणय और रति क्रीड़ा के प्रसंग प्रवेश कर गए। आचार्य जिनसेन कृत नवीं शती ई० के हरिवंश पुराण में प्राप्त एक संदर्भ उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार धर्म से विमुख और भोग में लिप्त तत्कालीन समाज को देवाल्यों के प्रति आकृष्ट करने के लिए रति और कामदेव की लीलाओं का अंकन आवश्यक समझा गया ताकि उनसे मोहित हो वे जिनालय तक पहुंचे और वहां कुछ देर धार्मिक प्रवचन सुनकर सन्मार्ग की ओर अग्रसित हो सकें। यही लक्ष्य होगा प्रणय लीलाओं को निवृत्ति प्रधान जैन धर्म में अपनाने का। किन्तु इसके दुष्परिणाम भी हुए। सभी धर्मों में इसकी अतिशयता से उद्देश्य विफल हो गया।

जैन शिल्प के वैभव की उत्कृष्टता दिलवाड़ा मन्दिर समूह में अवलोकनीय है। यहां तक्षण में शिल्प का इतना प्राधान्य है कि मन्दिर स्थापत्य शिल्प शास्त्र का नमूना बन गया है। संगमरमर का प्रचुर प्रयोग प्रथम बार 11वीं शती में यहीं हुआ। बाहर से मन्दिर जितने सादे लगते हैं अन्दर से उतने ही अलंकृत। गुम्बद का तक्षण विशेष रूप से दर्शनीय है। किन्तु तक्षण की अतिशयता वास्तु पर हावी हो गई है और रूपाकृतियों की निरन्तरता और एक रूपता कुछ समय में नेत्रों को खटकने लगती है। “अति सर्वत्र वर्जयेत्” का उल्लंघन श्रेष्ठ विमल शाह ने 11वीं शती में किया और इसकी पुनरावृत्ति 13वीं शती में तेजपाल और वस्तुपाल ने की। यदि इन कुछ त्रुटियों को उपेक्षित कर दिया जाय तो दिलवाड़ा के जैन मन्दिर वास्तव में शिल्प की पराकाष्ठा के द्योतक हैं।

जिन मूर्तियां तो साधनारत भाव में बैठी ध्यानस्थ अथवा खड़ी कायोत्सर्ग

रूप में बनाई जाती थीं। वस्त्र और अलंकारों की यहां उपेक्षा थी अतः कलाकार को प्रधान देवों के प्रदर्शन में अपने शिल्प चमत्कार का अवसर नहीं मिलता था। इस अभाव की पूर्ति वास्तु अलंकरण तथा अवान्तर देवों की सज्जा विधा से की। उन्हीं शैलीगत भेद से काल निर्धारण में सहायता मिलती है।

प्रस्तर मूर्तियों के अतिरिक्त जैन मत की धातु मूर्तियां भी बड़ी संख्या में मिली हैं जो कला सौष्ठव के साथ पुरातात्विक महत्व की भी हैं। गुजरात में अकोटा और बिहार में चौसा नामक स्थल से मिली मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका समय गुप्त काल चौथी से छठी शती ई० का है यद्यपि कुछ विद्वान् इन्हें पूर्ववर्ती भी मानते हैं। अकोटा के धातु

शिल्पी को तीर्थंकर की मूर्ति को वस्त्राभूषण से सज्जित करने की युक्ति सूझी। फलतः उसे जीवन्त स्वामी के रूप में प्रस्तुत किया। वर्धमान महावीर यहां राजकुमार के रूप में प्रदर्शित किए गए।

जैन कला के पुरासाक्ष्य भारत में तो यत्र तत्र प्रचुर मात्रा में हैं ही विश्व के अनेक संग्रहालयों व कलावीथियों की भी शोभा वृद्धि कर रहे हैं। इन सभी का सचित्र अभिलेखीकरण यथा शीघ्र अपेक्षित है ताकि विद्वानों व शोधकर्त्ताओं को अपने अध्ययन व अनुशीलन के लिए उपलब्ध रहे साथ ही भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में जैन कला का समुचित मूल्यांकन हो सके।

—निदेशक - भारत कला भवन, वाराणसी

एक कपर्दक

अत्यधिक व्यावसायिक व्यस्तता के कारण झुंझलाए हुए धनदत्त ने छोटे भाई को पुकारते हुए कहा, “अभी तक तुम्हारा पूजा पाठ समाप्त नहीं हुआ देवदत्त? हो गया भैया! बस आ ही रहा हूं।” देवदत्त ने उत्तर दिया। “बस आ रहा हूं, आ रहा हूं, अरे। जब वृद्धावस्था आए, बैठे-बैठे पूजा पाठ करते रहना। यह उम्र है व्यवसाय की, धर्माभ्यास की नहीं।”

ग्रणाम करते हुए देवदत्त ने नम्रता पूर्वक कहा, “भैया धर्मशास्त्र तो कहता है, जब तक इन्द्रियां शिथिल न हों, वार्द्धक्य दूर रहे, तभी तक का समय धर्माधना के लिए उत्तम है। फिर कौन कह सकता है वार्द्धक्य आए या नहीं।”

भाई की इन वैराग्यमयी बातों का कोई उत्तर नहीं दे पाए धनदत्त। किन्तु मन ही मन निर्णय किया, ‘मुझे धनोपार्जन के लिए विदेश चला जाना चाहिए। जब गृहस्थी का सारा भार कंधों पर आ पड़ेगा तो बाध्य हो जाएगा व्यवसाय में रत होने को।’

एतदर्थ एक शुभ दिन नौकाओं में विभिन्न प्रकार के पण्य लादकर धनदत्त विदेश यात्रा को निकल पड़े। नाना स्थानों में भ्रमण करते हुए पुण्योदय और पुरुषार्थ से विपुल सम्पत्ति अर्जित कर ली धनदत्त ने। अब उनकी इच्छा हुई घर लौटकर स्वजनों से मिलने की।

किन्तु इतनी धनराशि लेकर अकेले यात्रा करना भी तो खतरे से खाली नहीं था। कई लुटेरों का भय बना हुआ था। अतः उन्होंने समस्त धनराशि को कुछ बहुमूल्य मणियों में बदल लिया और एक कोमल

बांस की खोखली नलिका में उन्हें भरकर कमर में बांध लिया, कुछ मुद्राएं राह खर्च के लिए भी रख ली थीं।

अब इसी भांति तैयार होकर धनदत्त भ्रमण करते हुए स्वग्राम के निकट एक वन में पहुंचे। पास ही के गांव से आहारादि के लिए खाद्य पदार्थ खरीदने को उद्यत हुए। किन्तु बांस नलिका को साथ ले जाना उचित नहीं समझ अतः एक अश्वथ वृक्ष के नीचे खड़ा खोदकर उसमें उसे गाड़ दिया और गांव की ओर चले।

दुर्भाग्यवश उसी पेड़ के ऊपर एक लकड़हारा काष्ठ संग्रह के लिए बैठा था। उसने चुपचाप सारा दृश्य देखा और उनके जाने के पश्चात् धीरे से पेड़ से नीचे उतर कर खड़ा खोदकर नलिका निकाल ली, किन्तु उस गरीब ने उन बहुमूल्य मणियों को रंग-बिरंगे कांच के टुकड़े समझा। फिर भी ‘इनसे अवश्य ही कुछ द्रव्य मिलेगा’ सोचकर गांव की ओर खाना हो गया।

धनदत्त गांव के उपकण्ठ पर स्थित एक सरोवर में स्नान के लिए उतरे। स्नानोपरांत वे भी उस वन की ओर चल पड़े। राह खर्च के लिए जितनी मुद्राएं इन्होंने पास में रखी थीं उनमें से अब मात्र एक कपर्दक (कोड़ी) बच गया था। उन्हें स्मरण हुआ कि ‘अरे! वह तो मैं सरोवर के किनारे ही भूल आया।’

बड़े ही लालची थे धनदत्त। एक कपर्दक खोना भी उन्हें सहन नहीं हुआ। अतः उसे लेने के लिए पुनः लौटे। लेकिन मन में भय बना था ‘अवश्य ही वहां से लौटने में मुझे देर हो जाएगी। कोई दस्यु रात्रि के समय मेरी नलिका निकाल न ले।’ किन्तु संवरण नहीं कर पाए उस अतिलोभ को। वही हुआ जो सोचा था। पहुंचते-पहुंचते रात हो गई और उन्हें विवश होकर उस गांव में ही रुकना पड़ा।

इधर धनदत्त के माता पिता भी पुत्र वियोग में अत्यंत व्याकुल थे। बारह वर्ष व्यतीत हो चुके थे उससे मिले। उन्होंने देवदत्त से कहा, ‘पुत्र अब हम लोगों से धनदत्त का विछोह सहा नहीं जाता। यदि हमारे प्राण बचाना चाहते हो तो शीघ्र ही उनकी खोज खबर लो।’ देवदत्त स्वयं भी भाई की याद में विकल था अतः उसने एक उपाय निकाला। वह प्रतिदिन गांव के प्रमुख द्वार पर आहार जल साथ लेकर चला जाता और आए हुए पथिकों से, यात्रियों से भाई के विषय में पूछताछ करता।

संयोगवश वही लकड़हारा लकड़ी का भार लिए द्वार पर पहुंचा। बड़ा ही पिपासार्त था। देवदत्त के पास जल देखकर पानी पीने की इच्छा प्रकट की। उसने भी उसे पानी ही नहीं आहारादि देकर पूर्णतः सन्तुष्ट किया। उसकी साधुता ने लकड़हारे का विश्वास जीत लिया। अतः उसने वह नलिका देवदत्त को दिखाया और मणियों को बेचना चाहा। उस नलिका पर धनदत्त का नाम खुदा था। उसे पढ़ते ही वह चौंक पड़ा। उसने लकड़हारे से निर्भीक होकर नलिका के विषय में सब कुछ बताने को कहा। सारा वृत्तान्त सुनने के पश्चात् उसने कुछ द्रव्य देकर लकड़हारे से वह नलिका खरीद ली और भावी दुर्घटना को अनुमान कर तुरन्त उसी स्थान की ओर चल पड़ा जहां से लकड़हारे ने नलिका

निकाली थी।

जब धनदत्त अश्वथ वृक्ष के नीचे पहुंचा और खड़े को खुदा हुआ पाया तो सन्न रह गया। जल्दी जल्दी उस खड़े को गहरा खोदने लगा, किन्तु सब व्यर्थ, बांस नलिका तो गायब हो चुकी थी। अब तो वह पागलों की भांति किंकर्तव्य विमूढ़ बना जोर-जोर से रोने लगा। सारा अरण्य उसके करुण क्रन्दन से कांप उठा।

ठीक उसी समय देवदत्त भी वहां पहुंच गया किन्तु गहरे आघात से सुध-बुध खोए हुए धनदत्त देवदत्त को पहचान नहीं सका।

चतुर देवदत्त ने तुरन्त वह नलिका भाई के सम्मुख रख दी। नलिका को देखते ही धनदत्त पुनः होश में आ गया और भाई को पहचान कर उससे लिपट गया और आनन्दाश्रु से भिंगो डाला भाई का स्कन्ध, भाई की पीठ।

देवदत्त ने नलिका प्राप्ति का सारा हाल भाई को सुनाया। चैन की सांस ली धनदत्त ने। अब अपनी लोमहर्षक विदेश यात्रा का विवरण सुनाते हुए गांव पहुंचे।

माता, पिता, परिजनों से मिलकर आनन्द के अथाह समुद्र में डूब गये धनदत्त। स्नान एवं आहारादि के पश्चात् स्वस्थ हुए धनदत्त भाई से पूछने लगे इन बारह वर्षों में उसने कितना द्रव्य उपार्जन किया।

बेचारा देवदत्त नतमस्तक होकर विनम्र शब्दों में इतना ही कह पाया,

“भैया सारा परिवार सुख शांतिपूर्वक रह सके इतना तो कमाया ही किन्तु हां! धर्मानुष्ठान खूब किये।”

क्रोध से उबल पड़े धनदत्त बोले— “मैंने तुमसे धर्मानुष्ठान की बात नहीं पूछी है। तुमने तो व्यर्थ ही खो दिये हो बारह वर्ष? आभागा कहीं का? मुझे देखे मैंने कितना विपुल धन अर्जित किया है, अब हमारी पीढ़ियां आराम से बैठकर खा सकेंगी।”

इस बार उत्तेजित स्वर में उत्तर दिया देवदत्त ने, “भैया कहां है आपका धन? आपने तो जो कुछ अर्जित किया था वह सब कुछ खो चुके। एक कपर्दक के सिवाय क्या है आपके पास? यह सारा द्रव्य तो अब मेरा है। मैंने इसे लकड़हारे से क्रय किया है।”

सकते में आ गये धनदत्त। अवाक् से भाई का मुंह देखते रह गये। क्षमा याचना करते हुए भाई से बोले, “सचमुच देवदत्त! यह धन तो तुम्हारा ही है। तुमने जो पुण्य उपार्जन किया था उसी के प्रताप से तुम्हें बिना कमाए ही विपुल धनराशि प्राप्त हो गई। आभागा तो वास्तव में मैं हूं जिसने धन भी खोया-समय भी।”

बड़े भाई के चरणों में गिर पड़ा देवदत्त। बोला, “नहीं भैया, सबका सब यह द्रव्य आपका ही है। मुझे तो बस धर्मानुष्ठान की आज्ञा दीजिए।”

—प्रधानाध्यापिका, श्री जैन शिक्षालय, कलकत्ता

अभिषप्त नालन्दा

पूर्व दिन सन्ध्या होते ही हवा जैसे एक बाणी ही बन्द हो गई थी एवं एक असह्य उत्ताप ने पृथ्वी को मानो वेष्टन कर रख दिया था।

दूसरे दिन प्रभात हुआ। किन्तु, प्रकृति की उस शब्दहीन, रुद्ध श्वांस प्रतीक्षा का अवसान नहीं हुआ। सूर्य उदित हुआ, पर वह सूर्य प्रतिदिन का सूर्य नहीं था। उसका रंग था जैसे ताम्र। स्थविर मुदितभद्र विहार के एक प्रकोष्ठ में बैठकर धम्मपद का पाठ कर रहे थे। भिक्षु श्रमण उत्पल ने उनके चरणों के समीप आकर प्रणाम किया। विनीत स्वर में बोला— 'वन्दे!'

स्थविर मुख उठाकर आशीर्वाद की भंगिमा में हस्त उत्तोलित करते हुए बोले— 'आरोग्य'। उत्पल ताम्रवर्ण सूर्य की ओर उनकी दृष्टि आकृष्ट करता हुआ बोला— 'थेर! लगता है ब्राह्मणों का अभिचार आज सफल होगा।'

स्थविर उठकर कुछ क्षण तक सूर्य की ओर अपलक देखते रहे। फिर यथा स्थान उपवेशित होकर उत्पल की ओर देखते हुए बोले— 'भगवान तथागत की जैसी अभिरुचि।'

उत्पल द्वादश वर्ष पूर्व की एक घटना की ओर इंगित कर रहा था। घटना इस प्रकार थी :—

आज से ठीक बारह वर्ष पूर्व इसी भांति की प्रभात बेला में स्थविर जिस समय धर्मोपदेश दे रहे थे, दो तार्किक ब्राह्मणों ने सहसा उपस्थित होकर स्थविर को तर्क के लिए आह्वान किया। स्थविर भी उनकी अभिलाषानुसार तर्क में प्रवृत्त हो गए। किन्तु वे ब्राह्मण यथार्थतः तर्क

का उद्देश्य लेकर नहीं आए थे। वे आए थे, स्थविर का अपमान करने। अतः तर्क में प्रवृत्त होते ही स्थविर पर कटूक्ति करने लगे। स्थविर तो क्षमाशील थे पर वह कटूक्ति पीड़ा का कारण बन गई श्रमणों एवं विद्यार्थियों के लिए। तरुण विद्यार्थियों के लिए तो वह इतनी असह्य हो गई कि क्रोधावेश में वे वस्त्र प्रक्षालित जल दोनों ब्राह्मणों के मस्तक पर निक्षेप कर बैठे। फलतः दोनों ब्राह्मणों ने कुपित होकर विहार का परित्याग तो कर दिया पर परित्याग के पूर्व विहारवासियों को बलपूर्वक कहा— 'आज से हमलोग सूर्योपासना करते हुए द्वादशवर्षीय अग्नि यज्ञ अनुष्ठान करेंगे और उस यज्ञ में आहुति रूप में प्रदान करेंगे नालन्दा विहार को। परिणामतः भस्मीभूत होकर धरापृष्ठ होता हुआ निश्चिह्न हो जाएगा यह नालन्दा।'

मुदितभद्र भगवान तथागत की अभिरुचि कहकर पुनः धम्मद पाठ में प्रवृत्त हो गए। कोई अन्य होता तो दीर्घ निःश्वास फेंकता हुआ आत्म-रक्षा के लिए उद्यत हो जाता। किन्तु मुदितभद्र ने ऐसा कुछ नहीं किया। क्योंकि, वे दीर्घ साधना में अपनी इच्छा को सम्पूर्णतया विसर्जित कर बुद्ध की अभिरुचि की ही शेष नियामक के रूप में ग्रहण करने के अभ्यस्त हो चुके थे। अतः कोई किसी भी प्रकार से उनके चित्त की स्थिरता को नष्ट करने में सक्षम नहीं हो पाता। यदि ब्राह्मण का अभिचार आज सफल ही हो जाए तो क्या? मुदितभद्र का धैर्य उससे अणुमात्र भी विचलित नहीं हो सकता।

मुदितभद्र का धैर्य तो विचलित नहीं हुआ किन्तु विचलित हो गया अन्यान्य भिक्षु एवं विद्यार्थियों का धैर्य। वे तत्क्षण स्व-स्व प्रकोष्ठ परित्याग कर बाहर प्रांगण में आ खड़े हुए। उनके मुख पर भय और उद्वेग की ऐसी कालिमा छाई हुई थी जैसे वे मृत्यु के मुख में ही प्रवेश कर गए हैं। भिक्षुओं में एक अस्सी वर्ष के वृद्ध शीर्ण हाथ से चैत्य के भित्तिगात्र का अवलम्बन कर खड़े-खड़े चीत्कार करते हुए कह रहे थे— 'आज ब्राह्मणों की क्रोधाग्नि में भस्म होने का दिन आ गया है।'

यह बात उत्पल से कानों में भी पहुंची। अतः स्थविर से बोला— 'भदन्त, वर्तमान में इस विहार का परित्याग करना ही क्या श्रेयकर नहीं है?' स्थविर के मुख की प्रशान्ति उसी भांति अव्याहत थी। वे धीरे से बोले— 'जैसी तुम्हारी अभिरुचि! तुम लोग विहार परित्याग कर सकते हो... पर मैं नहीं करूंगा।'

दीर्घ निःश्वास फेंकते हुए उत्पल बोला— 'भदन्त! आपको उपदेश देने की क्षमता मुझ में नहीं है किन्तु क्या अभिषप्त विहार में अवस्थान करना उचित होगा?'

स्थविर मुस्कराए। बोले— 'उत्पल, विहार अभिषप्त हुआ है ऐसा मैं नहीं मानता। फिर भी यदि ब्राह्मणों के अभिचार से ही विहार को ध्वंस होना है तो विहार के साथ-साथ हमलोगों का ध्वंस होना भी अनिवार्य है। मात्र ये स्तूप, ये चैत्य, ये भिक्षु आवास ही विहार नहीं है, भिक्षुगण भी विहार के ही प्रमुख अंग हैं। अतः पृथ्वी के किसी प्रान्त में जाने पर भी हमारी रक्षा नहीं हो सकती। फिर क्यों हम विहार

का परित्याग करें !’

उत्पल नतमस्तक होकर नम्र स्वरों में बोला— ‘भदन्त ! आपका कथन ही सत्य है।’ तदुपरान्त वहां से उठकर चला गया। स्थविर पुनः धम्मपद पाठ में निमग्न हो गए। प्रकोष्ठ के बाहर आकर उत्पल फिर एक बार आकाश की ओर देखने लगा। देखा— ताम्रवर्ण सूर्य पर धूम्रवर्ण मेघ का एक सूक्ष्म आवरण आया हुआ है। सूर्य स्पष्टतः नहीं दिख रहा था। किन्तु प्रकृति का निरुद्ध भाव था उसी प्रकार अव्याहत।

सोपान श्रेणी अवरोहण कर उत्पल भिक्षु एवं विद्यार्थियों के मध्य उपस्थित हुआ। सूर्य के ताम्रवर्ण को देखकर जो कोलाहल उन लोगों के मध्य उत्थित हुआ वह अब भी स्तब्ध नहीं हुआ था।

चैत्य भित्ति का आश्रय लिए कुछ दूरी पर खड़े एक वृद्ध बोल रहे थे— ‘क्या बुद्ध हमारी रक्षा करेंगे ? त्रिशरण मंत्र रक्षा करेगा ?’ मृत्यु भय में उनका मुख उदग्र हो उठा था। उत्पल को लगा इन वृद्ध को ही सबसे अधिक मृत्यु भय है। विद्यार्थियों के मध्य से उत्पल वृद्ध की ओर अग्रसर हुआ। फिर उनके हाथों को धारण करता हुआ बोला— ‘आर्य, धैर्य का अवलम्बन लें। यदि आप ही धैर्य खो बैठेंगे तो इन्हें सान्त्वना कौन प्रदान करेगा ?’

विस्मित दृष्टि से वृद्ध उत्पल के मुख की ओर देखने लगे। कुछ कहने जा ही रहे थे कि बोलने का सामर्थ्य न पाकर धरती पर बैठ गए। स्कंध पर पड़ी संघटिका स्खलित होकर धूल में लोटने लगी। पर वृद्ध का ध्यान उधर नहीं था। एकदम विह्वल हो गए थे वे।

वृद्ध को धैर्य बंधाना व्यर्थ समझ उत्पल वहां अपेक्षा न कर सका। छोटे-छोटे स्तूपों से होकर प्रधान चैत्य की ओर अग्रसर होने लगा। कुछ दूर भी नहीं जा पाया कि उत्पल की दृष्टि मुंह के बल धरती पर गिरे हुए सुभद्र पर पड़ी। उसे इस स्थिति में देखकर भी किसी ने भी वहां दृष्टिपात नहीं किया। बल्कि पांवों से स्पर्श करते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे।

सुहृत् मात्र का भी विलम्ब न कर उत्पल ने उसे उठाकर बैठाया। फिर झकझोर कर पुकारते हुए बोला— ‘सुभद्र !’ किन्तु सुभद्र प्रकृतिस्थ न हो सका। उसने अपने विस्फारित नेत्रों की दृष्टि उत्पल के मुख पर निबद्ध कर दी। उत्पल उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहने लगा— ‘क्या हुआ सुभद्र ? सूर्य देखकर डर गए हो ?’

इतनी देर तक सुभद्र सोच रहा था वह मर गया है किन्तु, अब, जब देखा वह मरा नहीं है उसका साहस धीरे-धीरे लौट आया। वह उत्पल की ओर देखकर बोला— ‘हां आर्य, मैं भयभीत हो गया हूं।’ उत्पल सस्नेह उसकी पीठ पर पुनः हाथ फेरते हुए बोला— ‘भय ? मरने का क्या भय सुभद्र ? तुमने उपसम्प्रदाय ग्रहण नहीं की है ?’

सुभद्र इसका कोई प्रत्युत्तर नहीं दे सका। केवल उत्पल के मुख की ओर देखकर बोला— ‘हां आर्य !’

ठीक इसी समय एक दूरागत कोलाहल सुनाई पड़ा। उत्पल झटपट उठकर खड़ा हो गया। देखा, विद्यार्थीगण किसी को लिए उसी ओर ही आ रहे थे।

भीड़ निकट आने पर उत्पल ने देखा वे लोग दो भिक्षुओं को रज्जुबद्ध कर घसीटते हुए बहिर्प्राकार की ओर लिए जा रहे थे एवं उन्हीं को केन्द्र बनाकर सबके सब चीत्कार कर रहे थे।

उत्पल उसी भीड़ को चीरता हुआ भिक्षुओं की ओर बढ़ने लगा। जिस विद्यार्थी ने रज्जुबन्धन पकड़ रखा था वह उनसे कह रहा था— ‘तुम लोगों के पाप से ही आज विहार का अन्तिम दिन उपस्थित हुआ है। मृत्यु आसन्न हो गए हैं हम सभी। किन्तु एक साथ मरने का सौभाग्य तुम्हें नहीं देंगे। शायद इसी से तुम्हारे पाप का कथंचित प्रायश्चित्त हो सके। विहार की उत्तर सीमा पर जो विशाल गढ़र है उसी में हम तुम्हें फेंक देंगे प्राकार से। तुम्हारी उन विचूर्ण अस्थियों में से शकुनि एवं शृगाल मांस नोच-नोचकर भक्षण करेंगे।’ ठीक उसी समय उत्पल भिक्षुओं के निकट पहुंच गया था। उसे गतिरोध करते देख सभी विद्यार्थी स्थिर हो गए। बोले— ‘संघागारिक आप ?’

जो विद्यार्थी यह सब कह रहा था उसका भी वाक्य स्रोत सहसा निरुद्ध हो गया।

उत्पल की दृष्टि उसी क्षण आलिन्द पर जा पड़ी। देखा— आलिन्द पर खड़े स्थविर कुछ कह रहे थे। किन्तु उनका कथन किसी के भी कानों में नहीं पहुंच रहा था, उत्पल के भी नहीं। ...पर वे क्या कह सकते हैं यह अनुमान करना उसके लिए कठिन नहीं था। अतः विद्यार्थियों को स्तब्ध होते देख उत्पल बोला— ‘उत्तम ! मैं संघागारिक और तुम लोगों का शिक्षक हूं। मैंने तुम लोगों को जो शिक्षा दी क्या यह उसी की परिणति है ? उदगत क्रोध चल मान रथ की भांति होता है जो उसे संहत कर सकता है उसी को मैं सारथी कहता हूं। अन्य तो मात्र रज्जु ही धारण किए होते हैं।’

‘आर्य ! आपकी बात सत्य है, परन्तु इनका अपराध भी तो गुरुतर है।’ उत्पल बोला— ‘यह मैं जानता हूं, किन्तु सौमिल, तुम्हारा अपराध भी कम नहीं है। अपराध के लिए दण्ड दे सकता है केवल संघ और कोई नहीं।’

सौमिल एवं अन्यान्य सभी विद्यार्थी परस्पर एक दूसरे का मुख देखने लगे।

उत्पल कह रहा था— ‘बाल सुलभ चंचलतावश उस दिन इन्होंने संघ नियम के विरुद्ध अविनीत कार्य किया था। ...पर क्या संघ ने पाति मोक्ष के अनुसार इन्हें दण्ड नहीं दिया ? यदि दिया तो फिर आज नवीन दण्ड की वार्ता क्यों चल पड़ी ?’ यह कहते-कहते उत्पल का कण्ठ-स्वर कुछ कठोर हो गया। उत्पल कुछ रुककर पुनः कहने लगा— ‘सौमिल ! मैं संघागारिक हूं। संघ ने जिस प्रकार हमें दण्ड देने की क्षमता स्थविर को प्रदान की है उसी प्रकार विद्यार्थियों को दण्ड देने की क्षमता मुझे प्रदान की है। इन्होंने संघ नियम के विरुद्ध अविनय प्रकट किया... पर तुमने तो संघ को ही अस्वीकार कर दिया। और संघ को अस्वीकार करने का एक मात्र दण्ड है— बहिष्कार। अतः तुम बुद्ध की पवित्र भूमि से निर्वासित हुए। आज सन्ध्या के पूर्व ही तुम विहार का परित्याग करो।’

निःशब्द थे सभी विद्यार्थी। सभी विस्मयाहत एवं निर्वाक दृष्टि से उत्पल के मुख की ओर देख रहे थे। उत्पल ने स्वहस्त से अपराधियों को रज्जुमुक्त कर डाला। बन्धनमुक्त होते ही वे उत्पल के चरणों में लोट पड़े। बोले— 'आर्य, आज आपने हमें प्राणदान दिया।' उत्पल के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। उन अश्रुओं को पोंछकर उन्हें ऊपर उठाते हुए कहा— 'कोई भय नहीं है तुम लोगों को। शाक्य सिंह ने सभी जीवों पर करुणा करने को कहा है।' उन्हें लेकर उत्पल स्थविर के सम्मुख उपस्थित हुआ। भिक्षुओं की विक्षत देह को देखकर स्थविर के कपोलों पर अश्रुधारा बह चली। उनके शरीर पर हाथ फेरते हुए बोले— 'तुम लोगों का अपराध शान्त हो गया है, बुद्ध ने तुम पर करुणा की है।'

भिक्षुगण स्थविर के चरणों में नतमस्तक हो गए। बोले— 'भदन्त ! किन्तु संशय नहीं मिट पा रहा है, आलोक तो दिखाई ही नहीं दे रहा है।' स्थविर उनके मस्तक पर स्वहाथ रख कहने लगे— 'संशय क्या मिटेगा ? अनुत्पन्न हृदय से यदि प्रकाश नहीं दिख पड़ा तो फिर क्या दिखेगा ?'

मध्याह्न हो चला था। सूर्य मस्तक पर आ चुका था। किन्तु प्रथम प्रभात का जो सूर्य एकबार दिखाई पड़ा वह पुनः नहीं देखा गया। प्रकृति का वह निस्तब्ध भाव जैसे समाप्त ही नहीं हो रहा था, उसी भांति सूर्य मुख पर का आवरण भी नहीं उठ रहा था। फिर भी मध्याह्न होने पर भिक्षु एवं विद्यार्थियों का भय कम हो चला था। वे सोचने लगे— निश्चित मृत्यु जैसे उन सब पर एक व्यंग्य कसकर चली गई। अतः अब तक जिस दैनन्दिन कार्य को वे भूल गए थे उसी के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो गए। कोई चैत्य संस्कार में लग गया, कोई जल लेने गया, कोई अन्न प्रस्तुत करने पाकशाला में प्रविष्ट हुआ। उत्पल को तो अब कुछ करने को था ही नहीं, आज का दिन अध्ययन विरति का था। अपने कक्ष में आकर पातिमोक्ष के पृष्ठ खोलकर बैठ गया।

खोलकर तो बैठ गया, किन्तु किसी भी प्रकार उसमें मनःसंयोग न कर सका। आज प्रभात से ही जो कुछ घटित हुआ उसकी छायाकृति उसकी आंखों में तैर रही थी। उत्पल सोच तो वही सब रहा था किन्तु उस भावना का कोई निर्दिष्ट क्रम नहीं था। पर्वत से उतरते समय निर्झरिणी का जल जिस प्रकार उपलखण्ड के आघात से बिखर कर इधर-उधर विक्षिप्त-सा छिटक पड़ता है ठीक ऐसी ही स्थिति में थी उसकी भावनाएं भी।

वह सोच रहा था वृद्ध भिक्षुक के विषय में कि उन्हें ही मृत्यु का समधिक भय क्यों ? अभी भी उनकी दृष्टि में पृथ्वी उतनी ही तरुण एवं आकाश उतना ही नीला है ? यदि ऐसा नहीं है तो पृथ्वी का परित्याग करने में उनका हृदय व्यथा से, द्रावक रस से क्यों भर उठा ? शास्त्र कहते हैं जीर्ण वस्त्रों की भांति ही एक दिन इस शरीर को छोड़ देना होगा। ओह, इसके लिए इतना ममत्व ! ममत्व ? ममत्व ही क्या परिग्रह नहीं ? क्या भगवान् तथागत ने ममत्व का परित्याग करने को नहीं कहा है ? व्यर्थ ही ये भिक्षु हुए हैं ? अभी तक तो उनका देह-ममत्व भी दूर

नहीं हुआ है। तभी अचानक सुभद्र की बात उसे स्मरण हो आई। ठीक ही तो है देह परित्याग के पूर्व भी तो मनुष्य इसी प्रकार अहरह मर रहा है। यही तो यथार्थ मृत्यु है। जिसे मृत्यु कहते हैं वह तो है उत्तरण ! तब ? मृत्यु भय ही है मृत्यु ! जिसे मृत्यु भय नहीं वही अमर है। अमर होकर भी मनुष्य न जाने क्यों अपने अमृत-तत्त्व को भूल गया है। भूल गया है तभी तो मानव सामान्य भय से सामान्य क्षति से हिंस्र हो उठता है। आघात करता है, पीड़ित कर उल्लसित होता है। फिर सौमिल की बात याद हो आई। क्या सौमिल अब घर लौटेगा ? नहीं लौटेगा तो फिर क्या करेगा ? उसी ने तो उसे संघ से निर्वासित किया है। तब क्या वह जन्म-मृत्यु के स्रोत में फिर एक बार प्रवाहित होगा ? कहाँ है उसका आश्रय ? निराश्रय के लिए ही तो है आश्रय। भाग्य-विडम्बिता के लिए ही तो है त्रिशरण मंत्र। इसीलिए तो बुद्ध हैं करुणाधन। वे शान्ता हैं। तब क्या उसने निर्वासन दण्ड देकर भूल की है ? नहीं, नहीं सौमिल संघ को अस्वीकार किया है। सत्य ही तो है जो शान्ता होता है वही तो होता है शास्ता। बुद्ध शास्ता भी हैं और उन्हीं का निदर्शन है यह पातिमोक्ष। उत्पल फिर एक बार पातिमोक्ष पढ़ने की चेष्टा करने लगा...। पर कहाँ कर पाया मनःसंयोग। सहसा उसके मन में आया दया और करुणा एक नहीं है। दया में ममत्व है, करुणा निर्मम है। दया के उद्रेक का कारण दूसरे की परिस्थिति में स्वयं को भांपना है। किन्तु करुणा ऐसी नहीं है। करुणा अन्य की वेदना को अपनी ही वेदना समझती है। उस समय सत्व-सत्त्व में पार्थक्य नहीं रहता। तुम्हारा दुःख है, मेरा दुःख है तुम्हारा सुख मेरा सुख। वह सुख ज़ेरा-सा नहीं बहुत विशाल है। तभी यदि तुम्हारे कल्याण के लिए तुम्हें दुःख देना पड़े तो दे सकते हैं। उस समय वह दुःख तुम्हें नहीं स्वयं को ही दिया जाता है। तभी तो शान्ता उस समय शास्ता है जबकि दण्ड ही कल्याण है।

उत्पल ने जब सोचा दण्ड ही सौमिल के लिए कल्याणकारी है तब उसके हृदय से एक गुरुर भार जैसे उतर गया। उसका समस्त अन्तःकरण बोल उठा— 'सौमिल, मुझे तुमसे प्रेम है, मैं तुम्हारे कल्याण की कामना करता हूँ। तभी तुम्हें दण्ड देने का अधिकार रखता हूँ। तुम्हें दण्ड दिया है।' उत्पल की भावना ने फिर एक नवीन पथ पकड़ा। अब वह विहार के विषय में सोचने लगा कि यह विहार आज जिस अवस्था में है यह अवस्था उसकी पहले नहीं थी। एक समय यह अत्यंत समृद्ध था। उन दिनों देश-विदेशों से अर्थ आता था। केवल अर्थ ही नहीं तब दूर-दूरान्तरों से ज्ञानान्वेषियों का दल भी आता था। उनके अध्ययन-अध्यापन ने विहार को एक विशेष मर्यादा दी थी। ...पर आज कहाँ है वह ज्ञानान्वेषियों का दल ? कहाँ है नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, वसुबन्धु, दिगनाग, धर्मपाल, शीलभद्र, धर्म कीर्ति, शान्तरक्षित ? केवल उनकी धारा को वहन करने के लिए है स्थविर मुदितभद्र। तो क्या अब कोई आशा नहीं है ? क्या नालन्दा अपना हतगौरव पुनः प्राप्त नहीं करेगा ? तथागत का धर्म गौरव क्या सचमुच ही अस्तमित हो रहा है ? कौन जाने क्या है ?

उत्पल इसका कारण अनुसन्धान करने लगा। सोचने लगा— 'राजाओं की वीतश्रद्धा ही क्या इसका कारण है या विधर्मी तुर्कों का आक्रमण ?

तुकों ने इस विहार पर्यन्त को दग्ध कर डाला था। भिक्षुओं की नृशंस हत्या की थी। तब यही कारण हो सकता है। फिर भी यही एक कारण नहीं है। तब क्या है?’ उत्पल पुनः मुदितभद्र की बात सोचने लगा। विहार ध्वंस कर जब तुर्क चले गए थे तब उन्होंने विहार एवं चैत्य का संस्कार करना प्रारम्भ किया था। उस दिन मुट्ठी भर भिक्षुओं को लेकर ही वे कार्य-प्रवृत्त हुए थे। अर्थ भी मिला मगध-मंत्री कुकुट सिद्ध से। किन्तु, सब कुछ अर्थ से ही नहीं होता। नवीन रूप से विहार निर्माण में उन्हें अपरिमेय परिश्रम करना पड़ा। उनके परिश्रम का ही तो प्रतिरूप है यह विहार। फिर तो विभिन्न स्थानों के भिक्षुओं एवं विद्यार्थियों का समागम भी होने लगा था। पर...

उत्पल सोचने लगा— ‘लगता है इस क्षेत्र में दैव ही प्रतिकूल हैं। मन ही मन वह यह कहे बिना नहीं रह सका। ‘अमिताभ! देखना, स्थविरों का प्राणप्रातः परिश्रम कहीं व्यर्थ न हो जाए!’

‘भगवान् तथागत की अभिरुचि।’

उत्पल ने पीछे घूमकर देखा। किन्तु कोई दिखाई नहीं पड़ा। शायद यह भ्रान्ति थी। लेकिन उसने स्पष्ट ही तो सुना था जैसे कोई उसके पीछे से बोल रहा था, ‘भगवान् तथागत की अभिरुचि।’

उत्पल भित्ति गात्र पर भूमि स्पर्श मुद्रा में उत्कीर्ण बोधिसत्व की मूर्ति की ओर देखता हुआ करबद्ध होकर बोल उठा— ‘भगवान् तथागत की अभिरुचि ही पूर्ण हो।’

‘देख रहे हो, देख रहे हो...’

बाहर पुनः कोलाहल होने लगा। उसी कोलाहल को लक्ष्य करता हुआ उत्पल बाहर आ खड़ा हुआ। देखा कुछ मेघ अंश हट जाने से सूर्य प्रकाशित हो उठ रहा है। सूर्य क्या था साक्षात् अग्निपिण्ड।

उसी समय वे वृद्ध यष्टि पर भार दिए उत्पल के समीप आ गए थे। उत्पल का हाथ स्पर्श करते हुए बोले, ‘देख रहे हो, क्या देखा? उनका कण्ठ-स्वर विकृत था। उत्पल बोला— ‘सूर्य’।

‘सूर्य? नहीं, मैं तो देख रहा हूँ ब्राह्मणगण यज्ञाग्नि में आहुति प्रदान कर रहे हैं। आज द्वादश वर्ष पूर्ण हो गया है।’

उत्पल बिना कुछ उत्तर दिए ही सूर्य की ओर देखता हुआ स्थिर खड़ा रहा।

किन्तु सूर्य अधिक देर तक नहीं रहा, पुनः मेघ ने ग्रास कर लिया। जो स्तब्धता समस्त दिन अव्याहत थी वही स्तब्धता मुहूर्त भर के लिए और कठोर हो गई। फिर न जाने क्या हुआ कि समस्त धरती काँप उठी। भू-गर्भ से एक अवरुद्ध गर्जन मरणाहत दैत्य की भाँति आर्तनाद करता हुआ बाहर आया। वृद्ध गिरने ही जा रहे थे कि मानता कृत स्तूप का आश्रय लेकर किसी प्रकार खड़े रहे। सूर्य देखने के लिए भिक्षुगण अपना-अपना कार्य छोड़कर बाहर आ गए थे। इस बार उनके चीत्कार से आकाश-बातास परिपूरित हो उठे। एक क्षण के लिए उत्पल भी हतप्रभ हो उठा। उसे लगा— जैसे पदतल स्थित मृत्तिका निम्नाभिमुख होकर धँसी जा रही है। स्तूप का भित्तिगात्र काँप रहा है। ...दूर बहिर्प्राकार का एक विराट अंश भंग हो रहा है। उसके गिरने की आवाज ने कानों

को बधिर कर डाला। उसी स्थान से प्रचुर धूल उत्क्षिप्त होकर चक्कर काटती हुई उसी की ओर अग्रसर हो रही थी।

भूमिकम्प का वेग स्थिर होते ही उत्पल स्थविरों के प्रकोष्ठ की ओर चल पड़ा। देखा— सभी अपने-अपने प्राणों की रक्षा में व्यस्त परस्पर एक दूसरे को ढकेलते हुए, गिरे हुए को कुचलते हुए दौड़े जा रहे हैं। कोई आर्तनाद कर रहा है तो कोई त्रिशरण मंत्र उच्चारण कर रहा है।

‘थेर।’

स्थविर ने मुख उठाकर देखा। बोले ‘उत्पल, तुमने विहार का परित्याग नहीं किया?’

उत्पल बोला, ‘थेर! मैं आपको लेने आया हूँ।’

स्थविर हंस पड़े, बोले, ‘कहाँ ले जाओगे उत्पल?’

और द्विगुण वेग से भूमिकम्प प्रारम्भ हो गया। उत्पल सोचने लगा— ‘ठीक ही तो है जब पृथ्वी ही आज क्षिप्त है तब आश्रय कहां?’

स्थविर उत्पल के मुख की ओर देखकर बोले, ‘तुम जाओ उत्पल, मैं स्थान त्याग नहीं कर सकता।’ उत्पल हाथ जोड़कर कहने लगा— ‘थेर! ऐसी अनुमति मत दीजिए।’

स्थविर पुनः एकबार उत्पल के मुख की ओर देखने लगे। फिर धीरे से बोले— ‘उत्पल, मैं तुम्हारा आचार्य हूँ। मेरा आदेश है, तुम प्रकोष्ठ परित्याग कर इस स्थान की अपेक्षा निरापद स्थान पर चले जाओ।’

उत्पल ने स्थविर के आदेश की उपेक्षा जीवन में कभी नहीं की थी पर आज उनकी आज्ञा को भी अवहेलित सा कर रहा था। किन्तु, सहसा जो कुछ उसे दृष्टिगत हुआ उससे वह स्थिर न रह सका। उसने जो कुछ देखा वह एक भयंकर दुःस्वप्न की भाँति था। उसकी समस्त देह जैसे जमकर हिम हो गई। देखा— विहार का विशाल पुस्तकालय ‘रत्नोदधि’ जिस ओर था वहाँ से प्रचुर धूमपूज पर लपकती हुई अग्नि-शिखा मुंह बाएँ धाय-धाय कर रही थी। दीर्घ संचित ज्ञानराशि की जो कुछ रक्षा हो सकी थी वह भी आज समाप्त होने जा रही थी। क्या उसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं?

उत्पल अन्धवेग से उसी ओर दौड़ पड़ा। यद्यपि बार-बार उसके चरण स्खलित हो रहे थे फिर भी भागा जा रहा था। देखा— भिक्षुगण उस समय भी विभ्रान्त की भाँति पथ भ्रष्ट होकर इधर-उधर दौड़ रहे थे।

‘सुभद्र।’

सुभद्र उस समय भित्तिगात्र की बुद्ध मूर्ति के सम्मुख घुटने टेक कर बैठा प्रार्थना कर रहा था। कह रहा था ‘रक्षा करो वज्रपाणि, रक्षा करो।’

प्रचण्ड वेग से उत्पल ने उसे अपनी ओर आकृष्ट किया। बोला— ‘नहीं देख रहे हो भित्तिगात्र काँप रहा है। किसी भी क्षण वह गिर सकता है। बहिर्द्वार की ओर जाओ।’ फिर सुभद्र ने क्या किया यह देखने को वह रुक न सका। बस उसी अग्नि को लक्ष्य करता हुआ दौड़ने लगा।

एक मुहूर्त के लिए उत्पल पुनः एकबार खड़ा हुआ। सुना, जैसे कोई कह रहा था— ‘मैं जानता हूँ वेनु, विहार का ऐश्वर्य कहां रक्षित है? कौन देख रहा है? चल न, अपने उसी ऐश्वर्य को बांट लें।’

यह सुनकर उत्पल खड़ा न रह सका, न ही विहार के ऐश्वर्य की रक्षा करने को उद्यत हुआ, न ही वेनु एवं उसके साथी को नैतिक पतन से बचाने की सोच सका। पर यह स्मरण अवश्य हो आया यह वेनु राजगृह से किसी कार्योपलक्ष में आया था। एक वेदना तीक्ष्ण सूचि की भांति उसे विद्ध करने लगी। पुनः एकबार दोहरा उठा— ‘भगवान् तथागत, आपकी अभिरुचि ही पूर्ण हो।’

किन्तु उत्पल जिस कार्य के लिए आया था वह असम्भव था। ग्रन्थागार के भिक्षुओं ने प्रथम तो उसकी रक्षा के लिए चेष्टा की। किन्तु जब अवस्था उनके सामर्थ्य के बाहर हो गई वे निरस्त हो गए। उत्पल उनके पास आकर खड़ा हो गया। देखा, बहुदिन सयत्न संग्रहित पुस्तकें जल-जलकर भस्म हो रही थीं। उद्विग्न धूम्र ऊर्ध्वगमन कर रहा था। उस पर प्रवाहित वायु भी उस ताण्डव को सहयोग दे रहा था। ज्वलन्त अंगार एवं भस्म उड़-उड़कर चतुर्दिक गिर रही थी।

भूमिकम्प तो बन्द हो गया था किन्तु वह किसी भी क्षण पुनः प्रारम्भ हो जाएगा। यह सम्भावना बनी हुई थी। उत्पल सोचने लगा— भूमिकम्प होना तो स्वाभाविक है, पर यह अग्निकांड? ग्रन्थागार में अग्नि लगी तो कैसे? यज्ञाग्नि? किन्तु इस पर विश्वास करने की इच्छा नहीं होती। तब कौन सा कारण हो सकता है? किसी ने अग्नि-संयोग तो नहीं कर दिया।

उत्पल ग्रन्थागार के संरक्षकों के निषेध की अवहेलना करता हुआ उस अग्नि वृष्टि के मध्य अग्रसर होने लगा। देखा— अग्नि की लपलपाती हुई लपटें और प्रोज्ज्वल होती जा रही थीं। कभी वह शिखा घननील, कभी पाण्डुर, कभी रक्तवर्ण हो रही थी अयुत नागिन के फणों की भांति सिर उठाए वे नृत्य कर रही थीं। कभी-कभी मन्द हो जाती, पर मात्र द्विगुण वेग से जल उठने के लिए ही।

अनेक भिक्षु एवं विद्यार्थी वहिर्द्वार के बाहर चले गए। जैसे वे मृत्यु के ही बाहर हो गए हों। अतः उन्मुक्त से कलरव कर रहे थे। इसीलिए यह कोई सोच नहीं सका कि विहार के अन्यान्य अंश की अग्निदाह से रक्षा की जा सकती थी। उन्होंने तो बस सोच ही लिया था कि वह विहार का अन्तिम दिन था।

उत्पल अग्रसर होता गया। किन्तु अब और अधिक अग्रसर होना असम्भव था। धूम्र और वाष्प ने उसके चक्षुओं को अवरुद्ध कर दिया।

प्रज्ज्वलित अंगार उड़-उड़कर चतुर्दिक जो कुछ भी दाह्य पदार्थ था सब जला रहे थे।

उत्पल ने ज्योंहि सम्मुख कदम रखा उसके पद आघात से कोई आर्त्तनाद कर उठा। वह चमक कर एक ओर हो गया। बोला— ‘कौन?’

उत्तर न पाकर वह नीचे झुककर देखने लगा। ‘अरे! मनुष्य-देह ही तो है!’ पूछा— ‘कौन हो तुम?’

वह देह कुछ हिल उठी। बोली— ‘ब्राह्मण!’

उसका अर्द्धदग्ध मुख विकृत हो रहा था। अतः पहचान तो नहीं सका, पर उस शब्द ने सब कुछ सुबोध कर दिया। बोला— ‘क्या तुम्हीं ने ग्रन्थागार में अग्नि संयोग किया था? तुम्हारे पाप की सीमा नहीं है। किन्तु, बुद्ध तुम्हें क्षमा करेंगे।’ फिर कुछ रुककर बोला, ‘लगत है तुम्हारे प्राण बच सकते हैं। तुम मेरा अवलम्बन लेकर उठ सकते हो?’

ब्राह्मण से प्रत्युत्तर पाने के पूर्व ही पृथ्वी पुनः एक बार कांप उठी। वह कम्पन इतना प्रचण्ड था कि धरापृष्ठ स्थान-स्थान पर फट गया। बौद्ध विहार का सब कुछ रसातल में धंसने लगा।

उत्पल ब्राह्मण को निरापद स्थान में ले जाने की चेष्टा कर रहा था पर लड़खड़ाकर गिर पड़ा और कभी न उठ सका। समस्त धरती और आकाश भिक्षुओं एवं विद्यार्थियों के आर्त्त चीत्कार से पुनः एकबार भर उठा।

पृथ्वी तब भी कांप रही थी, मरणोन्मत्त वेग से कांप रही थी कहीं कुछ नीचे धंस रहा था, कहीं जल और कर्दम ऊपर की ओर उछल रहा था। भिक्षुगण विक्षिप्त से दौड़ा भागी कर रहे थे। ...पर कहाँ था आश्रय। कोई धंसान के साथ नीचे जा रहा था। कोई कीचड़ के साथ ऊपर जाकर पुनः खड्ड में गिर रहा था। चारों ओर अग्नि-व्याप्त हो रही थी।

दूसरे दिन जब फिर सूर्य उदित हुआ उस विहार का कोई चिह्न ही अवशेष नहीं था। पृथ्वी ने पूर्णतः ग्रास कर लिया था उस विराट् विहार को। किन्तु हां, धरती के उस आलोड़न के परिणाम-स्वरूप जो कुछ उठना, धंसना परिवर्तन हुआ वह प्रकृति की उस निष्ठुर लीला की जैसे साक्षी दे रहा था।

अध्यापक खण्ड

भारतीय गणित का संक्षिप्त इतिहास

गणित को भारत में प्रारम्भ से ही बहुत महत्वपूर्ण विषय माना जाता रहा है। 'वेदांग ज्योतिष' (1000 ई० पू०) में गणित की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है :-

यथा शिखा मयूराणां, नागाणां मणयो यथा

तद्वद्वेदांग शास्त्राणां, गणितं मूर्ध्नि वर्तते।

अर्थात् जिस प्रकार मयूरों की शिखाएं और सर्पों की मणियां शरीर में सबसे ऊपर मस्तक पर विराजमान हैं उसी प्रकार वेदों के सब अंगों तथा शास्त्रों में गणित शिरोमणि है।

भारतीय गणित के इतिहास का शुभारम्भ ऋग्वेद से होता है—

वैदिक काल (1000 ई० पूर्व तक) :

वेदों में संख्याओं और दार्शनिक प्रणाली का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद की एक कृचा है :-

द्वादश प्रथयश्य क्रमेकं त्रिणि नभ्यामिक उत्तच्चिकेत

तस्मिन्सामकं त्रिशता न शंकवोऽर्पित षष्ठिर्न चलचलास।

इसमें द्वादश अर्थात् बारह, त्रिणि अर्थात् तीन, त्रिशति अर्थात् तीन सौ, षष्ठि अर्थात् साठ संख्याओं का प्रयोग दशमिक प्रणाली के ज्ञान का स्पष्ट उदाहरण है।

इस काल में 'शून्य' (zero) और "दशमिक स्थान मान" पद्धति का आविष्कार गणित के क्षेत्र में भारत की अभूतपूर्व देन है। यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि शून्य का आविष्कार कब और किसने किया, किन्तु इसका प्रयोग वैदिक काल से होता रहा है। 'शून्य' और 'दशमिक

स्थान मान' की पद्धति आजकल सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित है।

महर्षि वेदव्यास द्वारा प्रणीत नारद विष्णु पुराण में त्रिस्कन्ध ज्योतिष के वर्णन प्रसंग में गणित विषय का प्रतिपादन किया गया है, जिसमें (10⁰), दश, शत, सहस्र, अयुत (दस हजार), लक्ष (लाख), कोटि (करोड़), अर्बुद (दस करोड़), अब्ज (अरब), खर्ब (दस अरब), महापद्म (दस खरब), शंकु (नील), जलधि (दशनील), अन्त्य (पद्म), मध्य (दस पद्म), परार्ध (शंख जो 10¹⁷ के मान के बराबर है) इत्यादि संख्याओं के बारे में बताया गया है कि ये संख्याएं उत्तरोत्तर दस गुनी हैं। इतना ही नहीं, इसमें गणित की अनेक संक्रियाओं- योग, व्यवकलन, गुणा एवं भाग, भिन्न, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, त्रैशिक व्यवहार आदि का विशद वर्णन है।

अंकों को लिखने की दशमिक स्थान मान पद्धति भारत से अरब गयी और अरब से पश्चिमी देशों में पहुंची। अरब के लोग 1 से 9 तक के अंकों को 'इल्म हिन्दसा' कहते हैं और पश्चिमी देशों में (0, 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9) को Hindu Arabic numerals कहा जाता है।

उत्तर वैदिक काल (1000 ई० पू० से 500 ई० पू० तक) :

1 : शुल्व एवं वेदांग ज्योतिष काल :

विभिन्न प्रकार की वेदियों और उन पर उपखंडों को सही-सही नापकर बनाने के प्रश्न को लेकर इस काल में रेखा गणित के सूत्रों का विकास एवं विस्तार किया गया जो 'शुल्व सूत्रों' के रूप में उपलब्ध हैं। शुल्व उस रज्जु (रस्सी) को कहते हैं जो यज्ञ की वेदी बनाने के लिए माप के काम आती थी।

दूरी मापने या पृथ्वी पर वृत्त खींचने में शुल्व का प्रयोग होता था। शुल्व का अर्थ है रज्जु या रस्सी। अतः वह गणित जो शुल्व की सहायता लेकर विकसित किया गया, उसे शुल्व विज्ञान या शुल्व गणित का नाम दिया गया। शुल्व का पर्यायवाची रज्जु होने के कारण इसे रज्जु गणित भी कहा गया जो आगे चलकर रेखागणित में परिणत हो गया। विभिन्न प्रकार की यज्ञ वेदियों के निर्माण में रज्जु की सहायता से पृथ्वी पर अभीष्ट दूरियां मापने के अतिरिक्त कृषि योग्य भूमि की माप भी की जाती थी, इसीलिए इसकी सहायता से विकसित गणित का नाम क्षेत्रमिति, ज्यामिति तथा भूमिति भी पड़ गया। क्षेत्र, ज्या, भू का एक ही अर्थ है भूमि तथा मिति का अर्थ है मापन।

ज्यामिति को ग्रीक भाषा में ज्योमीट्री कहा जाता है। अंग्रेजी भाषा में भी Geometry यथावत् प्रयुक्त होता है। कुछ लोगों का विचार है कि "ज्योमीट्री" ज्यामिति का अपभ्रंश है।

ज्यामिति का महत्व बताते हुए एक प्राचीन जैन ग्रन्थ में कहा गया है- "ज्यामिति गणित का कमल है और शेष सब तुच्छ है।"

शुल्व काल की प्रमुख उपलब्धियों में से एक है समकोण त्रिभुज का प्रमेय अर्थात् "कर्ण पर बना वर्ग शेष दो भुजाओं पर बने वर्गों के योग के बराबर होता है।" यह प्रमेय पाइथागोरस से कई शताब्दियों

पूर्व भारत में व्यापक रूप से प्रचलित था। यही नहीं शुल्व काल से पहले ही इस तथ्य की जानकारी हमारे देश के विद्वानों को थी क्योंकि तैत्तिरीय संहिता (3000 ई0पू0) में एक तथ्य $39^2 = 36^2 + 15^2$ दिया हुआ है।

शुल्व काल के महान् गणितज्ञ, शुल्व सूत्र के रचयिता बोधायन ने लिखा है- “दीर्घ चतुरश्रस्याक्षण्या रज्जुः पार्श्वमानी तिर्यग्मानी च यत् पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति”

अर्थात् दीर्घ चतुरश्र (आयत) की तिर्यग्मानी और पार्श्वमानी (लम्ब और आधार) भुजाएं जो दो वर्ग बनाती हैं, उनका योग अकेले कर्ण पर बने वर्ग के बराबर होता है। पाइथागोरस (540 ई0पू0) ने बोधायन से लगभग 450 वर्ष बाद इस तथ्य को प्रतिपादित किया। अतः इस प्रयोग को पाइथागोरस के स्थान पर ‘बोधायन प्रमेय’ कहना सुसंगत होगा।

बोधायन ने दो वर्गों के योग और अन्तर के बराबर वर्ग बनाने की विधि दी है और करणीगत संख्या का मान दशमलव के पांच स्थानों तक निकालने के लिए “सूत्र” भी बताया है जिसके द्वारा...

$$2 = 1 + 1/3 + 1/3.4 - 1/3.4.34$$

बोधायन ने अन्य करणीगत संख्याओं के भी मान दिये हैं। प्राचीन भारतीय ज्यामितिज्ञ अपने द्वारा अन्वेषित साध्यों की उपपत्ति नहीं देते थे। वे केवल सूत्र लिखते थे जो यथासंभव संक्षिप्त रूप में होते थे, जिसके कारण उनमें यत्र-तत्र अस्पष्टता भी आ जाती थी। यह संक्षिप्तता हिन्दू जाति के स्वभाव के अनुरूप थी जो कि उनकी अन्य प्राचीन कृतियों में भी परिलक्षित होती है।

इसी काल में ज्योतिष का भी विकास हुआ। (कालगणना) समय, नक्षत्रों की स्थिति और गति की गणना के लिए ज्योतिष गणित का विकास हुआ। वेदांग ज्योतिष (1000 ई0 पू0) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय ज्योतिषियों को योग, गुणा, भाग आदि का ज्ञान था। जैसे-

तिथिमेकादशाम्यस्तां पर्वभांशसमन्विताम्।

विभज्य भसमूहेन तिथि नक्षत्रमादिशेत् ॥

अर्थात् तिथि को ॥ से गुणा करें, उसमें पर्व के भांश को जोड़ें और फिर नक्षत्र संख्या से भाग दें। इस प्रकार तिथि के नक्षत्र को बतावें।
सूर्य प्रज्ञप्ति काल :

जैन साहित्य में तत्कालीन गणित का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। वास्तव में जितने विस्तार से और स्पष्ट रूप से गणितीय सिद्धान्तों का विवेचन जैन साहित्य में किया गया है, वह जैन दर्शन का वेद के रहस्यवाद के स्थान पर ज्ञान को सामान्य लोगों की भाषा और स्तर तक पहुंचाने की प्रवृत्ति का स्पष्ट द्योतक है। इस काल की प्रमुख कृतियां ‘सूर्यप्रज्ञप्ति’ तथा ‘चन्द्रप्रज्ञप्ति’ (500 ई0पू0) जैन धर्म के प्रसिद्ध धर्म ग्रन्थ हैं। इनमें गणितानुयोग का वर्णन है। सूर्य प्रज्ञप्ति में दीर्घवृत्त का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिसका अर्थ दीर्घ (आयत) पर बना परिवृत्त है जिसे परिमण्डल नाम से जाना जाता था। स्पष्ट है कि भारतीयों को दीर्घ वृत्त का ज्ञान मिनमैक्स

(350 ई0पू0) से लगभग 150 वर्ष पूर्व हो चुका था। यह इतिहास ज्ञात न होने के कारण पश्चिमी देश मिनमैक्स को ही दीर्घवृत्त का आविष्कारक मानते हैं। उल्लेखनीय है कि भगवती सूत्र (300 ई0पू0) में भी परिमण्डल शब्द दीर्घवृत्त के लिए ही प्रयुक्त किया गया है जिसके दो प्रकार भी बताये गये हैं- 1 : प्रतरपरिमण्डल तथा 2 : घनपरिमण्डल।

गणित एवं ज्योतिष के विकास में जैनाचार्यों का श्लाघनीय योगदान रहा है। इन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में गणित के अनेक अध्ययन तत्वों का मीमांसात्मक विवेचन रोचक ढंग से उदाहरण सहित प्रस्तुत किया है। उन्होंने संख्या - लेखन पद्धति, भिन्न त्रैशिक व्यवहार तथा मिश्रानुपात, बीजगणितीय समीकरण एवं इनके अनुप्रयोग विविध श्रेणियां, क्रमचय, संचय, घातांक एवं लघुगणक के नियम, समुच्चय सिद्धान्त आदि अनेक विषयों पर विशद प्रकाश डाला है। समुच्चय सिद्धान्त के अन्तर्गत परिमित अपरिमित, एकल समुच्चयों के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। लघुगणक के लिए इन्होंने अर्द्धच्छेद, त्रिकच्छेद, चतुर्थच्छेद शब्दों का प्रयोग किया है जिनका अर्थ क्रमशः $\log 2, \log 3, \log 4$ है। जान नेपियर (1550-1617 ई0) के बहुत पहले लघुगणक का आविष्कार एवं विस्तृत अनुप्रयोग भारत में हो चुका था, जो एक सार्वजनीन सत्य है।

पूर्व मध्यकाल (500 ई0पू0 से 400 ई0पू0) तक :

इस काल में लिखी गई पुस्तकों “वक्षाली गणित”, “सूर्य सिद्धान्त” और “गणितानुयोग” के कुछ पत्रों को छोड़कर शेष कृतियां काल कवलित हो गयी, किन्तु इन पत्रों से और मध्य युग के आर्य भट्ट, ब्रह्मगुप्त आदि के उपलब्ध साहित्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस काल में भी गणित का पर्याप्त विकास हुआ था। स्थानांग सूत्र, भगवती सूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र इस युग के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त जैन दार्शनिक उमास्वाति (135 ई0पू0) की कृति “तत्त्वार्थाधिगम सूत्र भाष्य” एवं आचार्य यतिवृषभ (176 ई0 के आसपास) की कृति “तिलोपपण्णती” भी इस काल के प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ हैं।

वक्षाली गणित में अंकगणित की मूल संक्रियाएं, दशमिक अंकलेखन पद्धति पर लिखी हुई संख्याएं, भिन्न परिकर्म, वर्ग, घन, त्रैशिक व्यवहार, इष्ट कर्म, व्याज, रीति, क्रय-विक्रय संबंधी प्रश्न, सम्मिश्रण संबंधी प्रश्न, आदि का विस्तृत विवरण है। प्रश्नों के उत्तर के परीक्षण के नियम भी दिए गये हैं। वक्षाली गणित इस बात का प्रमाण है कि भारत में 300 ई0पू0 भी वर्तमान अंकगणितीय विधियों का व्यापक प्रयोग हो रहा था।

स्थानांग सूत्र में 5 प्रकार के अनन्त की तथा अनुप्रयोग में 4 प्रकार के प्रमाप (Measure) की बात कही गई है। इस ग्रन्थ में क्रमचय (Permutation) एवं संचय (Combination) का भी वर्णन है, जिनको क्रमशः भंग और विकल्प के रूप में जाना गया है। उल्लेखनीय है कि भगवती सूत्र में n (n) प्रकारों में से 1-1, 2-2, प्रकारों को एक साथ लेने से जो संचय (Combination) बनते हैं, उन्हें एकक, द्विक संयोग आदि कहा है और उनका मान $n, n(n-1)/2$, आदि बताया गया है जो आज भी प्रचलित है।

सूर्य सिद्धान्त में वर्तमान त्रिकोणमिति का विस्तृत वर्णन मिलता है।

इसमें ज्या (Sine), उल्ट्रम ज्या (Verse-Sine) तथा कोटिज्या (Cosine) के मान का उल्लेख है। ध्यान रहे कि यही ज्या व जीव अरब जाकर जेब (Jaib) हो गयी जिसका शब्दिक अनुवाद लैटिन में जेब (पाकिट) अर्थात् Sinus किया गया। यही Sine शब्द आगे चलकर Sinus हो गया। इसी प्रकार कोटिज्या (Cosine) हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि त्रिकोणमिति के विस्तार में भारतीयों का बहुमूल्य योगदान रहा है। त्रिकोणमिति शब्द शुद्ध भारतीय है जो कालान्तर में Trigonometry हो गया। भारतीयों ने त्रिकोणमिति का प्रयोग ग्रहों की स्थिति, गति आदि के निर्धारण में किया।

इस काल में बीजगणित का विस्तार गणित के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन था। वक्षाली पाण्डुलिपि में इष्ट कर्म (Rule of false position) में। अथवा 100 के स्थान पर अव्यक्त राशि कल्पित की गयी है। गणितज्ञों की मान्यता है कि इष्टकर्म ही बीजगणित के विस्तार का आदि स्रोत है। भारतीयों ने धन, ऋण जो चिन्ह मात्र हैं, उनके जोड़, घटाना, गुणा, भाग आदि के लिए नियमों को विकसित किया। महान् गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त (628 ई०पू०) ने बताया कि “धन संख्या और ऋण संख्या का गुणनफल ऋण संख्या, दो ऋण संख्याओं का गुणनफल धन संख्या तथा धनसंख्या और धनसंख्या का गुणनफल धन संख्या होती है।”

भारतीयों ने वर्ग, धन आदि घातों (Powers) के लिए संकेतों का प्रयोग किया। वही संकेत आज भी प्रयुक्त किये जाते हैं। अनुयोग द्वार सूत्र में कुछ बीजगणितीय घात नियम दिये हुए हैं। जैसे-

$$\text{क का प्रथम वर्ग} = \text{क}^2$$

$$\text{क का द्वितीय वर्ग} = (\text{क}^2)^2 = \text{क}^4$$

$$\text{क का तृतीय वर्ग} = (\text{क}^3)^2 = \text{क}^6$$

$$\text{क का प्रथम मूल} = \text{क} = \text{क} \times 1/2$$

$$\text{क का द्वितीय मूल} = \text{क} = \text{क} \times 1/4 \text{ आदि।}$$

निःसंदेह अंकगणित की भांति बीज गणित भी भारत से अरब पहुंचा। अरब देश के गणितज्ञ (AL-KHOWARIZMI) अपनी पुस्तक “अलजब्र” व “अल मुकाबला” में भारतीय बीजगणित पर आधारित विषय का प्रतिपादन किया है। उनकी पुस्तकों के नाम पर इस विषय का नाम (Algebra) पड़ गया।

जहां तक अन्य राष्ट्रों की बात है, हम पाते हैं कि “यूनानी गणित” के स्वर्णयुग में आधुनिक अर्थ में अलजबरा का नामोनिशान तक न था। Classical Period में यूनानी लोग बीजगणित के अनेक कठिन प्रश्नों को हल करने की योग्यता रखते थे, परन्तु उनके सभी हल ज्यामितीय होते थे। बीजगणितीय हल वहां सर्वप्रथम Diaphantus (275 ई० लगभग) के ग्रन्थों में पाये गये हैं। उस समय भारतीय लोग बीज गणित में अन्य राष्ट्रों से बहुत आगे थे।

मध्यकाल या स्वर्णयुग (400 ई० से 1200 ई० तक) :

इस काल को भारतीय गणित का स्वर्णयुग कहा जाता है, क्योंकि इस काल में आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, महावीराचार्य, भास्कराचार्य जैसे अनेक श्रेष्ठ एवं महान् गणितज्ञ हुए जिन्होंने गणित की सभी शाखाओं को,

जिनका प्रयोग हम आज कर रहे हैं, विस्तृत व स्पष्ट रूप प्रदान किया। वेदों में जो सिद्धांत व विधियां सूत्र रूप में हैं, वे इस काल में अपनी पूर्ण संभावनाओं के साथ जन साधारण के सामने आईं। भारतीय गणित के इस स्वर्णयुग की स्मृति में भारत ने अंतरिक्ष में जो प्रथम उपग्रह स्थापित किया उसका नाम आर्यभट्ट के नाम पर रखा गया। इस काल के कतिपय महान् गणितज्ञों एवं उनकी कृतियों का संक्षिप्त वर्णन अग्रवत् है।

आर्यभट्ट (499 ई० - प्रथम) :

ये पटना के निवासी थे। आर्यभट्ट ने अपनी पुस्तक ‘आर्यभटीय गणितपाद’ के 332 श्लोकों में गणित के महत्वपूर्ण एवं मूलभूत सिद्धांतों को साररूप में कह दिया है। आर्यभटीय के प्रथम दो पादों में गणित तथा अंतिम दो पादों में ज्योतिष का विवरण है। प्रथम पाद दशमीतिका में बड़ी-बड़ी संख्याओं को वर्णमाला के अक्षरों द्वारा निरूपित करने की विधि भी बताई गयी है।

इसके द्वितीय पाद “गणित पाद” में अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित और त्रिकोणमिति के अनेक कठिन प्रश्नों का समावेश है। बीजगणित में साधारण तथा वर्गीय समीकरण कुटक अर्थात् अनिर्णीत समीकरण का विस्तृत विवरण है। आर्यभट्ट ने त्रिकोणमिति में सर्वप्रथम व्युत्क्रम ज्या का प्रयोग किया जो बाद में पाश्चात्य जगत में (Verse sine) के नाम से जाना जाने लगा। रेखा गणित के क्षेत्र में इन्होंने π का मान दशमलव के चार स्थानों तक 3.1416 ज्ञात किया जो आज भी सही माना जाता है। इन्होंने बताया कि 20,000 इकाई व्यास वाले वृत्त की परिधि का मान 62,832 इकाई होता है अर्थात्...

$$\pi = 62832/20,000 = 3.1416$$

अंकगणित के क्षेत्र में भी इन्होंने वर्गमूल एवं घनमूल ज्ञात करने की विधियों एवं त्रैशिक नियम का भी उल्लेख किया है। यह हर्ष की बात है कि सबसे पहले आर्य भट्ट ने ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि पृथ्वी गतिशील और सूर्य स्थिर है। जिसे पश्चिम में कोपरनिकस ने 1100 वर्षों बाद 16वीं शताब्दी में स्वीकार किया और 1642 में गैलीलियो को इसी बात पर अंधा किया गया।

वराहमिहिर (550 ई) :

ये आर्यभट्ट के बाद महान् गणितज्ञ एवं दार्शनिक थे। इनके ग्रन्थ पंच सिद्धान्तिका, वृहत्संहिता, वृहज्जातक हैं। वराहमिहिर द्वारा रचित ‘वाराहशुल्बसूत्र’ इनकी प्रसिद्ध कृति है। इसमें गणित के सभी अंगों पर समुचित प्रकाश डाला गया है। वेदियों के निर्माण संबंधी बीज के बहुत से सूत्र इसमें हैं।

भास्कर (प्रथम) (600 ई०) :

भास्कर ने अपनी पुस्तक महाभास्करीय, आर्यभटीय भाष्य और लघु भास्करीय में आर्यभट्ट द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को और विकसित एवं विस्तृत किया। कुटक (अनिर्धार्य) समीकरण पर इन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया है।

ब्रह्मगुप्त (628 ई०) :

ब्रह्मगुप्त ने 'बाह्मस्फुट सिद्धांत' के 25 अध्यायों में से 2 अध्यायों में गणितीय सिद्धांतों एवं विधियों का विस्तृत वर्णन किया। उन्होंने गणित की 20 क्रियाओं तथा 8 व्यवहारों पर प्रकाश डाला। बीजगणित में समीकरण-साधनों के नियमों का उल्लेख किया तथा अनिर्णीत द्विघातीय समीकरण का समाधान भी बताया। जिसे आयरलर ने 1764 ई0 में और लांग्रेज ने 1768 ई0 में प्रतिपादित किया। ब्रह्मगुप्त ने समखात (Prism) और सूची (Cone and conical column) के घनफल ज्ञात करने की विधि ज्ञात की। ब्रह्मगुप्त ने गुणोत्तर श्रेणी का योग ज्ञात करने की विधि और समकोण त्रिभुज के शून्य सूत्र का विस्तृत वर्णन भी किया है। ब्रह्मगुप्त ने सर्वप्रथम अनन्त की कल्पना की और बताया कि कोई भी ऋण अथवा धनराशि शून्य से विभाजित होने पर अनन्त हो जाती है।

महावीराचार्य (850 ई0) :

महावीराचार्य जैन धर्मावलम्बी थे। ये अमोघवर्ष-नृपतुंग नामक राष्ट्रकूट नरेश के सभासद थे। अमोघवर्ष नृपतुंग मैसूर तथा अन्य कन्नड़ क्षेत्रों के शासक थे तथा नवीं शती के पूर्वार्द्ध में सिंहासनारूढ़ हुए थे। अतः अनुमान लगाया जाता है कि महावीराचार्य 850 ई0 के लगभग हुए होंगे। महावीर ने 'गणितसार संग्रह' नामक अंकगणित के वृहत् ग्रन्थ की रचना की। इसमें अंकगणित का विधिवत् वर्णन किया गया है तथा उसमें संग्रहीत प्रश्न अत्यन्त मनोरंजक हैं। उन्होंने 10स0अ0 का आधुनिक नियम ज्ञात किया जिसका यूरोप में पहली बार प्रयोग 1500 ई0 में किया गया। इन्होंने वृत्तान्तगत चतुर्भुज तथा दीर्घ वृत्त के क्षेत्रफल ज्ञात करने के सूत्रों का निर्गमन भी किया।

श्रीधराचार्य (850 ई0) :

श्रीधराचार्य ने अंकगणित पर नवशतिका तथा त्रिशतिका, पाटीगणित और बीजगणित पुस्तकों की रचना की। इनकी रचना शैली अत्यन्त सरल, संक्षिप्त तथा हृदयग्राही है। अतएव इन ग्रन्थों का अत्यधिक प्रचार हुआ और सम्पूर्ण भारतवर्ष में इनका पठन-पाठन हुआ। इनकी बीजगणित की पुस्तक अप्राप्य है किन्तु इनका द्विघात समीकरण हल करने का सूत्र जो "श्रीधराचार्य विधि" कहलाता है, आज भी व्यापक रूप से व्यवहृत हो रहा है। इनकी पुस्तक "पाटी गणित" का अनुवाद अरब में "हिसाबुल तरबत" नाम से हुआ।

आर्यभट्ट द्वितीय (950 ई0) :

आर्यभट्ट (द्वितीय) महाराष्ट्र के निवासी थे। उन्होंने महासिद्धांत नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसके एक अध्याय में अंकगणित तथा दूसरे अध्याय में प्रथम घात वाले अतिधर्ष्य समीकरण (कूटक) का प्रतिपादन किया। गोले के पृष्ठफल का शुद्ध मान कदाचित् इसी ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में π का मान $22/7$ लिया गया है जो आज भी सर्वमान्य है।

श्रीपति मिश्र (1039 ई0) :

श्रीपति मिश्र भी महाराष्ट्र के निवासी थे। इन्होंने "सिद्धान्तशेखर" एवं "गणिततिलक" की रचना की। इन्होंने क्रमचय (Permutation) और संचय (Combination) पर विशेष कार्य किया। इनकी पुस्तक गणित तिलक का प्रारम्भिक भाग ही प्राप्त हो सका है, शेष भाग अप्राप्य

है।

नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (11वीं शती) :

चक्रवर्ती की प्रसिद्ध पुस्तक 'गोम्मतसार' है जिसके दो भाग हैं, कर्मकाण्ड एवं जीव काण्ड। दोनों में जीवराशियों, उनके कर्मों, आस्तवबंध, निर्जरा, सार्वत्रिक समुच्चयों, एकैकी संगति, सक्रमबद्धी प्रमेय (Well ordering theorems) आदि की चर्चा है। एकैकी संगति विधि का प्रयोग विदेशों में गैलीलियो एवं जार्ज कैण्टर (1845-1918) द्वारा कई शताब्दियों बाद किया गया।

भास्कराचार्य द्वितीय (1114 ई0) :

मध्ययुग के अन्तिम तथा अद्वितीय गणितज्ञ भास्कराचार्य द्वितीय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "सिद्धान्त-शिरोमणि", "लीलावती", "बीजगणित", "गोलाध्याय", "गृहगणितम्" एवं "करण कुतूहल" में गणित की विभिन्न शाखाओं अंकगणित, बीजगणित, त्रिकोणमिति आदि को एक प्रकार से अंतिम रूप दिया गया है। वेदों में जो सिद्धांत सूत्र रूप में थे, उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति भास्कराचार्य की रचना में हुई है। इनमें ब्रह्मगुप्त द्वारा बतायी गई 20 प्रक्रियाओं और 8 व्यवहारों का अलग-अलग विवरण और उनमें प्रयोग में लायी जाने वाली विधियों का प्रतिपादन सुव्यवस्थित और सुसाध्य रूप में किया गया है।

लीलावती में संख्या पद्धति का जो आधारभूत और सृजनात्मक प्रतिपादन किया गया है, वह आधुनिक अंकगणित और बीजगणित की रीढ़ है। लीलावती के काव्यपूर्ण सरल प्रश्न आज भी कला और विज्ञान के संगम के अनूठे उदाहरण हैं। भास्कराचार्य द्वितीय द्वारा बीजगणित के अनिर्णीत समीकरणों के समाधान के लिए प्रयुक्त चक्रवात विधि की प्रसिद्ध विद्वान हेंकल ने भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है, "यह निश्चय रूप से संख्या सिद्धांत में लाग्रान्ज से पूर्व सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है।" इसी नियम का फरमट ने 1657 में प्रयोग किया।

अपनी पुस्तक "सिद्धान्त शिरोमणि" में भास्कराचार्य द्वितीय ने त्रिकोणमिति का विस्तृत उल्लेख किया है। ज्या, कोज्या, उत्क्रमज्या के विभिन्न सम्बन्ध और तालिका, अवकलन, अणुचलन-कलन (Infinitesimal Calculus) तथा समाकलन (Integration) का भी प्रतिपादन किया। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की भी पूरी जानकारी उन्हें थी। उन्होंने लिखा है कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है जो वस्तुओं को खींचकर अपने धरातल पर लाती है।

उत्तर मध्यकाल (1200 ई0 से 1800 ई0 तक) :

भास्कराचार्य द्वितीय के बाद गणित में मौलिक कार्य अधिक नहीं हो सका। प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएं ही उत्तर मध्यकाल की मुख्य देन हैं। केरल के गणितज्ञ नीलकण्ठ ने 1500 ई0 में एक पुस्तक में ज्या x का मान निकाला :-

$$\text{ज्या } x = x - x/3 + x/5$$

मलयालम पाण्डुलेख "मुक्तिभास" में भी यह सूत्र दिया गया है। जिसे आज हम ग्रेगरी श्रेणी के नाम से जानते हैं।

इस काल के गणितज्ञों एवं उनकी कृतियों का विवरण अग्रांकित

है—

नारायण पण्डित (1356 ई०) :

नारायण पण्डित ने अंकगणित पर “गणितकौमुदी” नामक एक बृहद् ग्रंथ की रचना की। इसमें अनेक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। जिनमें क्रमचय संचय, अंक विभाजन (Partition of numbers) तथा मायावर्ग (Magic Squares) प्रमुख हैं। यह ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

नीलकण्ठ (1587) :

नीलकण्ठ ने “ताजिकनीलकण्ठी” नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें ज्योतिष गणित का प्रतिपादन किया गया है।

कमलाकर (1608 ई०) :

कमलाकर ने ‘सिद्धान्त तत्त्व विवेक’ नामक ग्रंथ की रचना की।

सम्राट जगन्नाथ (1731 ई०) :

सम्राट जगन्नाथ ने “सम्राट सिद्धान्त” तथा “रेखागणित” नाम की दो पुस्तकें लिखीं। रेखा-गणित की वर्तमान शब्दावली अधिकांशतः इसी पुस्तक पर आधारित है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त इस काल में केरलीय गणितज्ञों में संगम ग्राम में जन्मे माधव (1350-1410) ‘युक्तिभाषा’ नामक गणित ग्रंथ के लेखक ज्येष्ठदेव (1500-1610 ई०) तथा ‘क्रियाक्रमकरी’ नामक लीलावती व्याख्या के रचयिता शंकर पारशव (1500-1560 ई०) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान काल (1800 ई० के पश्चात्) :

वर्तमान काल के कुछ प्रमुख गणितज्ञों एवं उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय निम्नवत् है—

नृसिंह बापू देव शास्त्री (1831 ई०) :

नृसिंह बापू देव शास्त्री ने भारतीय एवं पाश्चात्य गणित पर पुस्तकों का सृजन किया। इनकी पुस्तकों में रेखागणित, त्रिकोणमिति, सायनवाद तथा अंकगणित मुख्य हैं।

सुधाकर द्विवेदी :

सुधाकर द्विवेदी ने ‘दीर्घवृत्त लक्षण’, ‘गोलीयरेखा गणित’, ‘समीकरण मीमांसा’, ‘चलन कलन’ आदि अनेक पुस्तकों की रचना की। साथ ही ब्रह्मगुप्त एवं भास्कर की पुस्तकों पर टीकाएं लिखकर सामान्य जनता के लिए सुलभ कराया।

रामानुजम् (1889 ई०) :

सूत्र में गणितीय एवं अन्य सिद्धांतों को लिखने एवं सिद्ध करने की वैदिक परम्परा के आधुनिक युग के महान् गणितज्ञ रामानुजम् हैं। उनकी श्रेष्ठता इसी से प्रमाणित है कि उनके द्वारा प्रतिपादित 50 प्रमेयों में से एक दो को सिद्ध करने में ही गणितज्ञों एवं शोधकर्त्ताओं को वर्ष पर्यन्त दत्तचित होकर परिश्रम करना पड़ा। कुछ प्रमेय अभी तक सिद्ध नहीं किये जा सके हैं। उनकी कृति ‘रामानुजम् डायरी’ शीर्षक से जन्मशती वर्ष में प्रकाशित हुई है।

स्वामी भारती कृष्णतीर्थजी महाराज (1884-1960 ई०) :

महान् गणितज्ञ एवं दार्शनिक जगद्गुरु शंकराचार्य भारती कृष्णतीर्थजी आधुनिक युग में वैदिक गणित के प्रधान भाष्यकार हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक “वैदिक गणित” में वैदिक सूत्रों को पुनः प्रतिपादित किया है और उनमें निहित सिद्धांतों और विधियों को इतनी सरल, सुग्राह्य एवं सुस्पष्ट भाषा में प्रस्तुत किया है कि गणित का एक साधारण विद्यार्थी भी उसे आत्मसात् कर गणित के जटिलतम प्रश्नों को अत्यल्प समय में हल कर सकता है। उनकी पुस्तक वैदिक गणित पर एक प्रामाणिक ग्रंथ है। स्वामीजी ने अपनी इस अनुपम कृति के माध्यम से वैदिक गणित में छिपी हुई अद्भुत क्षमता से परिचय कराकर गणित के केवल सामान्य विद्यार्थी को ही नहीं अपितु अधिकारी विद्वानों के अन्तःकरण को भी झंकृत कर दिया है। इन्होंने हमें सर्वथा नवीन दृष्टि देकर वैदिक गणित पर शोध करने तथा उसका उपयोग करने के लिए विवश कर दिया है।

सह शिक्षक— श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता

अज्ञेय : व्यक्तित्व और कर्तृत्व

अज्ञेय-सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय आधुनिक हिन्दी कविता का एक दुर्निवार व्यक्तित्व। अज्ञेय बहुमुखी प्रतिभा के स्वामी रहे हैं। कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, संस्मरण, यात्रा वर्णन, नाटक - साहित्य की प्रायः सभी विधाओं को अपनी प्रतिभा के स्पर्श से भास्वरता प्रदान करने वाले अज्ञेय के बिना आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास अधूरा माना जायेगा। उनके सम्पूर्ण साहित्य का मूल्यांकन समयसाध्य कार्य है। वे मूलतः कवि रहे हैं। उनकी काव्य-यात्रा भी लगभग पचास वर्षों तक अनवरत चलती रही है। अज्ञेय का जीवन उनके काव्य के समान वैविध्यपूर्ण रहा है। यहां उनके जीवन और काव्य-संसार का विहंगावलोकन ही संभव है।

इनका जन्म हुआ 7 मार्च 1911 को कसया पुरातत्व खुदाई शिविर में। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान बुद्ध ने जहां निर्वाण प्राप्त किया वहीं से अज्ञेय के जीवन का आरंभ हुआ। विद्यालयी शिक्षा का सुयोग कम मिलने के कारण आप बाल्यावस्था से स्वाध्यायी, एकान्तप्रेमी, गम्भीर और आत्मनिर्भर होते गये। पटना में राखालदास से बंगला सीखी। 1921-25 तक उटकमण्ड में रहे। 1921 में उडिपी के मध्वाचार्य ने इनका यज्ञोपवीत संस्कार किया। पिता के पुस्तकालय का उपयोग करते हुए अंग्रेजी के कवियों और यूरोप के साहित्यकारों की रचनाओं का अनुशीलन किया। 1925 में पंजाब से मेट्रिक की परीक्षा दी और इंटर मीडियेट साइंस पढ़ने मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में दाखिल हुए। 1927 में लाहौर के फारमैन कॉलेज में बी.एस-सी.

में भर्ती हुए। इसी कॉलेज में नवजवान भारत सभा के सम्पर्क में आए और आजाद, सुखदेव, भगवतीचरण बोहरा से परिचय हुआ। 1929 में बी.एस-सी. करके अंग्रेजी एम.ए. में दाखिल हुए। इसी साल क्रान्तिकारी दल में भी प्रविष्ट हुए। क्रान्तिकारी कार्यक्रमों में भाग लेते हुए 1930 में गिरफ्तार हुए। विभिन्न जेलों की यात्रा करते हुए 1936 में मुक्त हुए। मेरठ के किसान आंदोलन में भी भाग लिया। 1937 में विशाल भारत से जुड़े। 1941 में 'शेखर : एक जीवनी', प्रकाशित हुई। फिर ब्रिटिश सेना में नौकरी की। 1943 में "तारसप्तक" का सम्पादन किया। स्वाधीनता के पश्चात् इलाहाबाद से प्रतीक का प्रकाशन आरम्भ किया। रेडियो की नौकरी, विदेश भ्रमण, विभिन्न विश्वविद्यालयों में अध्यापन, दिनमान का सम्पादन, 1979 में 'कितनी नावों में कितनी बार' शीर्षक कविता संग्रह पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार आदि इनके जीवन की प्रमुख घटनाएं हैं। 1983 में यूगोस्ताविया में इंटरनेशनल पोएट्री एवार्ड से सम्मानित हुए। अप्रैल 1987 में देहावसान।

अज्ञेय की कविता का विषय समग्र जीवन है। प्रकृति प्रेम, सौन्दर्य, शृंगार, संस्कृति आदि प्रायः सभी विषयों पर उन्होंने कविता की है। उनकी रचनाओं में चिन्तन की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। वे काव्यकर्म को एक गंभीर धर्म मानते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य मूल्य-स्रष्टा प्राणी है और कवि अपनी रचना से जीवन को गतिशीलता प्रदान करता है। अज्ञेय वैयक्तिक स्वाधीनता के पोषक हैं। स्वयं स्वाधीन रहकर वे दूसरों को स्वाधीनता का अधिकार देते हैं। इसे न समझने के कारण कुछ लोग उन पर अहंवाद का आरोप भी लगाते हैं। परन्तु वे मानते हैं-

अच्छी कुंठारहित इकाई, सांचे ढले समाज से,

अच्छा अपना ठाट फकीरी, मंगनी के सुखसाज से।

उनकी वैयक्तिकता में सामाजिकता का कोई विरोध नहीं है। व्यक्ति नदी की धारा में द्वीप के समान है। स्थिर रहकर भी वह स्रोतस्विनी के प्रति समर्पित है-

यह दीप अकेला स्नेहभरा,

है गर्वभरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।

अज्ञेय कवि के रूप में जीवन के आस्वादन में विश्वास करते हैं, वे नर की आंखों में नारायण की व्यथा देखते हैं। अज्ञेय क्षण के आग्रही हैं, क्षणिकता के नहीं। उनकी दृष्टि में क्षण भाव जीवन की अखंडता का प्रत्याख्यान नहीं, समर्थन है। पश्चिम की यांत्रिक सभ्यता व समूह-संस्कृति के प्रति उनके मन में तीव्र आक्रोश है। वे जीवन को न तो अनियंत्रित और उद्दाम आमोद-प्रमोद की ओर ले जाना चाहते हैं और न श्मशान को घर बनाने वाला अघोरी बनाना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में व्यक्ति का अभियान विश्वजन की अर्चना में बाधक नहीं साधक है। तुलसी की आस्था उनके इन शब्दों में प्रतिध्वनित होती है-
भावनाएं तभी फलती हैं,

कि उनसे लोग के कल्याण का अंकुर कहीं फूटे।
 पश्चिमी सभ्यता पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं-
 एक मृषा जिसमें सब डूबे हुए हैं,
 क्योंकि एक सत्य जिससे सब ऊबे हुए हैं।
 एक तृषा जो मिट नहीं सकती इसलिए मरने नहीं देती,
 एक गति जो विवश चलाती है इसलिए कुछ करने नहीं देती
 स्वातंत्र्य के नाम पर मारते हैं, मरते हैं।
 क्योंकि स्वातंत्र्य से डरते हैं।

अज्ञेय के काव्य में मौलिकता, नवीनता और ताजगी मिलती है।
 वे अनास्था और पराजय के कवि नहीं हैं। वे गति और संघर्ष के कवि
 हैं। नभ की चोटी उनका गंतव्य है। अज्ञेय की परिणति निःशेष उत्सर्ग
 में, अपने को दे देने में है। आत्मीयता के दान में वे मनुष्य की मुक्ति
 देखते हैं—

मैंने देखा,
 एक बूंद सहसा उछली सागर के झाग से,
 रंगी गई क्षण भर ढलते सूरज की आग से,
 मुझको दीख गया हर आलोक हुआ अपनापन,
 है उन्मोचन नश्वरता के दाग से।

“असाध्य वीणा” अज्ञेय की सर्वश्रेष्ठ कविता है। इसमें उनकी समस्त
 जीवनदृष्टि और शिल्पबोध समाहित है। किरीटीतरु से निर्मित वज्रकीर्ति
 की इस मंत्रपूत वीणा का वादन कौन करे? बड़े-बड़े कलाकारों का
 दर्प चूर-चूर हो गया। तब आए प्रियंवद, केश कम्बली, गुफा गेह।
 उन्होंने अपने को सौंप दिया उस किरीटी तरु को, डूब गये एक अभिमंत्रित

अकेलेपन में और आरम्भ हुआ उनका नीरव एकालाप। केशकम्बली
 को स्मरण था- घनी रात में महुए का चुपचाप टपकना। झिल्ली, दादुर,
 कोकिल-चातक की झंकार, पुकारों में संसृति की सायं-सायं, कमल
 कुमुद पत्रों पर चोर-पैर द्रुत धावित जलपंथी की चाप। वे प्रार्थना करते
 हैं असाध्य वीणा से-

तू उतर बीन के तारों में,
 अपने से गा,
 अपने को गा।

सहसा ब्रह्मा के अखंड मौन को व्यंजित करता हुआ एक स्वयंभू
 संगीत झनझना उठा। राजा ने सुना और उसमें सब कुछ निछावर कर
 देने का भाव उत्पन्न हुआ। रानी ने अनन्य प्यार का संगीत सुना। किसी
 को वह संगीत प्रभुओं का कृपावाक्य था, किसी को आतंकमुक्ति का
 आश्वासन, किसी को भरी तिजोरी में सोने की खनक, किसी को मंदिर
 की तालयुक्त घंटाध्वनि। विश्ववादक की वीणाध्वनि भी महाशून्य में
 इसी प्रकार बज रही है।

भाषा का संस्कार अज्ञेय को बचपन से ही मिला था। शब्द चयन
 में एक सजगता उन्हें सर्वदा प्रेरित करती है। प्रत्येक शब्द अद्वितीय होता
 है। वे उसी अद्वितीय की खोज सदा किया करते हैं। लय के अन्वेषण
 में उन्होंने देश-विदेश की अनेकानेक यात्राएं की हैं। वे चमत्कारवादी
 नहीं है पर भावानुकूल छन्द की खोज अवश्य करते रहे हैं। आधुनिक-जीवन
 पर उनकी टिप्पणी ध्यातव्य है-

जिन्दगी के रेस्तरां में यही आपसदारी है रिश्ता नाता है,
 कि कौन किसको खाता है।

सह शिक्षक - श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता

रावण का लक्ष्मण को उपदेश

रामायण भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। मानव जीवन को ऊंचा उठाने वाले अनेक सरल, सरस, सुन्दर एवं विचित्र उद्धरणों से यह काव्य भरा पड़ा है। रावण प्रकाण्ड विद्वान् था, उसने वेदभाष्य किया था, वह एक महान् वैज्ञानिक भी था। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में जो नीति-शास्त्र के उपदेश उसने लक्ष्मण को दिये, वे गूढ़ तत्वों से भरे पड़े हैं। अपने अनुभवों के आधार पर इनकी व्याख्या कर उसने इनको बड़ा ही रोचक एवं बोधगम्य बना दिया है।

श्रीराम के अमोघ ब्रह्मास्त्र से रावण का वंश विदीर्ण हो गया, उसका दुर्जय हृदय फट गया, नाभिस्थित सुधा कुण्ड भस्म हो गया और वह भूमि पर उन्मत्त गिर पड़ा। राम ने तुरन्त लक्ष्मण को बुलाया और कहा, “रावण का अभी देहान्त नहीं हुआ है। वे श्री रामेश्वर की स्थापना में मेरे आचार्य रहे हैं। उन्होंने मुझे विजयी होने का आशीर्वाद दिया और अपनी आहुति देकर वह आशीर्वाद सत्य किया। अभी उनको दक्षिणा देनी है। लेकिन लक्ष्मण, नीति शास्त्र का यह सूर्य मेरे उपस्थित होते ही अस्त हो जायेगा, तुम जाकर उनसे उपदेश ग्रहण करो।

लक्ष्मण रावण के समीप गये, सिर के समीप खड़े होकर उच्चस्वर में नमस्कार किया और उपदेश देने की प्रार्थना की। उनके पुकारने पर भी रावण के नेत्र नहीं खुले और निराश होकर लक्ष्मण को श्रीराम के पास लौट आना पड़ा। श्री राम वस्तुस्थिति को, सारा वृत्तान्त सुनकर, समझ गये और लक्ष्मण से कहा, “तुमने आचार्य के समीप उनको अभिवादन नहीं किया, जो जिज्ञासु सम्यक् सम्मान न दे, उपदेश के अनुकूल स्थिति

का ध्यान न रखे, ऐसे प्रमत्त जिज्ञासु का परित्याग कर देना शास्त्र की मर्यादा है, इसका तुमने स्मरण नहीं रखा।

लक्ष्मण फिर रावण के समीप गये, इस बार वे रावण के पैरों के समीप खड़े होकर, मस्तक झुकाकर उच्चस्वर में बोले, “मैं श्रीराम अनुज लक्ष्मण आचार्य पौलस्त्य के चरणों में प्रणिपात करता हूँ।” दशग्रीव के नेत्र खुल गये। यह देखकर दोनों हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में लक्ष्मण बोले- अग्रज ने मुझे आपके समीप नीति शास्त्र का उपदेश ग्रहण करने के लिए भेजा है और वे भी शीघ्र उपस्थित हो रहे हैं।

रावण ने कहा, ‘लक्ष्मण। मैं बोलने में पीड़ा का अनुभव कर रहा हूँ। मेरी इन्द्रियां शिथिल होती जा रही हैं। प्राण अब प्रस्थान के लिए उत्सुक हैं लेकिन तुम नीति-शिक्षा ग्रहण करने आये हो। कोई विद्वान् अपने समीप उपस्थित जिज्ञासु को निराश करता है तो विद्या उसे शाप देती है। वह पिशाच बनता है। यद्यपि अत्यंत अल्प समय है और फिर दूसरा समय भी तो नहीं है। मैं तुम्हें निराश नहीं करूंगा। मैं अपने अनुभव का सार सुना दूँ, इतना ही समय है और तुम्हारे लिये इतना ही पर्याप्त है।’

रावण ने अपना अनुभव सुनाना प्रारम्भ किया। “जो व्यक्ति अपने स्वजनों और सेवकों की सुख-सुविधा का पूर्ण रूप से ध्यान रखता है। उनकी स्वतंत्रता-उच्छृंखलता को भी सहन करता है, उनके स्वजन और सेवक अपने प्राण देकर भी उनके अत्यंत अप्रिय आदेशों को स्वीकार कर लेते हैं। राक्षसों ने मेरा साथ नहीं छोड़ा, मेरे लिए युद्ध में प्राणों का उत्सर्ग किया। मेरी अति उग्र प्रकृति को सहकर भी मेरा सम्मान करते रहे, यह केवल आतंक से संभव नहीं था, मैंने उन्हें पूरी स्वतंत्रता दे रखी थी और उनकी रुचि, सुख, सुविधा का सर्वदा ध्यान रखता रहा था।

यदि कोई सेवाशील, विनम्र एवं धर्मपरायण व्यक्ति अपना विरोध करे, अपने मन के विरुद्ध बोले तो उसका अपमान या उपेक्षा करने की जगह पर, उसकी बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। मैं जानता था कि मेरा अनुज विभीषण धर्मात्मा है, वह चाटुकारी नहीं कर सकता, वह अपने आश्रयदाता की बात अप्रिय होने पर भी अवश्य कहेगा, अपने अहित का भय होने पर भी कहेगा, लेकिन मैंने उसका तिरस्कार जानबूझ कर किया, क्योंकि अगर वह तुम्हारे पक्ष में नहीं गया होता तो आज लंका अनाथ हो जाती। राम इस पर शासन करने को नहीं रुकेंगे। इन सब चीजों को मैं अच्छी तरह से जानता था और इसीलिए मुझे अपने अतिप्रिय निर्दोष भाई को निर्वासित करना पड़ा।

लक्ष्मण! शत्रु को सामान्य मानकर उसकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए तथा इस शत्रु के भय से चिन्तित होकर, अपने अनुयायियों में भय के प्रवेश को अवसर नहीं देना चाहिए। मुझे कोई यह दोष नहीं दे सकता कि मैंने अपने शत्रु की उपेक्षा की। राम के प्रगट होने के क्षण से ही मैं सतर्क था। जब तुम लोग ससैन्य सुबेल पर आये, मैं अपने सैनिकों, सेनापतियों के साथ उत्सव मना रहा था और मल्लयुद्ध

देख रहा था।

लक्ष्मण! सफलता ही सदा श्रेयस्कर नहीं होती, कभी-कभी असफलता, पराजय तथा मृत्यु का भी आयोजन करना पड़ता है। इस युद्ध में मैंने अपने समस्त वीरों की आहुति दे दी है। लेकिन मैं जब तक जीवित रहा, तुम लंका में प्रवेश नहीं कर सके। मेरे सभी अनुयायी वीर कहां गये, इसको मुझे बतलाने की आवश्यकता नहीं। अब तुम स्वयं, सोचकर बतलाओ कि विजय किसकी हुई है।” लक्ष्मण ने कहा, “आचार्य आप धन्य हैं, विजय आपकी हुई है।”

जब रावण का स्वर शिथिल होने लगा, उसने नेत्र संकेत से लक्ष्मण को अपने समीप बुला लिया, कहा— “अब मैं अधिक बोल नहीं सकूंगा। मेरी मुख्य बातों को ध्यान लगाकर सुनो। जीवन में अगर कोई महत्वपूर्ण कार्य करने की महत्वाकांक्षा हो तो उसे सब सामान्य काम छोड़कर पूर्ण कर डालना चाहिए। उसे कल पर टालने से वह कभी भी पूरी नहीं होगी। मैं सम्पूर्ण क्षार समुद्र को मधुर पेयजल में परिवर्तित कर देना चाहता था। सम्पूर्ण सागर को अनेक भूमि में विभाजित करके बांध देता, एक भाग के जल को उष्ण करके, वाष्प बना देता, बचे हुए लवण को पृथ्वी पर पर्वताकार एकत्र कर देता और वाष्प को वारिद बनाकर वर्षा के निर्मल जल से सागर के सभी भागों को पुनः भर देता, मेरे लिए असम्भव काम नहीं था।”

“मैं स्वर्ग के लिए सोपान निर्मित कर देना चाहता था ताकि पापी

और पुण्यात्मा का भेद मिट जाय और शरीर बल से समर्थ ही इतनी दीर्घ यात्रा कर वहां जा सके।” यह सुनकर लक्ष्मण चौंक पड़े कि कहीं यह महत्वाकांक्षा पूरी गई होती तो श्रुति शास्त्र और सत्कर्म सदा के लिए समाप्त हो जाते।

“मैं चाहता था कि संसार में कभी कोई रोगी या वृद्ध न हो। इसके लिए वृक्षों में अमृत फल लगने का विधान करना चाहता था। मेरे जैसा प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को जानने वाला व्यक्ति अगर इस काम में लग गया होता तो वार्धक्य एवं मृत्यु को समाप्त कर देने वाला आविष्कार अवश्य कर लिया होता।” लक्ष्मण ने हंसकर कहा— “आचार्य! आपकी महत्वाकांक्षाओं का अपूर्ण रह जाना ही विश्व के लिए वरदान हो गया।”

इसी समय श्रीराम आये और अंजलिबांधकर मस्तक झुकाते हुए रावण के दाहिने इस प्रकार खड़े हो गये जिससे वह उन्हें भलीभांति देख सके। प्रभु राम ने कहा “मैं इक्ष्वाकुगोत्रीय राम पौलस्त्य दशग्रीव को प्रणाम करता हूं। अपने आचार्य को अभीष्ट दक्षिणा देने में उनके चरणों में उपस्थित हूं।”

दशग्रीव के अघलक नेत्र श्रीराम के मुख पर लग गये और मुख से अंतिम शब्द निकला, “राम”। इसके बाद एक ज्योति उनके शरीर से निकली। उसने प्रभु राम की प्रदक्षिणा की और उनके चरणों में लीन हो गयी।

सह शिक्षक, श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता

शांति निकेतन : एक परिदर्शन

होश संभालने के बाद से गुरुदेव की पुण्यभूमि शांति निकेतन का नाम मेरे रक्त में संगीत पैदा करता था। मैं तब इंतजार किया करता था कि कब मैं इतना बड़ा हो जाऊँ कि बिना किसी खौफ के वहाँ पहुँच कर अपनी इच्छा पूरी कर लूँ। मेरे बाल मन ने न जाने कब से सुन रखा था कि वहाँ चित्रांकन और संगीत की शिक्षा विधिवत् दी जाती है। तब मुझे सबसे प्रिय कार्य चित्र बनाना लगता था। हालाँकि मेरे घर में ऐसी रुचियों के लिए न तो कोई स्थान था और नहीं कोई सम्मान। हाँ, माँ ही मेरे लिए एक प्रेरणा की स्रोत थी जिसे मेरे लिए माँ और पिता दोनों का दायित्व निभाना पड़ता। मेरी चित्रकला में रुचि को देखकर मेरे गांव के एक संपन्न व्यक्ति ने मुझसे बार-बार कहा था कि “तुम थोड़े बड़े हो जाओ तो मैं तुम्हें शांतिनिकेतन चित्रकला की शिक्षा के लिए भेजूंगा।” खैर, ऐसा संभव नहीं हो पाया। वादा करने वाले सज्जन तो भूल गये लेकिन मैं शांतिनिकेतन को किसी भी तरह नहीं भूल पाया और गुरुदेव की यह साधना-भूमि मुझे अपनी ओर बराबर ही खींचती रही।

कालांतर में मैं बिना किसी मार्गदर्शन के ही चित्र बनाने लगा था, लेकिन अपने चित्रों को सबकी नजरों से बचाकर ही रखना पड़ता क्योंकि बड़े चाचा जिन्हें संगीत एवं चित्र बकवास से ज्यादा कुछ नहीं लगते थे, उनके हाथों बुरी तरह पिट जाने का खतरा बना रहता। मेरी इस रुचि को सम्मान और प्यार मेरे ग्रामीण दोस्तों और विद्यालय के प्रिय

शिक्षकों का मिलता रहता था। लेकिन घर में तो मेरे लिए खतरे बने ही रहते थे। किसी तरह मैं घर के प्रतिकूल वातावरण में चित्रकला सीखने की इच्छा को साकार तो नहीं कर पाया, अलबत्ता संगीत सीखने की रुचि मुझमें बढ़ती गई। एक ओर गांव के छोटे-मोटे गायन कार्यक्रमों में मुझे लोग उत्साहित करते रहते तो दूसरी ओर घर पर बड़े चाचाजी अपने चमरौधें जूतों के साथ मेरी पिटाई के लिए तत्पर रहते। जब मैं घर वापस आता तो वे तब तक पीटते जब तक मैं जमीन पर गंभीर चोटें खा गिर नहीं पड़ता। ऐसे में माँ मुझे अवश्य ही हिम्मत देती कि ‘बेटा एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जब तुम संगीत सीख पाओगे और तुम्हें गुरुदेव के आश्रम में सीखने जरूर भेजूंगी।’ वैसे लोग जिन्हें संगीत या चित्रांकन की महत्ता समझ में नहीं आती, ‘वे समझ पाएंगे कि ऐसे गुण घटिया नहीं होते।’

असुविधाओं और गरीबी का यह आलम था कि ऐसे गुणों के विकास के लिए तत्काल मुझे विश्व कवि के आश्रम में कुछ भी सीख पाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाया। अलबत्ता मेरे अंदर इसकी प्यास और लालसा बनी ही रही कि कभी न कभी गुरुदेव की साधना स्थली और विशिष्ट कर्मभूमि शांतिनिकेतन की लाल मिट्टी को माथे से लगा पाऊंगा।

वक्त के बहुत बड़े अंतराल के बाद मुझे शांतिनिकेतन की यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। हालाँकि न तो मैं अब ऐसा शिशु ही रहा था और नहीं ऐसा कुछ सीख पाने की मेरी परिस्थिति या समय था। व्यक्ति को आजीविका कई बार आत्म-भ्रष्ट करती है और ऐसी-ऐसी नौकरी से भी जुड़ना पड़ता है जो उसके सम्मान के लायक न भी हो।

इस यात्रा की कल्पना से ही मैं रोमांचित था। मैं बिहार से आने वाली गाड़ी से बोलपुर स्टेशन पर उतर रहा था। मैं अपनी मनःस्थिति और अतिशय उत्साह को तटस्थ द्रष्टा की तरह देख पा रहा था। मेरा हृदय और कंठ बार-बार अवरुद्ध हो जाता। बचपन की इच्छा का अधूरा रह जाना और उम्र के काफी बड़े हिस्से का मुट्ठी में बंधे रेत की तरह निकल जाना पीड़ित कर रहा था। फिर भी मैं प्रसन्न था कि देर आयत दुरस्त आयत। मेरी आंखें बोलपुर स्टेशन के प्लेटफार्म नं० एक पर स्थित उस कलाकृति पर गई जो एक टूँठ पेड़ से बनायी गयी है। मैं उसकी विशिष्टता को देखकर अवाक् रह गया था। प्लेटफार्म नं० एक पर ही गुरुदेव से संबंधित एक आदर्श संग्रहालय है जिसे संभवतः रेलवे ने यात्रियों की सुविधा के लिए बनवाया है। दूसरे प्लेटफार्म की ओर अगर दृष्टि दी जाय तो दीवारों पर विशिष्ट कलाकृतियाँ दीख जायेंगी। स्टेशन से बाहर आते ही गुरुदेव की अंतिम यात्रा जिस प्रथम श्रेणी के रेल कूपे में हुई थी उसे भी आम जनता के दर्शनार्थ प्रस्तुत किया गया है। यह सब देखकर मैं कवि गुरु के प्रति श्रद्धावनत तो था ही पूरी तरह मन-प्राण से अभिभूत हो गया।

बोलपुर शांतिनिकेतन का प्रवेश द्वार जैसा है। छोटा-सा कस्बा नुमा शहर। छोटी-मोटी सवारियाँ रिक्शे, टेम्पू आदि। गांव की सौधी मिट्टी की गंध और लोगों में ग्रामीण सरलता का भाव दीखा जो अन्यत्र अब

दुर्लभ ही प्रतीत होता है। मैं पैदल चलते हुए रेल में सुने गये 'बाउल गान' की एक कड़ी गुनगुनाता जा रहा था- 'एखोनो एलो न कालिया' हृदय में करुणा के भाव जगा रहे थे। एक हूक सी उठती थी। उन स्वरों के आरोह-अवरोह मुझे पूरी तरह अपने में समेटे हुए थे। दूसरी ओर मुझे अपने दिहड़ी प्रवास के उन आषाधापी, भागदौड़ और हृदयहीनता से भरे वर्षों की भी याद दिला रहे थे, जिसमें मैं अक्सर 'एखोनो एलो न कालिया' गुनगुनाते हुए काट लिया करता था।

मैं अब शांतिनिकेतन परिसर के निकट था। सामने 'मेला माठ' में 'पौषमेला' लगा हुआ था। लोगों में उत्सव का आनंद पूरी तरह दीखता था। 'बाउल गान' के आलाप के साथ-साथ बाउल पूरी मस्ती में एकतारा लिए नृत्यरत थे। पौषमेला शांतिनिकेतन के मुख्य उत्सवों में से है। इसकी परिकल्पना गुरुदेव के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने की थी और उसे विस्तार दिया विश्व कवि ने। इस मेले के आयोजन का उद्देश्य ग्रामीण शिल्प संस्कृति, संगीत, नृत्य आदि को बढ़ावा देने का रहा है। हमारी ग्रामीण संस्कृति धीरे-धीरे लुप्त न हो जाए, इसका अंदाजा बहुत पहले ही इन मनीषियों ने लगाया था। हालांकि मेले का रूप पहले से बदल-सा गया है, लेकिन पूरी तरह से चेष्टा यह की जाती है कि उसका असली स्वरूप कायम रहे। सुबह से रात के गहराने तक कई दिनों तक संगीत-नृत्य के अलग-अलग कार्यक्रम चलते रहते हैं, जिसमें मैंने देखा कि देश, विदेश से काफी लोग संगीत-नृत्य सुनने-देखने यहां आते हैं। यहां बाउल गान के साथ-साथ पट्टीगीत, कविगान आदि देख सुनकर मैं चकित था। मैंने पहले कहीं भी इतने स्वस्थ उद्देश्यों को लेकर लगाया जाने वाला मेला नहीं देखा था। आश्चर्य इस बात पर होता था कि कहीं इस तरह का भी उत्सव होता है? जहां जीवंतता, उत्साह और सर्वोत्तम अनुभूतियों के संप्रेषण के लिए खुला परिवेश हो। जबकि दूसरी ओर पूरे विश्व में इतनी बड़ी अफरातफरी और अशांति हो। आतंकवाद और हत्याओं के दौर चल रहे हों। अखबारों में छपने वाली हत्याओं, दुर्घटनाओं की खबरें भी लोगों के रक्त को सर्द ही बनाएं रखती हैं।

जी हां, शांतिनिकेतन की यात्रा ने हमारे अंदर प्राण का संचार किया और मैं आज की विषमता और विषाक्त परिवेश को भूल सा गया। कई बार उदासी और पेशानी के आलम में यह याद नहीं आता कि पिछली बार हम कब मुस्कुआए, रोए या खुलकर हंस पाये थे तब सिर्फ शांतिनिकेतन के खुले वातावरण की ही याद आती है।

मैं इस यात्रा में 'रवीन्द्र भवन' गया था। जहां गुरुदेव के देहावसान के बाद उनके पुत्र रथीन्द्रनाथ ठाकुर ने बड़ी तत्परता और परिश्रम से उनकी पांडुलिपियां, चिट्ठियां और चित्रावली आदि का संकलन किया है। सन् 1942 में संग्रहालय सामान्य जन के लिए खोला गया था, जिसमें गुरुदेव से संबंधित सभी वस्तुएं हैं। यहां से थोड़ी ही दूरी पर एक विशाल 'नाट्य-घर' भी देखा जा सकता है जो अपने आप में एक आश्चर्य ही है। गुरुदेव में अपनी संस्कृति और नाटकों की प्रस्तुति के लिए कैसा जुड़ाव था, यह जानना सच में बड़ी सुखद अनुभूति है।

यहां से करीब ही रामकिंकर बैज की बनाई हुई प्रसिद्ध मूर्तियां हैं जो कलाजगत में अपना अन्यतम स्थान रखती हैं। कलाभवन, संगीत-भवन

आदि पर्यटकों का मन मोह लेते हैं। नंदलाल बोस, सुधीर खास्तगीर, के.जी. सुब्रह्मण्यम आदि की कलाकृतियां हमें प्रभावित कर रही थीं। उत्तरायण में मैंने रमणीक बगीचों के अलावा पांच भवन देखे जो अपने आप में शिल्प और भावना की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ये भवन हैं— उदयन, कोणार्क, श्यामली, पुनश्च तथा उदीची। बाग में पिछली तरफ जो भवन है उसका नाम है चित्रभानु। पहली मंजिल के 'गुहाघर' में कविवर के पुत्र रथीन्द्रनाथ तथा पतोहू प्रतिमादेवी का स्टुडियो और कला सर्जना के लिए कक्ष है। इस बाग में बहुत मूल्यवान पेड़ हैं, यथा- चंदन, दालचीनी, तेजपात आदि। इसके अतिरिक्त ऐसे कई पेड़-पौधे हैं जिन्हें कोई वनस्पति शास्त्री ही विशिष्टता के साथ बता सकता है। उत्तरायण में ही एक ऐसा भवन भी है, जिसकी सादगी देखते ही बनती है। इसका निर्माण गुरुदेव ने बापू (गांधीजी) के शांतिनिकेतन में आगमन की खुशी में उन्हें ठहराने के लिए करवाया था।

अगर आप कभी 'शाल-वीथी' जाएं जहां गुरुदेव शाम को घूमते थे तो अतीव आनंद की अनुभूति पा सकते हैं, लेकिन शर्त यह है कि शाम ढले हौले-हौले, धीमी गति से बिना किसी पदचाप के अगर आप चलते जाएं तो शायद गुरुदेव की उपस्थिति की अनुभूति अवश्य ही हो सकती है। वहां निश्चय ही ऐसी तरंगें हैं जिसे शुद्ध हृदय और महसूस करने की विशिष्ट शक्ति से समझा जा सकता है। यहां से आप्रकुंज को पार करते हुए उस मंदिर को हम देख सकते हैं, जिसमें कोई देवी, देवता नजर नहीं आते, लेकिन धनी शांति वहां अवश्य ही महसूस की जा सकती है।

गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में शांतिनिकेतन को देखा जा सकता है। उन्होंने अशोक, देवदार और शिरीष के अंतर को जिस जीवंतता से पाठकों को परिचित कराया था, वाकई आश्चर्य की बात है। कुछ देर में मैंने अपने आपको 'हिन्दी भवन' के परिसर में खड़ा पाया। हिन्दी भवन की दीवारों पर बनी विशिष्ट पेंटिंग हमारा मन मोहती रही। मेरा हृदय इस अनुभूति से गद्गद था कि हिन्दी जैसी भाषा को उत्कृष्ट संस्कार तथा संपन्नता देने वाले ऋषितुल्य आचार्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसी हिन्दी भवन के प्रथम अध्यक्ष थे।

शांति निकेतन से मैं सीधा 'श्री निकेतन' गया जहां गुरुदेव ने कुटीर उद्योगों की स्थापना की थी। अभी भी वहां कपड़े, बर्तन, खिलौने आदि विशिष्टतम तरीके से बनाना सिखाया जाता है। वे सभी तमाम जगहें आज भी मेरे जेहन में बसी हुई हैं कि एक व्यक्ति ने इतनी बड़ी कल्पना की और उसे साकार कर दिखाया। यह अलग प्रश्न है कि उनके द्वारा स्थापित आश्रम कालांतर में केन्द्रीय विश्वविद्यालय बन जाने पर भी उन्हीं आदर्शों का पालन कर रहा है? क्या वहां नौकरशाही और घटिया स्वार्थी तत्वों ने अपने जाल नहीं फैलाए हैं? यह सच है कि यहां अब भी ऐसी तरंगें मौजूद हैं जो कल्याणकारी हैं, लेकिन वे कब तक रहेंगी?

मैं वहां से भीगी आंखें और भरा हृदय लेकर रेलगाड़ी में बैठ गया था और हरे-भरे खेतों की ओर देखते हुए गुनगुना रहा था।

“एखोनो एलो न कालिया”

सह शिक्षक, श्री जैन विद्यालय, हवड़ा

ईश्वर को पाना, उसकी महिमा को जानना, उसके आदि-अन्त को जानना वास्तव में बड़ा कठिन है। यदि 'एकै साधे सब साधे, सब साधे सब जाय' वाली उक्ति को चरितार्थ करके मात्र जनसेवा ही लक्ष्य हो जाय तो भगवत्प्राप्ति सुनिश्चित है। प्रश्न है क्या भगवान की प्राप्ति सम्भव है? यदि है तो जो भी साधन शास्त्रों में वर्णित हैं कर्म, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि उन सभी में उन्हें कहां खोजा जाय? ईश्वर निराकार है या साकार? अनेकानेक प्रश्न सामने आते हैं और उनके अनेकानेक समाधान और मत वेद, पुराण और धर्म ग्रन्थों में वर्णित हैं। गीता के अठारहवें अध्याय के छियालिसवें श्लोक में तो यहां तक कहा गया है, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में निवास करता है—

ईश्वरः सर्व भूतानाम् हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्र रूढानि मायया।

इसलिए गीता ने "समत्वं योग उच्यते" की घोषणा की है। गीता का साम्यदर्शन गणित का समीकरण नहीं है, न रेखागणित का साध्य ही है जहां एक त्रिभुज को दूसरे के बराबर सिद्ध करने हेतु दोनों त्रिभुजों को इस प्रकार रखा जाता है कि उनकी भुजायें एक दूसरे पर फिट आ जाय। हां, गणित के अनुसार उसके पास एक ईश्वर है और एक ही आत्मा है। ईश्वर ही आत्मा बनकर समान भाव से सभी प्राणियों में निवसता है। आत्मा उस दिव्य प्रकाश का खंड है जिसको मानस में महात्मा तुलसी ने भी 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' कहकर प्रतिपादित किया है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि नाम भिन्न-भिन्न होने पर भी वह परमब्रह्म सत्य सनातन, शाश्वत, चिरन्तन सब कुछ होते हुए सभी जीवों में प्रदीप्त है, प्रकाशित है अतः उसे खोजने की आवश्यकता नहीं है। वह तो अगोचर होते हुए भी गोचर है और सहज प्राप्य है अगर हम अपनी दृष्टि को थोड़ा सा परिवर्तित कर लें और—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः,

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत्।

इस विश्व में सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सब कल्याण-मंगल का दर्शन करें, कोई भी लेशमात्र दुःख का भागी न हो।

सर्वेस्तरु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।

सर्वः सदबुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

कठिनाइयों से, विपत्तियों से सब त्राण पायें। सब मंगल का दर्शन करें, सब सदबुद्धि को प्राप्त हों और सब सर्वदा सर्वत्र आनन्द लाभ करें, ऐसी हमारी भावना है। यदि हमारी भावना ऐसी होगी तो हमारा आचरण भी होगा इसी के अनुरूप। हम अपने उन बन्धुओं पर मानव मात्र या जीव मात्र पर प्रेम और कृपा की वर्षा करेंगे। दया, करुणा, दान, सेवा, मैत्री आदि भाव ही क्रमशः भगवत्प्राप्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। वैसे सभी गुण क्रमशः एक दूसरे के परस्पर सहयोगी हैं और किसी एक के आने से ही सारे के सारे गुण क्रमशः आने लगते हैं। देवर्षि नारद ने युद्धिष्ठिर के द्वारा पूछे जाने पर मनुष्य मात्र के तीस धर्मों

भगवत्प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन : जनसेवा

भगवत्प्राप्ति के अनेक साधन हैं— कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति आदि। परन्तु सर्वोत्तम साधन है जनसेवा, दीन दुखियों की सेवा। जन सेवा के अनेक रूप हैं, अनेक प्रकार हैं और हैं अनेक क्षेत्र। दीन-दुखियों की सेवा सुश्रुषा ही सबसे बड़ी उपासना है। वियोगी हरि ने लिखा है—

दीनन देख घिनात जे, नहिं दीनन सो काम।

कहां जानि वे लेत हैं दीनबन्धु को नाम॥

श्री मद्भागवत में स्थान-स्थान पर इसका उल्लेख मिलता है। श्री नाभादासजी ने 'भक्तमाल' में अनेक ऐसे भक्तों के चरित्रों को दर्शाया है जो दिन-रात जन-सेवा में ही लगे रहते थे और इसी को भगवत्प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन समझते थे और जो इसी के द्वारा कृत-कृत्य भी हुए। इसके साक्ष्य की कोई आवश्यकता नहीं। जब आप किसी दुखी मनुष्य की कुछ मदद करते हैं तब आप सोचते हैं कि मेरे इस कार्य से भगवान खुश होंगे, आपकी आत्मा प्रफुल्लित और रोमांचित हो उठती है। जनता में जनार्दन का निवास है। चलती-फिरती नारायण की मूर्तियों की अर्चना, सेवा का महत्व भक्ति से बहुत बढ़कर है। वियोगी हरि ने कहा है—

मैं खोजता तुझे था जब कुंज और वन में,

तू दूँदता मुझे था तब दीन के वतन में।...

तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था

मैं था तुझे रिझाता संगीत में, भजन में।

का विवेचन किया था मगर उन सभी धर्मों का सार उपरोक्त गुणों में ही सन्निहित है।

उन्होंने तीस लक्षणों में सत्य, दया, तपस्या शौच, तितिक्षा, आत्म-निरीक्षण, बाह्य इन्द्रियों का संयम, आन्तर इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदृष्टि, सेवा, दुराचार से निवृत्ति, लोगों के विपरीत चेष्टाओं के फल का अवलोकन, मौन, आत्मविचार, प्राणियों को यथा योग्य अन्नादि दान, समस्त प्राणियों में विशेषकर मनुष्य में आत्मबुद्धि, इष्ट देवबुद्धि, भगवन्नाम स्मरण, कीर्तन, सेवायज्ञ, नमस्कार, साख्य, दास्य और आत्मनिवेदन आदि को प्रतिपादित किया है। परन्तु इन सभी का मूल है प्रजापति का शिक्षा मन्त्र— “द” “द” “द”— दान, दया और दमन। उन्होंने कहा है—

देव दनुज मानव सभी लहै परम कल्याण।

पाले जो “द” अर्थ को दमन, दया अरु दान॥

दया, करुणा, सेवा, दान आदि समानार्थी शब्द न होते हुए भी मूल में एक हैं। मानव सेवा से बढ़कर कोई दूसरी सेवा नहीं। इसके विभिन्न रूप हैं, शारीरिक, आर्थिक आदि। इसके लिए लोग बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय की भावना से देवालय, विद्यालय, औषधालय, भोजनालय, अनाथालय, गौशाला, धर्मशाला आदि सर्वजनोपयोगी स्थानों का निर्माण बिना किसी यश कामना से भगवत्प्रीत्यर्थ करते हैं।

वस्तुतः ये सेवायें मानव कल्याणकारी हैं अतः ये हमें ईश्वर के काफी करीब ला देती हैं। श्रीमद्भगवत में अपने द्वारा कमाये गये धन के दशमांश को लोक-कल्याण में लगाने का स्पष्ट विवेचन है, किन्तु यह साधारण आय वालों के लिए है। वैभवशाली, उदारचेता और उच्चकोटि के लोगों के लिए पांच भागों में ही धन बांटने का विधान है—

धर्माय यशसे अर्थाय कामाय स्वजनाय च।

पञ्चधा विभजन वित्तमिहामुत्र च मोदते॥

धर्म, यश, अर्थ (व्यापार आदि आजीविका) काम (जीवनोपयोगी भोग) स्वजन (परिवार) के लिए— इस प्रकार पांच प्रकार के धन का विभाजन करने वाला इस लोक और परलोक में भी आनन्दप्राप्त करता है, ऐसा वर्णन है। बिना दान दिये परलोक में भोजन नहीं मिलता ऐसी किंवदन्ति है। कहा जाता है कि विदर्भ देश में वेत नामक एक राजा राज्य करते थे। वे सतर्क होकर राज्य का संचालन करते थे। उनके राज्य में प्रजा सुखी थी। कुछ दिनों बाद उनके मन में वैराग्य आया। वे अपने भाई को राज्य सौंपकर बन में तपस्या करने चले गये। उन्होंने जिस लगन से राज्य का संचालन किया उसी लगन से हजारों वर्ष तक तपस्या की। उत्तम तपस्या के बल पर उन्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति हुई। वहां उन्हें सब तरह की सुविधा मिली, किन्तु भोजन का कुछ प्रबंध न था। भूख से पीड़ित उनकी इन्द्रियां शिथिल पड़ गईं, विकल हो गईं। उन्होंने ब्रह्माजी से पूछा, पितामह यह लोक भूख-प्यास रहित माना जाता है फिर किस कर्म के विपाक से मैं भूख से सतत पीड़ित हो रहा हूं। ब्रह्मा जी ने कहा, ‘वत्स तुमने मृत्युलोक में कुछ दान नहीं किया, किसी को कुछ खिलाया-पिलाया नहीं। वहां बिना कुछ दिये

परलोक में भी खाना नहीं मिलता’।

भाव यह है कि मनुष्य को अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार मानव सेवा हेतु तन, मन, धन अर्पण करना चाहिए। सभी दानों में विद्या दान का विशेष महत्व है। यह ऐसा दान है जो बच्चों को शिक्षित कर स्वावलम्बी बना देता है। पूर्ण शिक्षा वही है जो मानव को मानव बनने की शिक्षा दे। स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय के निर्माण में सहयोग देकर साथ-साथ उनके दैनिक कार्य प्रणाली में योगदान देकर हम मानव सेवा कर सकते हैं। विद्यालयों में संस्कार ‘नैतिक शिक्षा’ चारित्रिक शिक्षा और मूल में दया, सेवा और परोपकार की भावना का बीजारोपण ही सच्ची शिक्षा होगी जो फलवती होगी भविष्य में। औषधालय (अस्पताल) के निर्माण में सहयोगी होकर भी, हम जन-सेवा के कार्य में भागीदार बन सकते हैं, यह चाहे शारीरिक हो या आर्थिक। मूल में इसका उद्देश्य यहां भी पीड़ित, मानवता, दुखी, रोगी और असाध्यों की सेवा ही है। Services to mankind is services to God को बाइबिल भी स्वीकार करता है। उसमें एक कथा वर्णित है, एक घायल रोगी असहाय सड़क पर पड़ा था। वह चिल्ला रहा था, दया की याचना कर रहा था कि कोई भी उसे अस्पताल पहुंचा दे। उधर से अनेकानेक सभ्रान्त लोग निकले मगर किसी ने उसकी न सुनी। किसी को चर्च जाने की जल्दी थी तो किसी को मन्दिर या मस्जिद, मगर उन्हीं में एक ऐसा भी व्यक्ति था जो था तो साधारण मगर उसने उसे उठाया, प्राथमिक उपचार जो कर पाया किया और उसे निकटस्थ अस्पताल पहुंचाया। उसे न चर्च, नहीं मन्दिर की चिन्ता हुई वरन् उसने मानव पीड़ा, उसकी अन्तरात्मा की आवाज को भगवान की पुकार माना और उसकी मदद की। वास्तव में यही सच्ची ईश्वर सेवा है। कबीर ने भी मानव सेवा को सर्वोपरि बताया है और ईश्वर को दीन, दलित, दुखी और असहायों में ही देखा है। उन्होंने कहा है ‘कविरा सोई पीर है जो जानै पर पीर।’ उन्होंने भगवान को मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघरों में कैद नहीं माना। परोपकार को उन्होंने सबसे ऊपर माना। तुलसी ने भी कहा है—

पर हित बस जिनके मन माहीं। तिनकहं जग दुर्लभ कुछ नाहीं॥

महर्षि व्यास ने भी— अठारहों पुराण का निचोड़ परोपकार, परसेवा को ही बताया है।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य बचनद्वयं, परोपकाराय पुण्याय पापाय परिपीडनम्।

वास्तव में जनोपयोगी संस्थायें लोक मातायें ही हैं। ये दीन, दुखी, अभावग्रस्त और जन साधारण को मां की सेवा प्रदान करती हैं, मां की तरह ही भरण-पोषण करती हैं। हम यदि इन संस्थाओं की हित रक्षा में अपना तन मन धन अर्पित करें तो यही होगी हमारी सच्ची जन सेवा और भगवत्प्राप्ति।

सच्चे सुख की अनुभूति तो उसे ही होती है जो उसे प्राप्त करता है उसका वर्णन नहीं हो सकता। रहीम की उक्ति है—

यों रहीम सुख होत है उपकारी के अंग।

बांटनवारे को लगे ज्यो मेहदी के रंग॥

सच्ची धटना है ग्रामीण पाठशाला की। विद्यालय के प्राथमिक कक्षा

के कुछ छात्राओं की एक प्रतियोगिता रखी गई और यह घोषणा की गई कि जिसका बस्ता जो कपड़े का बना होता है, सबसे अच्छा होगा उसे पुरस्कृत किया जाएगा। सभी को प्रतियोगिता में भाग भी लेना है। तिथि तय हुई और सभी बच्चे अपने अच्छे बस्ते (थैले) के साथ विद्यालय आए। केवल एक ही ऐसी बच्ची थी जो बिना थैले के विद्यालय आ गई थी। शिक्षकों ने उसे खूब डांटा और फटकारा, अन्त में एक शिक्षक ने उसे दुलार कर पूछा, 'बेटी तुमने ऐसा क्यों किया? तुमने इसकी चर्चा क्या अपने अभिभावकों से नहीं की?' बच्ची ने कहा, 'महाशय मैं भी बस्ते के साथ ही विद्यालय आ रही थी, मगर मार्ग में एक कुष्ठ रोगी अपने घावों के कारण बार-बार चिल्ला रहा था, कोई इसे ढक दे और इन मक्खियों से मेरी रक्षा करे। उसका दुख मुझसे बर्दाश्त नहीं हुआ। मैं भूल गई प्रतियोगिता और मैंने अपना बस्ता फाड़कर उसके घावों को ढक दिया।' इस घटना को सुनकर सभी स्तब्ध रह गए और जाकर देखे कि वह रोगी घावों को ढकने के कारण चैन से सो रहा है। अब शिक्षकों के हृदय में भी परिवर्तन हुआ जो उसे डाट फटकार रहे थे, उसकी दया के आगे नतमस्तक हुए। उन लोगों ने सोचा, हम भी उधर से ही निकले थे, चीख और पुकार भी सुनी थी मगर हमलोगों पर उस करुण पुकार का क्या कोई प्रभाव पड़ा? इस बालिका से हमें सीख लेनी चाहिए। पुरस्कार की घोषणा प्राचार्य ने की और सबसे अच्छा बस्ता का पुरस्कार उस बालिका को मिला जिसने अपने थैले को फाड़कर कुष्ठ रोगी के घावों को ढक दिया था। अपने समापन भाषण में उन्होंने छात्रों से निवेदन किया कि उस बालिका से सभी सीख लें और परसेवा व्रत का पालन करें।

उपरोक्त सभी घटनाओं का एक ही मकसद है जन सेवा, मानव सेवा और यह सम्भव है सामूहिक रूप में विराट स्तर पर और व्यक्तिगत रूप में छोटे-छोटे स्तर पर। सामाजिक संस्थाएं सेवा कार्य में अहम्

भूमिका का निर्वाह कर रही हैं। वे सेवा के नित नये आयामों को कार्यान्वित कर रही हैं। जिस तरह जैसे भी हो "सर्वे भवन्तु सुखिनः" को साकार करने हेतु अहर्निश सेवामहे को चरितार्थ कर रही है। Self Employment (स्वरोजगार) हेतु महिला गृह उद्योग, कुटीर उद्योग, पुस्तक वितरण, औषधि वितरण, भोजन व्यवस्था, छात्रों के लिए कर्मकारी शिक्षा (Vocational Education) आदि में संस्थाएं रत हैं। विभिन्न स्कूल, कॉलेज, औषधालय, भोजनालय, अनाथालय, शिशु निकेतन आदि किसी न किसी रूप में जन सेवा में नित्य कार्यरत हैं। इनको हम पुष्पित-पल्लवित करें, यही संकल्प हो हमारा। इन्हें हम किसी भी रूप में नुकसान, क्षति न पहुंचाएँ न बाधक बनें। एक महात्मा एक गांव में पधारे। उनके सम्मुख कुछ ग्रामवासी इकट्ठे हुए और कहा, 'महाराज किसी ने द्वेष और ईर्ष्यावश मेरे खलिहान में आग लगा दी, जहां मेरे परिश्रम द्वारा एकत्रित सारी की सारी अन्नराशि थी। काफी क्षति हुई।' महात्मा ने कुछ देर तक सोचा फिर बोले, 'व्यक्तिगत द्वेष के कारण उसने केवल तुम्हारा ही नुकसान नहीं किया, उसने कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, साधु-संतों और अन्यान्य के हिस्से में प्राप्त अन्नराशि को नष्ट किया है। यह व्यक्तिगत नुकसान, हानि नहीं है यह है सामूहिक क्षति। नुकसान और जो सामाजिक क्षति करता है उसकी दशा शास्त्रों में बड़ी कठोर वर्णित है। खैर, ईश्वर साक्षी है कर्मफल अवश्य प्राप्त होगा।' तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत द्वेष आदि को सामाजिक संस्थानों पर न थोपें और न ही उसके चलते उसे नष्ट करें। अपने बल, पौरुष और शक्ति के अनुसार उसे पुष्पित और पल्लवित करें, यही होगी सच्ची सेवा प्राणिमात्र की और यही होगा भगवत्प्राप्ति का सच्चा साधन—

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्

सह शिक्षक, श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता

गोस्वामी तुलसीदास : युग एवं व्यक्तित्व

भवत तुलसी की समस्त रचनाओं, विशेषतः रामचरित मानस में वैष्णव आन्दोलन की सर्वश्रेष्ठ झांकी मिलती है और उसकी जैसी स्पष्ट सशक्त और सम्यक् अभिव्यक्ति यहां उपलब्ध होती है वैसी अन्यत्र नहीं। नामदेव रामानन्द से तुलसी तक, लगभग 250 वर्षों तक उत्तरी भारत में वैष्णव धर्म भावना का मध्यकालीन स्वरूप विकसित होता रहा और अनेक कवियों, साधकों, भक्तों तथा मनीषी महापुरुषों के द्वारा वैष्णव विचारधारा तथा साधना पल्लवित एवं पुष्पित होती रही। हम यह कह सकते हैं कि तुलसी मध्ययुगीन वैष्णव आन्दोलन के अंतिम और शीर्षस्थ सच्चे महासाधक के रूप में सबके समक्ष आए जिनमें एक आन्दोलन का जन्म ही नहीं, उसका पूर्णोन्मेष मिलता है। अगर ध्यान से देखा जाय तो तुलसी के तारुण्य तक पहुंचते-पहुंचते यह आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। तुलसी के समकालीन नाभादास का 'भक्तमाल' इसका स्पष्ट प्रमाण है। भक्तमाल में हमें रामानुजी, रामानन्दी परम्परा का विस्तार ही अधिक उपलब्ध होता है और यह निश्चित है कि तुलसी का सम्बन्ध इसी परम्परा से है, किन्तु कृष्ण भक्ति आन्दोलन का पर्याप्त उल्लेख भी उसमें है। नाभादास, बल्लभ तथा चैतन्य की भी परम्परा से पूर्ण परिचित थे किन्तु उन्होंने उन्हें उतना महत्व प्रदान नहीं किया जितना कि विशिष्टाद्वैतवादी परम्परा को प्रदान किया। बल्लभ कुल की परम्परा का ज्ञान, वार्ता ग्रन्थों से होता है। चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता एक प्रकार से नाभादास के भक्तमाल के पूरक स्वरूप हैं।

इन तीनों ग्रन्थों का अवलोकन करने से मध्ययुग की वैष्णव चेतना का सार्वदेशिक एवं ऐतिहासिक स्वरूप लोगों के सामने आ जाता है। तुलसी युगीन परिवेश की उपज हैं और उन्होंने अपने चतुर्दिक प्रवहमान वैष्णव चेतना से उतना ही ग्रहण किया है जितना सालों से या पूर्व परम्परा से। उनके व्यक्तित्व में यदि यह कहा जाय कि अपरोक्ष रूप से समस्त पूर्ववर्ती और सामयिक भक्ति चेतना आत्मसात् कर गई है तो अतिसमीचीन है। सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से तुलसी का दर्शन उनके युग और व्यक्तित्व का प्रतिफल है।

रामानन्दी परम्परा से तुलसी के समय तक ध्रुवदास और विष्णुदास की रामचरितात्मक एवं रामभक्तिपरक रचनाएं लोगों के समक्ष आ चुकी थीं और अष्टछाप के कवियों में बल्लभ के शिष्यों का कृतित्व उनके सामने था। 1545 ई० में अष्टछाप की स्थापना तक सूरदास अपना काव्य लगभग समाप्त कर चुके थे और पुष्टिमार्ग के प्रमुख भक्त कवि बन चुके थे। शृंगारात्मक भक्ति की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति सूरदास, हित हरिवंश, मीरा और हरिदास के काव्य में परिलक्षित होती है। सूरदास के पदों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस परम्परा से तुलसीदास सम्यक् रूपेण परिचित थे। रामचरित मानस में भी अप्रत्यक्ष रूप से इस काव्य धारा का प्रभाव विद्यमान है किन्तु हम देखते हैं कि इस परम्परा के लीलाभाव एवं पूर्ववर्ती रसिक रामोपासना के मूल तत्व को ग्रहण कर भी भक्त तुलसी उनके प्रति कड़ा मोर्चा कायम रखे, यह उनकी नैतिक, आदर्शात्मक तथा लोकमंगल की भावना से स्पष्ट है। तुलसी ने भगवान राम के सौन्दर्य-चित्रण के साथ ही उनके शील और शक्ति का सम्यक् संतुलन बनाये रखा। लोकहितैषी तुलसी ने शायद सोचा होगा कि रासलीला में निमग्न कृष्ण तथा काम केलिनिधान राम इस विषम परिस्थिति में उपयुक्त नहीं हो सकेंगे। इसीलिए तुलसी ने पूर्ववर्ती भुशुण्डि रामायण के "खेलतं कामकेलिं ललितरसमयं राम को और गोपी पीनपयोधरमर्दन चंचल कर युगशाली तथा नीवी बंधन मोचक को छोड़कर धृत वर चाप रुचिर कर सायक दीनबन्धु प्रनतारति मोचन" श्रुति सेतु पालक राम को अपनाया तथा उन्हीं का चित्रण किया। रामानन्दी परम्परा राम के संरक्षक एवं धर्मसंस्थापक रूप पर मुग्ध थी। इसी कारण राम का असुरनिकन्दन रूप ही विशेष मान्य हुआ। इस परम्परा में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को स्थान मिला। ये दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक रहे। तुलसी ने निर्गुणियों को भी आराध्य रूप में ग्राह्य भगवान राम को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया, किन्तु उनके सगुणकर्ता विशिष्ट पुराण निगमागमसम्मत मर्यादा पुरुषोत्तम और वर्णाश्रमधर्म पालक रूप को विशेष गौरव प्रदान किया। उन्होंने सेवक सेव्यभाव की मर्यादावादी भक्ति का चित्रण किया।

तुलसी लोकमंगल चेतना से परिपूर्ण थे फिर भी वे पूर्ववर्ती रसिक परम्परा में रचित भुशुण्डि रामायण के रसिक एवं रंजनशील लीलावाद से बिल्कुल विमुख नहीं थे किन्तु उसे तत्कालीन विषम परिस्थिति में पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं कर सके। भगत हेतु अवतरेण गोसाईं चौपाई

को कहकर तुलसी ने इसी धारणा को व्यक्त किया है। इस हेतु का पल्लवन उन्होंने राम के जीवन के अनेक कोमल प्रसंगों को लेकर किया है। “रामचरितमानस” के रामजन्म, बाललीला, पुष्पवाटिका प्रसंग, स्वयंवर, विवाह, वनपथ आदि स्थलों और गीतावली के अभिषेकोत्तर जलक्रीड़ा, विहार, झूलना आदि प्रसंगों में तुलसी ने अपनी सरस दृष्टि को अभिव्यक्ति दी है। इन वर्णनों में कवि तुलसी ने आश्चर्यजनक संतुलन रखने का प्रयास किया। उनकी नैतिक दृष्टि कहीं भी लोकानुराजन से परास्त परिलक्षित नहीं होती। उनके धनुष-बाणधारी राम लोकमर्यादा रक्षक के रूप में तत्कालीन परिस्थिति में निखर उठे हैं। तुलसी के युग की राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ अत्यन्त दयनीय तथा शोचनीय थीं। उन्होंने कहा है—

गोड़, गवार, नृपाल, महि, यमन महामहिपाल।

साम, न दाम, न भेद कलि, केवल दण्ड कराल॥ दोहावली

महामहिपाल यमन और गोड़गवार नृपाल राजधर्म पालन से बिल्कुल विमुख थे।

कलि-करनी बरनिए कहां लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है।

तापर दांत पीसि, कर मीजत, को जानै चित कहां टई है॥

विनय पत्रिका

उनका सैनिक शासन प्रजाशोषक था। तत्कालीन जनता राजकर, अकाल, महामारी आदि से अत्यन्त संतप्त थी। मानवधर्म और वर्णाश्रम व्यवस्था के पतन से समाज में उच्छृंखलता अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी। “रामचरित मानस”, “कवितावली”, “विनयपत्रिका” और “दोहावली” में कलियुग वर्णन को देखने से तत्कालीन परिस्थितियों का ज्ञान हो जाता है—

कलिकाल कराल में, रामकृपालु! यहै अलम्ब बड़ो मन को।

तुलसी सब संजमहीन सबै, इक नाम अधार सदा जन को॥

कवितावली

बौद्धधर्म और जैन धर्म पतनोन्मुख हुए। ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान हुआ। वेदशास्त्र और पुराणों की महिमा फिर से बढ़ चली, किन्तु इस्लाम और इस्लाम धर्म के आगमन से इसमें गतिरोध उत्पन्न हुआ। निर्गुण संत सम्प्रदाय के अधिकांश अनुयायी अंत्यज थे। उन्होंने ब्राह्मण संपादित स्मार्त धर्म और धर्मशास्त्रों का जम कर विरोध किया। इस प्रकार सनातन धर्म को एक ओर इस्लाम और ईसाई धर्मों से संघर्ष करना पड़ा तथा दूसरी ओर बौद्ध, जैन और संतसम्प्रदायों से। वैष्णव, शैव और शाक्त ये तीनों सम्प्रदाय भी एक दूसरे से संघर्ष किया करते थे। इन धार्मिक परिस्थितियों से तुलसी अत्यन्त प्रभावित थे। तुलसी ने वेद पुराण की निंदा करने वाले मतों की कटु आलोचना की। हिन्दू धर्म के विभिन्न विरोधी सम्प्रदायों में सामंजस्य स्थापित किया। पुराण निगमागम के आधार पर विष्णु, शिव और शक्ति में अभेद दिखला कर उन्होंने वैष्णवों, शैवों और शाक्तों के भेद-भाव को दूर किया। रामभक्ति के साधनरूप लोक मंगलकारी मानव धर्म और वर्णाश्रम धर्म समन्वित सनातनधर्म की स्थापना की।

धन्य थे तुलसी, धन्य था उनका विराट व्यक्तित्व। उन्होंने आदर्शहीन समाज को महान् आदर्श दिया। निराशा के अंधकार में भटकती मानव जाति के हृदय में आशा का दीप प्रज्ज्वलित किया। इन्होंने पिता के लिए दशरथ, माता के लिए कौशल्या, पत्नी के लिए सीता, भाई के लिए भरत, सेवक के लिए लक्ष्मण, भक्त के लिए हनुमान, मित्र के लिए सुग्रीव और राजा के लिए राम का आदर्श चरित्र लोगों के सामने उपस्थित किया। इनकी रचनाओं में समाज, साहित्य, संस्कृति, दर्शन, भक्ति, लोक, राजनीति सब कुछ समाहित है। हम कह सकते हैं कि तुलसीदास लोकनायक थे, भक्त थे, समाज सुधारक थे और मानव भविष्य के जागरूक ऋषि थे।

सह शिक्षक, श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता

नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय

प्राचीन काल में ऋषि वाजश्रवा के पुत्र उद्दालक ने यज्ञ-फल की कामना से 'विश्वजित्' नामक यज्ञ किया। इसमें यज्ञ-कर्त्ता को अपना सब कुछ दान कर देना पड़ता है। नियमानुसार उद्दालक ने भी अपना समस्त धन दान कर दिया। ऋषि उद्दालक के नचिकेता नामक एक पुत्र था। उस समय यद्यपि नचिकेता बालक ही था, फिर भी पिता द्वारा दक्षिणा में बूढ़ी गायों को दान देते हुए देखकर उसके पवित्र हृदय में सात्विक श्रद्धा-भाव का उदय हुआ। उसने अपने मन में विचार किया कि 'जो गायें अन्तिम बार जल पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं, दूध दुहा चुकी हैं और जिनकी प्रजनन-शक्ति समाप्त हो चुकी है, उन गौओं को दान करने से दाता को उन्हीं लोकों की प्राप्ति होती है जो आनन्द-शून्य हैं।' अतः पितृ-भक्ति के कारण नचिकेता चुप नहीं रह सका। यज्ञ की पूर्णता न होने के कारण, पिता को मिलने वाले अनिष्ट-फल के विषय में सोचकर उसने पिता से कहा— 'तत् कस्मै मां दास्य सीति' अर्थात् हे तात! आप मुझे किसको देंगे। मैं भी तो आपका ही धन हूँ। पहले तो पिता ने उसकी उपेक्षा करते हुए उसकी बात का कुछ भी उत्तर नहीं दिया। परन्तु जब नचिकेता ने इसी प्रश्न को दूसरी-तीसरी बार भी दुहराया तो ऋषि ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर कहा— 'मैं तुम्हें मृत्यु को देता हूँ।'

पिता के क्रोध भरे वचन सुनकर नचिकेता सोचने लगा कि शिष्य और पुत्रों की तीन श्रेणियां होती हैं— उत्तम, मध्यम और अधम। जो शिष्य गुरु के अभिप्राय को समझ कर उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा किये

बिना ही उसका पालन कर दिया करते हैं, वे उत्तम कोटि में आते हैं। जो आज्ञा पाने पर उसका पालन करते हैं, वे मध्यम कोटि के होते हैं। परन्तु जो गुरु के मन के भाव समझ लेने और आज्ञा पाने पर भी उसकी ओर ध्यान नहीं देते वे शिष्य और पुत्र अधम श्रेणी में गिने जाते हैं। मैं (नचिकेता) बहुत से पुत्रों और शिष्यों में तो प्रथम श्रेणी का हूँ और बहुतों में द्वितीय श्रेणी का भी हूँ। किन्तु मैं किसी भी अवस्था में अधम श्रेणी में नहीं आता, फिर न जाने क्यों पिताजी ने मुझे मृत्यु को दे दिया? भला मृत्यु-देव का मुझसे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? शायद किसी प्रयोजन की अपेक्षा किये बिना ही पिताजी ने क्रोधवश ही ऐसा कहा है। चाहे जो भी हो अब तो पिता जी का वचन सत्य ही करना होगा। इस प्रकार नचिकेता ने मृत्यु-देवता के यहां जाने का वृद्ध निश्चय कर लिया। उसके इस संकल्प को समझ कर ऋषि पश्चात्ताप करने लगे। पिता को इस तरह दुखी होते देख नचिकेता से नहीं रहा गया। उसने एकांत में पिता के पास जाकर कहा - 'पिताजी! आप अपने पूर्वजों के आचरण देखिये और इस समय के अन्य श्रेष्ठ पुरुषों के भी आचरण देखिये। उन लोगों के चरित्रों में न पहले कभी असत्य था, न अब है। असाधु लोग ही असत्य का आचरण करते हैं और जो लोग असत्य आचरण करते हैं, वे अजर-अमर न होकर खेती अथवा अन्न की तरह पकते (वृद्ध होकर मर जाते हैं) तथा अन्न की तरह फिर उत्पन्न हुआ करते हैं।' इस प्रकार नचिकेता ने पिता के मुख से निःसृत वचन को - भले ही वे क्रोध में ही क्यों न कहे गये हों— सत्य प्रमाणित करने का भरसक प्रयत्न किया। क्योंकि भगवान पतंजलि के अनुसार - 'जाति, देश, काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौम व्रतम' अर्थात् जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित, सभी अवस्थाओं में पालन करने योग्य यम - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य-महाव्रत कहलाते हैं। जिस समय इन पांचों यमों का अनुष्ठान सार्वभौम अर्थात् सभी के साथ, सभी स्थानों पर सभी समय समान भाव से किया जाता है तभी ये महाव्रत हो पाते हैं और तभी विविध प्रकार की सिद्धियां भी प्राप्त हो सकती हैं अन्यथा अल्पव्रत द्वारा सिद्धियों की आशा करनी व्यर्थ है। अतः इनको संकुचित नहीं करना चाहिए।

पुत्र के इस प्रकार समझाने पर पिता ने सत्य की रक्षा के लिए उसे दुखी मन यमराज के पास जाने की आज्ञा दे दी। जिस समय नचिकेता यमराज के घर पहुंचा, उस समय वे कहीं बाहर गये हुये थे। अतः तीन दिनों तक अन्न-जल ग्रहण किये बिना उसे वहीं यम की प्रतीक्षा करनी पड़ी। यमराज के लौटने पर उनकी पत्नी तथा मंत्रियों ने उनसे निवेदन किया— "साक्षात् अग्नि देव ही ब्राह्मण अतिथि के रूप में घर में प्रवेश करते हैं। साधु गृहस्थ उस अतिथि रूप अग्नि की ज्वाला की शान्ति के लिये उसे जल (पादार्घ्य) दिया करते हैं। अतएव हे वैवस्वत! आप उस ब्राह्मण-बालक के पैर धोने के लिए जल लेकर शीघ्र जाइये। अतिथि तीन दिनों से आपकी प्रतीक्षा करता हुआ अनशन किये बैठा है। अतएव जब आप स्वयं उसकी सेवा में उपस्थित होंगे तभी वह

शान्त होगा। जिसके घर पर ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये रहता है, उस मन्द बुद्धि की सारी आशा और प्रतीक्षायें— जिनके मिलने की उसे पूर्ण आशा रहती है और जिनके प्राप्त होने का निश्चय रहता है एवं जिनकी प्राप्ति की वह प्रतीक्षा कर रहा है— नष्ट हो जाती हैं। न तो वे पदार्थ ही उसे प्राप्त होते और जो प्राप्त भी हो जाते हैं, उनसे उसे किसी प्रकार के सुख की उपलब्धि नहीं होती। उसके यज्ञ-दान आदि इष्ट कर्म तथा कुआं, तालाब, धर्मशाला आदि बनवाने रूप पूर्ण कर्म एवं उनके सम्पूर्ण फल नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अतिथि का असत्कार उसके पुत्र, पशु आदि धन का भी नाश कर देता है।' इस प्रकार यहां पर अतिथि को सभी प्रकार से अनुपेक्षणीय बताकर उसके महत्व का प्रतिपादन किया गया है। उनकी इन बातों को सुनकर यमराज नचिकेता के पास पहुंचे। उन्होंने अपना अपराध स्वीकार करते हुए सबसे पहले उस ब्राह्मण-पुत्र की पूजा की। इसके उपरांत उन्होंने नचिकेता से एक-एक रात्रि के लिये एक-एक करके तीन वर मांगने को कहा। पितृ-भक्त नचिकेता ने यह सोचकर कि पिता को संतुष्ट रखना ही पुत्र का सर्वप्रथम कर्तव्य होता है। यमराज से पहला वर यह मांगा कि उसके पिता उसके प्रति शांत संकल्प, प्रसन्न चित्त और क्रोध-रहित हो जायं। जब वह उनके (यमराज) यहां से लौटकर घर जाय तो उसके पिता उसे पहचान कर उससे पहले की तरह बातचीत करें। यमराज के 'तथास्तु' कहने तथा पूर्ण आश्वासन देने पर नचिकेता ने उनसे सभी जीवों के कल्याण हेतु स्वर्ग के साधन भूत अग्नि-तत्त्व को जानने की इच्छा से कहा— 'हे मृत्यु? कहते हैं स्वर्ग में न किसी प्रकार का भय है न कोई चिन्ता है। वहां तो आप भी नहीं हैं। वहां न वृद्धावस्था का डर है न भूख-प्यास की परवाह। अतएव आप उसी स्वर्ग-प्राप्ति के साधन अग्नि (यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान) का मुझ श्रद्धालु को ज्ञान करावें। क्योंकि उसके द्वारा स्वर्ग को प्राप्त हुए पुरुष ही अमृतत्व की प्राप्ति करते हैं।' नचिकेता के दूसरे वर को सुनकर यमराज ने समस्त लोकों के आदि कारण उस अग्नि (यज्ञ) की और उसके लिये जितनी ईंटें चाहिए तथा जिस प्रकार रखी जानी चाहिए आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिया। यमराज ने अग्नि-तत्त्व का जैसा वर्णन किया था, नचिकेता ने उन्हें उसे ज्यों का त्यों सुना दिया। नचिकेता की तीक्ष्ण बुद्धि तथा उसकी प्रतिभा से प्रसन्न हो महात्मा यम ने उसे अपनी ओर से एक वर और देते हुए कहा— 'हे नचिकेता! यह अग्नि तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगी।' इसी के साथ उन्होंने उसे अनेक रूपों वाली एक माला भी दी। कहते हैं जो तीन बार नचिकेताग्नि का चयन करता है वह माता, पिता और आचार्य से शिक्षा प्राप्त कर जन्म और मृत्यु को पार कर लेता है। वह ब्रह्म से उत्पन्न, ज्ञानवान और स्तुति योग्य देव को जानकर तथा उसका अनुभव कर अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है। अतः उस अग्नि की ब्रह्म से उत्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न पूजनीय देव के रूप में ही उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार उस यज्ञ की विधि को जो जानता है तथा उसका सम्पादन करता है वह देह पात से पहले ही मृत्यु के बन्धन से मुक्त होकर स्वर्ग में आनन्द को प्राप्त होता है। नचिकेताग्नि को

स्वर्ग का साधन बतलाकर तथा उसकी कुछ और प्रशंसा करके यमराज ने नचिकेता से तीसरा वर मांगने को कहा।

इस लोक के कल्याण के लिये पिता की प्रसन्नता का वर तथा परलोक के लिये स्वर्ग के साधन रूप अग्नि-विज्ञान का ज्ञान प्राप्त कर नचिकेता सोचता है कि उसे अब आत्मा के यथार्थ ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति का उपाय जान लेना चाहिए। यद्यपि मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व रहता है या नहीं, इस सम्बन्ध में नचिकेता को स्वयं कोई सन्देह नहीं था, फिर भी उसने अपना मत न बतला कर प्रश्न को इस प्रकार पूछा कि इसके उत्तर में आत्मा की नित्य-सत्ता, उसके स्वरूप, गुण और परमात्मा की प्राप्ति के साधनों का विवरण अपने आप ही आ जाता है। अतः तीसरा प्रश्न आत्म-ज्ञान के विषय में है न कि आत्मा के अस्तित्व में सन्देह उत्पन्न करने वाला। तैत्तिरीय ब्राह्मण में नचिकेता का जो इतिहास मिलता है, उसमें नचिकेता ने तीसरे वर में पुनर्मृत्यु (जन्म-मृत्यु) पर विजय पाने का (मुक्ति का साधन) जानना चाहा है (तृतीय वृणीष्वेति। पुनर्मृत्योर्मेऽपचितिं ब्रूहि)। परन्तु यहां पर उसने यमराज से तीसरा वर मांगते हुए कहा— 'मृत मनुष्य के विषय में एक सन्देह है। कुछ लोग तो कहते हैं कि यह 'रहता है' और कुछ लोगों का कहना है यह 'नहीं रहता' मृत्यु के पश्चात् आत्मा का अस्तित्व रहता है अथवा नहीं रहता, इसके सम्बन्ध में हमें प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से कोई निश्चित ज्ञान नहीं होता। आप मृत्यु के अधिपति देवता हैं। अतएव यह आत्म-तत्त्व मैं आप से जानना चाहता हूं। यही मेरे वरों में से बचा हुआ तीसरा वर है।'

नचिकेता के इस आत्म-तत्त्व संबंधी महत्वपूर्ण प्रश्न को सुनकर यमराज ने सोचा 'कृषि कुमार बालक होने पर भी बड़ा बुद्धिमान है। इसी से यह इतने गोपनीय तत्त्व को जानने का आग्रह कर रहा है। परन्तु आत्म-तत्त्व का ज्ञान सभी को बतलाना उचित नहीं। इसे केवल अधिकारी के समक्ष ही प्रकट करना चाहिए। अधिकारी साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होना चाहिए। इसीलिए पहले पात्र की परीक्षा की आवश्यकता है।' यही सोचकर यमराज ने आत्म-तत्त्व को अत्यन्त कठिन कहकर नचिकेता को टालना चाहा। उन्होंने नचिकेता से कहा कि इस विषय में पहले देवताओं को भी सन्देह हुआ था। इसे समझ सकना आसान नहीं है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और गहन विषय है। अतएव वह इसे जानने का हठ न करे। कोई अन्य वर मांग ले। इसके लिए वह उन पर दबाव न डाले। इसे उन्हीं के लिए छोड़ दे।

विषय की सूक्ष्मता तथा गहनता का नाम सुनकर नचिकेता को तनिक भी घबड़ाहट नहीं हुई। अपने प्रश्न पर अड़े रहकर वह और भी वृद्धतापूर्वक कहने लगा कि 'निश्चय ही इस विषय में देवताओं को भी सन्देह हुआ था और आप भी इसे कठिन ही बतला रहे हैं। इसी से इस प्रश्न का महत्व और भी बढ़ जाता है। दूसरे इस महत्वपूर्ण विषय को समझाने वाला आप जैसा अनुभवी वक्ता भी नहीं मिल सकता। आप इसे छोड़कर दूसरा वर मांगने को कहते हैं, परन्तु मैं तो समझता हूं कि इसकी तुलना में अन्य कोई वर ही नहीं है, क्योंकि और सभी वर अनित्य फल वाले

हैं। केवल यही कल्याण-प्राप्ति का एक मात्र हेतु है। अतः आप इसी का उपदेश दें।

जब किसी विषय को नहीं बतलाना होता तो सबसे पहले उसकी कठिनता का भय दिखलाया जाता है। परीक्षा के लिए यमराज ने भी यही किया, किन्तु इस परीक्षा में नचिकेता उत्तीर्ण हो गया। अतः अबकी बार उन्होंने उसकी और भी कठिन परीक्षा लेनी चाही। साधक अथवा जिज्ञासु की परीक्षा के लिए दो ही शस्त्र होते हैं— एक भय और दूसरा लोभ। नचिकेता भय से तनिक भी विचलित नहीं हुआ। इसलिए यमराज ने उसके ऊपर दूसरा शस्त्र लोभ का प्रयोग करते हुए उसे सौ-सौ वर्ष जीने वाले पुत्र-पौत्र, गौ आदि बहुत से पशु, हाथी, घोड़े, स्वर्ण और भूमण्डल का विशाल साम्राज्य तथा इन्हें भोगने के लिए जितने वर्ष जीने की इच्छा हो उतने वर्षों की आयु मांग लेने को कहा अथवा जो-जो भोग मृत्यु लोक में दुर्लभ है उन्हें तथा उन सुन्दरियों को भी मांग लेने को कहा जो मृत्यु लोक में नहीं प्राप्त हो सकती। परन्तु नचिकेता के ऊपर यमराज के इन प्रलोभनों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि वह विचार और वैराग्य की उस उच्च स्थिति पर पहुँच चुका था जहाँ पहुँच जाने पर साधक को किसी प्रकार का प्रलोभन डिंगा नहीं पाता। इसी से उसने यमराज से कहा— ‘हे मृत्यो! आपने जिन भोग्य पदार्थों का वर्णन किया है वे कल तक रहेंगे अथवा नहीं, इसमें भी सन्देह है। ये अप्सरा आदि भोग तो मनुष्य की सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को ही क्षीण कर देते हैं। अतः धर्म, वीर्य, प्रज्ञा, तेज और यश आदि का क्षय करने वाले होने से ये अनर्थ के ही कारण हैं। यह दीर्घ जीवन भी अनन्त काल की तुलना में बहुत ही कम है। जब ब्रह्मा का जीवन भी अल्पकालिक है, तब औरों की बात ही क्या?’ ‘इस धन से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती, क्योंकि जहाँ केवल कामनाओं का ही विस्तार है वहाँ तृप्ति कैसी? और जब मैं आप को देख ही चुका हूँ तो जब मुझे धन की लालसा होगी तब उसे प्राप्त ही कर लूँगा। इसी प्रकार जब तक आप शासन करते रहेंगे तब तक तो मैं जीवित भी रह सकता हूँ। अतएव ‘वरस्तु मे वरणीयः स एव’— मैं तो वही आत्मतत्त्व वाले प्रश्न को ही जानना चाहूँगा। भला अजर और अमर देवताओं के समीप पहुँच कर जरा और मृत्यु से ग्रस्त कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो अस्थिर और परिणाम में दुखदायी विषयों की इच्छा करेगा। अतः इस आत्म-तत्त्व सम्बन्धी वर के गृह होने पर भी नचिकेता दूसरा अनित्य वर प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता।

यमराज ने नचिकेता की भलीभाँति परीक्षा लेकर जब यह समझ लिया कि वह परम वैराग्यवान् निर्भिक तथा उत्तम अधिकारी है तब उन्होंने ब्रह्म-विद्या को प्रारंभ करने से पहले उसके महत्व पर प्रकाश डालते हुए ‘श्रेय और प्रेय’ के सम्बन्ध में समझाया। श्रेय मनुष्य के वास्तविक कल्याण मोक्ष को कहते हैं और प्रेय स्त्री-पुत्र, धन-मानादि प्रिय लगने वाले पदार्थों का नाम है। ये दोनों मनुष्य के समक्ष अपने-अपने प्रयोजनों के साथ उपस्थित हो, उसे बांधने का प्रयास करते हैं। इन दोनों में से जो श्रेय को ग्रहण करता है, उसका तो कल्याण (मोक्ष)

होता है और जो प्रेय को ग्रहण करता है, वह सांसारिक भोगों तथा धन-मानादि में फँसकर अपने पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। इनमें से मनुष्य किसी को भी ग्रहण कर सकता है। बुद्धिमान पुरुष तो श्रेय और प्रेय दोनों के गुण-दोष को भली प्रकार समझ कर श्रेय का ग्रहण और प्रेय का त्याग कर देते हैं, किन्तु मूढ़ लोग योग-क्षेम (प्राप्त स्त्री-पुत्र, धन आदि की रक्षा और अप्राप्त भोग्य-पदार्थों की प्राप्ति) के लिये प्रेय को ही ग्रहण करते हैं। परन्तु यमराज के द्वारा बार-बार प्रलोभन दिये जाने पर भी नचिकेता ने प्रिय लगने वाले सांसारिक विषयों को हेय समझ कर त्याग दिया। इससे वह उस निकृष्ट गति को नहीं प्राप्त हुआ, जिसमें प्रायः बहुत से ‘विद्या’ का अधिकारी समझ कर उसकी प्रशंसा की, क्योंकि उसे बहुत से भोग भी नहीं लुभा सके। अविद्या में पड़े हुए भी जो लोग अपने को बहुत बड़ा पण्डित मानते हैं, वे भोगी मूढ़ जन अंधे से चलाये हुए अन्धों की तरह चारों ओर ठोकरें खाते हुए भटकते फिरते हैं। यमराज आगे कहते हैं—

न साम्परायः प्रति भाति बालं, प्रमाद्यन्तं वित्त मोहेन मूढः।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

‘धन के मोह से मोहित, प्रमाद में रत रहने वाले मूर्ख को परलोक या कल्याण का मार्ग दिखाई ही नहीं देता। वह तो केवल यही मानता है कि स्त्री-पुत्रादि से भरा हुआ एक मात्र यह लोक ही सत्य है। इसके अलावा कोई परलोक है ही नहीं। ऐसा मानने वाला पुरुष बारम्बार जन्म लेकर मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।’

परन्तु यह आत्म-ज्ञान कोई साधारण-सी बात न होकर अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा, आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

‘जगत में अधिकांश मनुष्यों को इस आत्म-तत्त्व की चर्चा भी सुनने को प्राप्त नहीं होती। बहुत से लोग इसे सुनकर भी समझ नहीं पाते। इस गूढ़ आत्म-तत्त्व का वर्णन करने वाला महापुरुष आश्चर्यमय अर्थात् दुर्लभ होता है। इस आत्मा को प्राप्त (जानने वाला) करने वाला भी कहीं कोई एक निपुण पुरुष ही होता है। इसी प्रकार किसी आत्मदर्शी आचार्य द्वारा उपदेश पाकर उसके अनुसार मनन-निदिध्यासन करते-करते तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुष भी आश्चर्यजनक ही होते हैं।

‘यह आत्म-तत्त्व अल्पज्ञ मनुष्य द्वारा समझाये जाने पर तनिक भी समझ में नहीं आता, क्योंकि यह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म होने के कारण सर्वथा अतर्क्य है। इसी से सामान्य व्यक्ति के समझाये जाने पर, यदि कोई उसका विविध प्रकार से चिन्तन और मनन भी करता है तब भी वह समझ में नहीं आता। अतः जब तक इसे यथार्थ रूप से समझाने वाला कोई आत्म-दर्शी महापुरुष नहीं प्राप्त होते, तब तक मनुष्य का इसमें प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन होता है। इसे तर्क से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।’ नचिकेता की प्रशंसा करते हुए यमराज कहते हैं कि उन्हें उसकी अनन्य निष्ठा को देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है, क्योंकि यह निष्ठा तर्क से कभी नहीं मिल सकती। यह तो भगवत्कृपा के फलस्वरूप

किसी महापुरुष के संग से ही उपलब्ध होती है। उस महापुरुष द्वारा आत्म-तत्त्व के विवेचन को श्रवण करते हुए, उसी का चिन्तन करने का अभ्यास करते रहना चाहिए। इसके उपरान्त यमराज ने अपना उदाहरण देते हुए बतलाया कि उन्होंने यह जानते हुए भी नचिकेताग्रि का चयन किया कि अनित्य साधनों द्वारा नित्य पदार्थ की प्राप्ति नहीं की जा सकती, किन्तु उन्होंने नचिकेताग्रि आदिरूप से जो कुछ यज्ञ आदि कर्म किये, सबके सब कामनाओं और आसक्ति-भाव से रहित होकर केवल लोक-कल्याण के लिए कर्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर किए। इस निष्काम भाव की ही यह महिमा है कि अनित्य पदार्थों के द्वारा कर्तव्य-पालन रूप ईश्वर-पूजा करके मैंने नित्य-सुख रूप परमात्मा की प्राप्ति कर ली। तदुपरान्त उन्होंने नचिकेता की बुद्धि, उसके त्याग तथा निष्काम भाव की प्रशंसा करके उसे आत्म-तत्त्व का अधिकारी बताया। आगे उन्होंने उसके हृदय में ईश्वर प्राप्ति की तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न करने हेतु परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहा—

तं दुर्दशं गूढम् अनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।

अध्यात्म योगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्ष-शोको जहाति॥

‘उस कठिनता से दिखाई देने वाले, गूढ़ स्थान में अनुप्रविष्ट (विषय-विकार रूप विज्ञान से छिपे हुए), बुद्धि में स्थित, गहन स्थान में रहने वाले पुरातन देव को अध्यात्म योग (चित्त को विषयों से हटाकर आत्मा में लगा देना) की प्राप्ति द्वारा जान कर धीर (बुद्धिमान) पुरुष हर्ष और शोक का परित्याग कर देता है।’

‘इस आत्म-तत्त्व विषयक उपदेश को अनुभवी महापुरुष (सद्गुरु) द्वारा श्रद्धा-पूर्वक सुनना चाहिये, सुनकर उसका मनन करना चाहिये। उसके बाद एकान्त में उस पर विचार करते हुये, उसे बुद्धि में धारण करना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर साधन-रत रहने पर जब साधक को आत्म-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है, तब वह आनन्द-रूप ही हो जाता है। नचिकेता के लिये भी वह मोक्ष का द्वारा खुला हुआ है।’

यमराज के मुख से परब्रह्म परमात्मा की महिमा सुनकर और अपने को आत्म-ज्ञान का अधिकारी समझकर नचिकेता ने कहा— ‘भगवन! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो धर्म और अधर्म से परे, कार्य और कारण रूप प्रपञ्च से पृथक् और भूत तथा भविष्य से भिन्न जिन सभी प्रकार के व्यावहारिक विषयों से अतीत परमात्मा को आप देखते हैं, उसे बतलाइये।’

नचिकेता के प्रश्न को सुनकर यमराज ने आत्मा के स्वरूप तथा उसके लक्षणों को बतलाने से पूर्व उसके साक्षात् साधन प्रणव का उपदेश प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा—

‘सभी वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं, जिसको प्राप्त करने हेतु सभी प्रकार के तप किये जाते हैं तथा जिसके साक्षात्कार के लिये ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। संक्षेप में उस पद को ‘ॐ’ कहते हैं।’ अतः ‘यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है और यही पर ब्रह्म है। यही सभी नामों में व्याप्त है। परमात्मा के समस्त नामों में ‘ॐ’ ही सर्वश्रेष्ठ है। यही ब्रह्म का प्रतीक है। इसको ‘यही उपास्य ब्रह्म है’ ऐसा जानकर

जो पर अथवा अपर जिस ब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसे वही प्राप्त हो जाता है। यही ॐकार रूप आलम्बन (सहारा, साधन)— गायत्री आदि— सभी आलम्बनों में श्रेष्ठ है यानी सबसे अधिक प्रशंसनीय है। जो साधक इसे जान जाता है, वह परब्रह्म में स्थित होकर महिमान्वित होता है।’

नोट : यद्यपि प्रणव-उपासना कई प्रकार से की जाती है, किन्तु इनमें एक अत्यन्त सरल विधि है, जिसका अवलम्बन कोई भी मनुष्य ग्रहण कर सकता है। प्राण देने वाली वस्तु अथवा जीवन-दाता पदार्थ को प्रणव कहते हैं। शरीर में इसका अनुभव ध्वनि के रूप में होता है। इसी ध्वनि को अनाहत भी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति हृदय के समीप अनाहत चक्र से होती है। अतः एकान्त में किसी आसन पर सीधे बैठकर, बिना हिले-डुले साधना शुरू करनी चाहिये। साधना-स्थल एकान्त में तो होना ही चाहिये, वहां कोई बाहरी आवाज नहीं सुनाई पड़नी चाहिये। दिन में ऐसी सुविधा यदि न मिले तो रात में सबके सो जाने पर अभ्यास करना चाहिये। यह आवश्यक नहीं है कि भूमि या चौकी पर ही बैठकर साधन किया जाय। इसे चारपाई पर बैठकर भी किया जा सकता है। शरीर और वस्त्र शुद्ध होने चाहिये। कानों में अंगुली डालने की भी जरूरत नहीं है। गहरा ध्यान लगाने से ही काम चल जाता है। वृत्ति को अन्तर्मुखी करके, सभी ओर से चित्त को हटाकर हृदय-स्थल पर होने वाली धड़कन की ध्वनि (अथवा धक्के के स्वर) को सुनने की कोशिश करनी चाहिये। पूरे ध्यान (एकाग्रता) के साथ इस प्रकार सुनना चाहिये जैसे कोई दूर की ध्वनि सुनता है। मन में कोई अन्य विचार नहीं आना चाहिए। केवल उसी को सुनने की धुन सवार हो। यदि शुरू में ध्वनि सुनाई न दे तो दो-तीन बार लम्बा श्वांस खींच लेना चाहिये। प्राणायाम करने वालों को यह ध्वनि अत्यन्त स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ती है। श्वांस खींचने से धड़कन तेज हो जाती है और स्पष्ट सुनाई देने लगती है। कभी कभी श्वांस खींचने पर भी वह ध्यान में नहीं आती। उस समय घबड़ाना नहीं चाहिये। लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिये। कुछ ही दिनों में ध्वनि स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ने लगेगी। यहां तक कि सोते-जागते, चलते-फिरते तथा काम-काज करते हुए भी उसका अनुभव होगा।

यद्यपि यह एक प्रकार की ध्वनि ही होगी, किन्तु थोड़ा ध्यान देने पर पता चलेगा कि इससे ‘ओ३म्’ शब्द ध्वनित हो रहा है और कण्ठ को वेधता हुआ मस्तिष्क में जा पहुंचा है। उस समय आज्ञा चक्र एवं सहस्रार के प्रत्येक दल से इसकी गुंजार आ रही है। पुनः नीचे उतर कर नाभि चक्र और दूसरे स्थूल चक्रों में भी सुनाई देगी। इस साधन को करते हुए साधकों को अनेक प्रकार के प्रकाश भी दृष्टिगोचर होते हैं। ये प्रकाश विभिन्न चक्रों तथा तत्वों के होते हैं। परन्तु किसी-किसी को नहीं दिखाई पड़ते। यह संस्कार की बात है।

जिस समय शब्द के साथ तन्मयता हो जाय, लक्ष्य के अतिरिक्त अपना अथवा अन्य किसी वस्तु का ध्यान न आवे, प्रेम में विभोर होने पर जब रोम-रोम से अमृत झरने लगे, शरीर पुलकायमान और

गद्गद् होने लगे, आनन्द का सागर अपने अन्तःकरण में उमड़ता हुआ जान पड़े, मन इस मुग्धावस्था से हटना ही न चाहे, तब समझ लेना चाहिए कि क्रिया पूरी हो गयी और साधना में सिद्धि मिल गयी। उस समय साधक समस्त आवरणों को पारकर, महाकारण जगत् आनन्दमय कोश में प्रवेश कर जाता है। आगे गुरु-कृपा से आनन्द और अहम् का झीना पर्दा हट जाता है। और साधक वास्तविक भण्डार में भी एक दिन पहुंच जाता है। यही प्रणव उपासना अथवा लय योग-साधना कहलाती है। इस साधना की एक विधि महात्मा चरण दास जी ने अपने “तत्व-योगोपनिषद्” में भी बतलायी है। उपर्युक्त विधि एक अनुभवी महात्मा के ग्रन्थ से उद्धृत है।

इसके अलावा प्रणव के अर्थ का चिन्तन करते हुए उसके जप को भी प्रणव-उपासना कहते हैं। इस प्रणव को किसी न किसी रूप में संसार में प्रचलित प्रायः सभी प्रमुख धर्मों ने अपनाया है। महर्षि पतंजलि ने इस प्रणव को ईश्वर का वाचक कहा है— तस्य वाचकः प्रणवः। श्री मद्भगवद्गीता में भी ओम् को ब्रह्म कहा गया है— ‘ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म।’ मुण्डकोपनिषद् में प्रणव को धनुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य बतलाकर अगले श्लोक में ‘ओमित्येवंध्यायथ आत्मानं’ कहकर सर्वात्मा पुरुषोत्तम का ‘ओम्’ इस नाम से जप करने को कहा गया है। माण्डूक्योपनिषद् में तो केवल प्रणव के ही महत्व का प्रतिपादन करते हुए उसे ही भूत, भवत् और भविष्यत् कहकर त्रिकालातीत भी कहा गया है। वहां प्रणवो-पासना की दो विधियां बतलाई गई हैं।

प्रणवोपासना रूपी साधन बतलाकर यमराज ने आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आगे कहा—

न जायते म्रियते वा विपश्चित्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

‘यह आत्मा न जन्मता है, न मरता है, न यह किसी दूसरे से उत्पन्न हुआ है, न कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और सनातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरता।’ मरना और मारना सब शरीर के साथ होता है, आत्मा न कभी मरता है और न उसे कोई मार ही सकता है। जिस प्रकार मकान के गिर जाने से उसमें स्थित आकाश का नाश नहीं होता, इसी प्रकार देहादि के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। केवल अज्ञानी ही इसे मरने और मारने वाला समझता है। क्योंकि यह आत्मा ‘सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से भी महत्तर है। यह जीव की बुद्धि रूपी गुफा में छिपा हुआ है।’ इसे वही देख पाता है जो सभी प्रकार के भोगों की कामनाओं से रहित हो चुका है। जो कर्मों की सिद्धि और असिद्धि में सुख और दुख का अनुभव नहीं करता वह सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त रहता है। जो सदैव परमात्मा की अनन्त सत्ता का अनुभव करता हुआ शान्त और स्थिर रहता है। परन्तु जो इस प्रकार का नहीं है, उसे आत्मा के दर्शन नहीं होते। क्योंकि यह आत्मा परस्पर विराधी धर्मों वाला है। यह एक स्थान पर स्थित हुआ भी दूर चला जाता है तथा शयन करते हुए भी सब ओर पहुंच जाता है। इसे सूक्ष्मबुद्धि वाले विद्वान ही समझ

सकने में समर्थ हो पाते हैं। यद्यपि इस आत्मा को जानना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उपाय करने से इसे जाना जा सकता है। यमराज कहते हैं कि इसे उनके सिवाय अन्य कौन जान सकता है।

यह एक ही आत्मा सभी ओर से सब में व्यापक होने पर भी—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूस्वाम्॥

‘यह आत्मा न तो वेदों के प्रवचन से प्राप्त होता है, न तो बुद्धि की धारणा शक्ति से और न तो जन्म भर शास्त्रों के श्रवण मात्र से ही मिलता है। यह साधक जिस आत्मा का वरण— प्रार्थना करता है, उस वरण करने वाले आत्मा से ही यह प्राप्त किया जाता है। ‘केवल आत्म-लाभ के लिए ही प्रार्थना करने वाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्म-दर्शन होता है। अर्थात् ऐसे साधक के प्रति आत्मा अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है ‘अर्थात् हम ही आत्मा हैं और हम स्वयं को ही वरण करते हैं।’ परन्तु इसके लिये कुछ आवश्यक शर्तें हैं, जिनकी ओर संकेत करते हुए यमराज कहते हैं—

ना विरतो दुश्चरिताद्वा शान्तो ना समाहितः।

ना शान्त मानसो वापि प्रज्ञानैरमाप्नुयात्॥

‘जो दुश्चरित- पाप कर्मों से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियां शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त एकाग्र अथवा शान्त नहीं है वह इसे सूक्ष्म बुद्धि द्वारा विचार करने पर भी प्राप्त नहीं कर पाता। अर्थात् जो शम-दम तथा चित्त की वृत्तियों के निरोध रूप समाधि से रहित है, जिसका मन अशान्त है, उसको केवल पाण्डित्य और तर्कों की तीक्ष्णता से ही आत्म-दर्शन नहीं हो सकता। जो शम दम आदि गुणों से युक्त है, जो शुद्ध, संयत और समाहित चित्त है, जो इन्द्रिय-लालसाओं से विरत है और जिसने श्रवण, मनन और निदिध्यासन (ध्यान) द्वारा अभेद रूप ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही प्रज्ञान द्वारा इस आत्मा को प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो साधक ऐसा नहीं है, वह चाहे ब्राह्मण हो चाहे क्षत्रिय, उसे परमात्मा का ‘अन्न’ (प्रास) बन जाना पड़ता है। सबका संहार करने वाला मृत्यु देवता भी परमात्मा के भोजन का साग-पात बन जाता है। अतः ऐसे परमात्मा को साधन-विहीन मनुष्य कैसे जान सकता है।

इसके पश्चात् यमराज ने जीवात्मा और परमात्मा के नित्य सम्बन्ध तथा निवास-स्थान का परिचय देते हुए बतलाया है कि शुभ-कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त मनुष्य-शरीर को बुद्धि रूपी गुफा में सत्य का पान करने वाले जीवात्मा और परमात्मा छाया और धूप की भांति एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी अवस्थित हैं। परन्तु दोनों के भोग में बहुत बड़ा अन्तर होता है। परमात्मा शुभ कर्मों के फल को भोगते हुए भी नहीं भोगते। वे केवल उन भोगों को भुगताते हैं, किन्तु जीवात्मा उन कर्मों के भोगों को भोगता हुआ सुख और दुख का अनुभव करता है। जिस प्रकार धूप के बिना छाया का अस्तित्व नहीं रहता उसी प्रकार परमात्मा के कारण ही जीवात्मा में अल्प ज्ञान का प्रकाश रहता है। अतः मनुष्य को निरंतर परमात्मा का चिन्तन करते हुए उसी को प्राप्त करने का

प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार साधक यज्ञादि शुभकर्मों द्वारा अपर ब्रह्म को तथा ज्ञान द्वारा परब्रह्म को जानने में समर्थ होता है। जीव की मुक्ति के लिए जितने पथ हैं, उनमें ज्ञान ही सर्व प्रधान है।

जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का निर्णय करके यमराज ने परमात्मा की प्राप्ति के साधनों को बतलाने के लिए आत्मा का रथी और शरीर का रथ के रूप में चित्रण करते हुए कहा—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रह मेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

‘शरीर रथ है, आत्मा रथ का स्वामी रथी है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम है, इन्द्रियां घोड़े हैं, शब्द-स्पर्शादि विषय ही इनके दौड़ने के मार्ग हैं और शरीर, इन्द्रिय तथा मन से युक्त जीवात्मा को भोक्ता कहते हैं।’

‘घोड़ों से ही रथ चलता है। हाथों में लगाम पकड़े हुए बुद्धिमान सारथी ही रथ को जिधर चाहता है ले जाता है। इन्द्रिय रूपी बलवान और प्रमथनकारी घोड़े विषयरूपी मार्ग पर मनमाना दौड़ना चाहते हैं। यदि बुद्धि रूपी सारथी सावधान होकर मनरूपी लगाम को पकड़े हुए है तो घोड़ों की ताकत नहीं कि वे इधर-उधर जा सकें। परन्तु इसके विपरीत यदि बुद्धि रूपी सारथी विवेक पूर्ण स्वामी का आज्ञाकारी, लक्ष्य पर हमेशा स्थिर रहने वाला, शक्तिशाली और इन्द्रिय रूपी अश्वों की संचालन-क्रिया में कुशल नहीं होता तो इन्द्रिय रूपी दुष्ट घोड़े उसके वश में न रहकर लगाम को अपने वश में कर लेते हैं। परिणाम स्वरूप रथ और रथी को किसी भी बुरे स्थान में पटक देते हैं। अतः जिसकी बुद्धि में विवेक है, जिसका मन एकाग्र और समाहित है, उसकी इन्द्रियां अच्छे घोड़ों की तरह बुद्धि रूप सारथी के वश में रहती हैं। ऐसा साधक जो विवेकवान होता है, जिसका मन निगृहीत है, जो सदा पवित्र रहता है वह ऐसे परम पद को प्राप्त होता है, जहां से उसे लौटकर पुनः जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। वह अपने इसी रथ की सहायता से संसार-सागर के उस पार पहुंच कर सर्वव्यापी परब्रह्म परमेस्वर के उस सुप्रसिद्ध परम पद को प्राप्त हो जाता है, जिसे— ‘तद् विष्णोः परं पदम्’— विष्णु का परम पद कहा जाता है।’ इस परम पद की प्राप्ति के लिए किस प्रकार स्थूल इन्द्रियों से शुरू करके सूक्ष्मता के तारतम्य-क्रम से प्रत्यात्म-स्वरूप से ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, उसके विषय में बतलाते हुए यमराज कहते हैं—

‘इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

महतः परम व्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परम किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥

‘इन्द्रियों से उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से भी महान् आत्मा उत्कृष्ट है। महतत्त्व से अव्यक्त (मूल प्रकृति) श्रेष्ठ है और अव्यक्त से भी पुरुष श्रेष्ठ है। पुरुष

से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। वही (सूक्ष्मत्व) की पराकाष्ठा (सीमा) है, और वही सर्वोत्कृष्ट गति है। इस प्रकार इन पर विचार करते हुए इस आत्मा को सूक्ष्म-बुद्धि द्वारा ही ग्रहण करने का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये। इसके उपरान्त उन्होंने कहा कि यद्यपि परमात्मा सभी प्राणियों के हृदयों में विराजमान हैं, किन्तु माया के अथवा अज्ञान के पर्दे में छिपे रहने के कारण सबको प्रत्यक्ष नहीं होता। उसे प्रत्यक्ष करने अथवा उसके दर्शन प्राप्त करने के लिए विवेकशील पुरुष जो साधन अपनाते हैं, उसी ध्यान अथवा लय-प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छान्त आत्मनि ॥

‘विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रिय को मन में, मन को ज्ञान अर्थात् प्रकाश स्वरूप बुद्धि में, ज्ञान-स्वरूप बुद्धि को महतत्त्व में और महतत्त्व को शान्त आत्मा में नियुक्त करें।’ ध्यान तथा समाधि का यही अभ्यास क्रम है। संकल्प वाणी के रूप में ही प्रकट होता है। इसी कारण वाक्य (वाणी) का मूल है प्राण शक्ति। उस प्राण-शक्ति को प्राणायाम के द्वारा स्थिर कर सकने से मन के नाना प्रकार के संकल्प मन में ही विलीन हो जाते हैं। संकल्प-विकल्प-रहित हो जाने पर मन एकाग्र हो जाता है। यही है मन को ज्ञानात्मा में ले जाना। धैर्यपूर्वक साधनाभ्यास करते रहने से प्राण स्पन्दन-रहित हो जाता है। इससे चित्त में भी स्पन्दन नहीं रह जाता। किन्तु वासना का बीज तब भी सुप्तावस्था में रह जाता है, पर सिर नहीं उठा पाता। इसी को महत् आत्मा अर्थात् बुद्धि का अतिसूक्ष्म भाव कहते हैं। बुद्धि की इसी सूक्ष्मावस्था में आत्मा का स्पर्श अनुभूत होता है। उस समय भी सविकल्प का भाव रहता है। पश्चात् उस स्पर्श का जब पुनः विराम नहीं रहता तब संस्कार के बीज का भी नाश हो जाता है, वही शान्त आत्मा या निर्विकल्प समाधि की स्थिति है।’ (भूपेन्द्र नाथ सान्याल कृत भगवद्गीता - भाष्य से उद्धृत)।

इस पद्धति-विशेष से आत्म-ज्ञान की उपलब्धि कर पुरुष स्वस्थ, प्रशान्त चित्त एवं कृत-कृत्य हो जाता है। इसीलिए उस आत्मा के साक्षात्कार हेतु उदबुद्ध करते हुये यमराज कहते हैं—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

‘उठो, जगो और महापुरुषों के पास जाकर इसे जानो। क्योंकि बुद्धिमान लोग इस मार्ग को— क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥’ तलवार की धार पर चलने के समान बतलाते हैं।

पहले यह कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण प्राणियों की बुद्धि रूपी गुहा में अवस्थित यह आत्मा अत्यन्त कठिनता से दिखलाई पड़ता है। प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर देते हुए यमराज कहते हैं—

पराञ्छिरवानि व्यतृणंस्त्वयं भू स्वस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्बीरः प्रत्यात्मानमैक्ष दावृत चक्षुर मृतत्वं मिच्छन् ॥

‘इन्द्रियों के मुख बाहर की ओर हैं, इसी से वे केवल बाहर की

वस्तुओं को देखती हैं अन्तरात्मा को नहीं देखती। कोई विवेक सम्पन्न पुरुष ही अमृतत्व की शुभ इच्छा से इन इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके आत्मा को देख पाता है। अल्पज्ञ पुरुष बाहरी भोगों के ही पीछे लगे रहते हैं। इसी से वे मृत्यु के सर्वत्र फैले हुए पाश में पड़ते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष अमरत्व को समझ कर संसार के क्षणिक पदार्थों में नहीं फँसते। अतः जिस आत्मा के द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और सांसारिक सुखों को जानने में समर्थ होता है, जिस आत्मा से इस लोक की कोई भी वस्तु अविज्ञेय नहीं है, वह आत्मा सर्वज्ञ है। उसी के विषय में नचिकेता ने पूछा था।

जो यहां कार्य रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है, वही कारण रूप में भी है। परन्तु जो उपाधि के सम्बन्ध से, भेद ज्ञान के कारण तथा अविद्या के प्रभाव से उस अभिन्न स्वरूप ब्रह्म को नाना रूपों में देखता है—वह बारम्बार मृत्यु को (जन्म-मरण को) ही प्राप्त होता है। इस ज्ञान की प्राप्ति केवल विचार से ही होती है। यहां तनिक भी भेद नहीं है। जो यहां भेद देखता है, वही मृत्यु की शरण में जाता है। जैसे शुद्ध जल शुद्ध जल में मिल कर एक रस हो जाता है उसी प्रकार आत्म-दर्शी पुरुष का आत्मा भी परमात्मा से मिलकर एक हो जाता है।

आगे चलकर यमराज ने फिर कहा—‘हे नचिकेता! मैं प्रसन्न होकर तुम्हें यह अत्यन्त गोपनीय सनातन ब्रह्म के विषय में बतला रहा हूँ। ब्रह्म को न जानने से मृत्यु के बाद जीव की क्या गति होती है, सुनो! जिसके जैसे कर्म, ज्ञान तथा वासना होती है, उसी के अनुसार किसी को तो माता के गर्भ में जाना पड़ता है और किसी को वृक्ष, पाषाण आदि स्थावर योनियां प्राप्त होती हैं। जब समस्त प्राणी निद्रा-प्रस्त रहते हैं, उस समय जो एक निर्गुण ज्योतिर्मय पुरुष अपने इच्छित पदार्थों की रचना करते हुए जागता रहता है, वही शुद्ध है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। सभी लोक उसी में अवस्थित हैं।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

‘अग्नि और वायु जैसे एक ही एक होते हैं, फिर भी अग्नि प्रकाश स्वरूप होकर तथा वायु प्राण रूप होकर जब भुवन में प्रवेश करते हैं तब वे ही भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देते हैं, इसी प्रकार सभी प्राणियों में रहने वाला आत्मा एक ही है, परन्तु सब में भिन्न-भिन्न रूप में दीखता है। आकाश की तह निर्विकार होने के कारण बाहर भी वही रहता है।

सूर्यो यथा सर्वं लोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषैः ।
एकस्तथा सर्वं भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः ॥

‘जिस प्रकार एक ही सूर्य समस्त लोकों की आंख होकर सभी अच्छी-बुरी वस्तुओं को देखता है, परन्तु उनके संसर्ग से होने वाले बाहरी दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सभी प्राणियों का एक

ही अन्तरात्मा भी लोक के दुःख से लिप्त नहीं होता, उससे बाहर ही रहता है।’

समस्त प्राणियों के भीतर शक्ति रूप से अवस्थित आत्मा एक है। वही सबको अपने अधीन रखता है। वह एक ही अनेक रूपों में दिखाई देता है। जो नित्यों का नित्य एवं चेतन का भी चेतन है। जो एक हो सबकी इच्छाओं को पूर्ण करता है, उस शरीरस्थ आत्मा को जो धीर पुरुष जानते हैं, उन्हें ही नित्य सुख और शान्ति प्राप्ति होती है, दूसरों को नहीं। जिसको सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता, जो चन्द्रमा और तारा-गणों से प्रकाशित नहीं होता, बिजली भी जिसे प्रकाशित नहीं कर सकती, भला उसे बेचारा अग्नि कैसे प्रकाशित कर सकता है? जिसके प्रकाश से ही सब प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से ही यह सब सूर्य आदि प्रकाशित हो रहे हैं। यह समस्त जगत् प्राण-ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी से नियम पूर्वक चेष्टा कर रहा है। यह महान् भय रूप है तथा उठाए हुए वज्र के समान है। जैसे अपने सामने स्वामी को हाथ में वज्र उठाये देखकर सेवक नियमानुसार उसकी आज्ञा के पालन करने में तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदि रूप यह सारा जगत् अपने अधिष्ठाताओं सहित एक क्षण को भी विश्राम न लेकर नियमानुसार उसकी आज्ञाओं का पालन करता रहता है। अर्थात् इस परमेश्वर के ही भय से सूर्य और अग्नि तपते तथा इन्द्र, वायु और पांचवा मृत्यु दौड़ते हैं। अतएव जो पुरुष इस शरीर के नाश होने से पूर्व ही ब्रह्म को जान लेता है वह सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है और यदि नहीं जान पाता तो उसे इन्हीं जन्म-मरणशील लोकों में फिर जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

अन्त में उस संकल्प शून्य हृदय की स्थिति को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, उसके लिये योग-साधना का उपदेश देते हुए यमराज ने कहा—

यदा पञ्चाव तिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

‘जिस समय अपने-अपने विषयों से निवृत्त हुई पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के सहित आत्मा में स्थित हो जाती हैं और निश्चयात्मिका बुद्धि भी अपने व्यापारों में चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को ही परम गति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणा को योग कहते हैं। उस समय पुरुष प्रमाद रहित हो जाता है, क्योंकि योग ही उत्पत्ति और नाश रूप है। तात्पर्य यह कि सिद्धियों आदि को प्राप्त कर प्रमाद नहीं करना चाहिये। लय की निवृत्ति के लिये प्रमाद का अभाव करना चाहिए।

जिस समय योग-साधना द्वारा मनुष्य की सारी कामनायें नष्ट हो जाती हैं, जब मन सभी प्रकार की मलिनताओं का परित्याग कर निर्मल दर्पण की भांति पवित्र हो जाता है और जब चित्त की समस्त वासनायें पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं तथा हृदय की प्रीतियों का छेदन हो जाता है तब यह मरणशील मनुष्य अमर हो जाता है और इस शरीर से ब्रह्म

भाव को प्राप्त हो जाता है। अतः साधक के लिए आवश्यक है कि वह अपनी अन्तरात्मा को शरीर से पृथक् अनुभव करने का अभ्यास करते हुए उसे ही चिन्मात्र विशुद्ध और अमृतमय पुरुष समझे।

‘यमराज द्वारा कही हुई इस विद्या और सम्पूर्ण योग-विधि को प्राप्त कर नचिकेता ब्रह्म भाव को पाकर धर्माधर्म-शून्य और अमर हो गया। दूसरा भी जो कोई अध्यात्म योग को इस प्रकार जानेगा वह भी वैसा ही हो जाएगा। बस यही शास्त्र का उपदेश है, इससे परे कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार इस कठोपनिषद में यमराज और नचिकेता के कथोपकथन द्वारा ब्रह्म विद्या का अत्यन्त सरल एवं रोचक वर्णन हुआ है। इसकी वर्णन-शैली बड़ी ही सुबोध और प्रभावोत्पादक है। अन्य उपनिषदों की तरह इसमें जहां तत्त्व-ज्ञान का गंभीर विवेचन है वहां नचिकेता का चरित्र पाठकों के सामने एक अनुपम आदर्श उपस्थित करता है। योग की साधना-विधि का जैसा वर्णन सबसे पहले इस उपनिषद में हुआ है, वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इस उपनिषद के अनेक मंत्रों

का कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः उल्लेख श्री मद्भगवद्गीता में हुआ है। इसमें वर्णित शरीर रूपी रथ की परिकल्पना परवर्ती अनेक धर्म-ग्रन्थों में ज्यों की त्यों ग्रहण कर ली गई है। श्रीमद्भगवद्गीता आदि धर्म-शास्त्रों में इस संसार का अश्वत्थ-वृक्ष के रूप में जो उल्लेख हुआ है, वह भी यहीं से लिया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपनिषद में मानव-आत्म-कल्याण हेतु जिन साधन-प्रणालियों का विवेचन हुआ है, यदि मनुष्य उन सबको विवेक, ज्ञान-सम्पन्न हो ग्रहण कर तदनुकूल आचरण करे तो उससे उसका आत्म-विकास अवश्य संभव हो सकता है। एक बारस्वामी विवेकानन्द ने अपने एक शिष्य से इस उपनिषद की प्रशंसा करते हुए कहा था कि ‘उपनिषदों में ऐसा सुन्दर ग्रन्थ और कोई नहीं।’ मैं चाहता हूं, तू इसे कण्ठस्थ कर ले। नचिकेता के समान श्रद्धा, साहस, विचार और वैराग्य अपने जीवन में लाने की चेष्टा कर, केवल पढ़ने से क्या होगा?’ ‘विवेकानन्द साहित्य - षष्ठ खण्ड’

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

—सह शिक्षक, श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता

Significance of — Regulation of Temperature in Mammals

It is difficult to overestimate the importance of the advance in living organization that is made possible by the maintenance of a high and constant temperature. Sir Joseph Barcroft pointed out that many refinements of organisation can only operate under constant conditions. For instance, if there is a constant temperature, elaborate patterns of activity can be set up, in the cerebral Cortex, allowing for persistent and complicated memories. Similarly, in various parts of the body there are intricate sets of Biochemical reactions, that would be disturbed by large temperature fluctuations. At the same time achievement of high temperature allows a greatly increased level of activity. The birds and Mammals have been experimenting independently with high temperature for probably more than 100 million years, but it may be that one or both groups will eventually make still more spectacular innovations of organisation on this basis, including perhaps the use of still higher temperature.

It is not known how temp-regulating mechanism first arose. The Prototherians (Egg laying mammals).

Platypus and Echidna possess hair and they probably diverged from the other mammals, not later than the early Jurassic period, nearly 150 million years ago. Therefore it seems that the mammalian line began to be warm-blooded earlier than this date, as also did the line that was leading to the birds. This may have been a response to either cold or warm conditions; reptiles are severely limited in their distribution by temperature. It is also possible that the condition did not follow any special climatic change but that the early Avian and Mammalian Stocks were pioneers, driven by the competition of their many reptilian cousins to seek life in colder or hotter land regions, which were not yet inhabited by tetrapods.

Cold will make a reptile dormant, unless the animal can be active enough to keep itself warm by the heat produced as a by-product of muscular activity.

This will be made more easy, if the animal is large and, of course, especially if a heat insulating mechanism is developed. It is not difficult to understand how a temperature above that of surroundings could be achieved by sufficiently active reptilian animals.

Even at the present day the heat of muscular work, remains the chief source of heat in Mammals. In the early stages of the evolution of high temperature, alteration of heat production, was probably the main means of temperature regulation, as it still is today in monotremes and bats. In all mammals a fall of external temperature calls forth extra muscular activity by shivering. The high mammals also possess a mechanism for the control of heat loss and they maintain a constant temperature largely by this downward regulation.

Control of Temperature-regulating mechanism is centred on the Hypothalamic region of the forebrain, especially in the Tubercinerum, which is large in birds and mammals. In this region there are cells, that serve as detectors; when the blood is too hot or too cold, nerve impulses are sent out to vary the rate of heat production or heat loss, and the temperature is kept steady with little oscillation. After removal of the tuber an animal no longer regulates properly, its temperature fluctuates with that of its surroundings. Other parts of the Brain also play a large part in regulation and it has long been known that stimulation of the Caudate nucleus of Corpus striatum, for instance by puncture, causes a temporary rise in the

temperature which may reach as high as 42°C. It is not clear how these various heat regulating centres are related.

If cooled blood reaches one of these regions the shivering mechanism is set in action; conversely perfusion of the Carotid arteries with overwarm blood causes sweating or panting. Heat producing systems other than muscles may be called upon. The Liver and other organs give out heat in the course of their work and it is possible that during periods of sleep they may be stimulated to increased activity and greater heat output. Thyroid secretion increases the basal metabolism and thus the amount of secretion produced by the Thyroid affects the temperature. Other Endocrine glands are probably also involved.

Heat Conservation :- Hair tends to trap a layer of air, which insulates the body, reducing heat exchange with the Environment. The air retaining capacity is increased in some mammals by a roughening of the surfaces of the hair, which causes them to stick together to make a pelt. The hair are not of the same kind all over the surface of the body; often longstiff hair are found mingled with softer fur. In many mammals the hair changes according to the time of year so as to provide a thicker covering in winter than in summer.

The hair do not grow straight out from the skin but are placed obliquely, so that they all set in a particular direction, giving the coat its characteristic reaction to brushing. It has been suggested that the primary direction of the hair provides a backward slope, which would prevent them from catching in grasses. The reasons for the deviations from this direction, which occur in many mammals are not understood.

Not all mammals use an air layer for the retention of heat. In the whales and walruses the body is covered with a thick layer of fat called Blubber in the Dermis of their skin, the hair are reduced to a few vibrissae. In man, hair are present over most parts of the body, but their function is mainly tactile and heat is conserved mainly by a layer of fat in the skin. Very large mammals, such as Elephants or Rhinoceros have little need to minimize heat loss, since their surface is small relative to the large heat producing volume the hair are accordingly reduced. Related species that existed during glacial periods

had well developed hair.

Heat loss :- Various agencies are responsible for control of the heat loss. The convection from the surface of the body can be controlled by changing the position of the hair. The skin contains devices for losing as well as for retaining heat. The sweat glands are derived from the Epidermis but lie deeply in Dermis. They tubular glands much coiled at their inner ends and surrounded by myo-epithelial cells contain contractile fibres and serve to expel the secretion. The sweat is watery solution, whose evaporation serves to cool the body. The amount of liquid (sweat) produced is controlled by the action of nerve fibres of the sympathetic nervous system. Sweat glands are not properly developed in all the mammals e.g. in cats these glands are confined to the pads of the feet. In man they occur all over the body, most abundantly in the axilla and groin. They are altogether absent from the skin of whales and sea cows.

The amount of heat lost from the surface is also controlled by regulating the flow of blood. When the whole capillary bed is used the skin becomes flushed and loses much heat, also the sweat glands receive more blood. In cold conditions a set of Arterio-venous anastomoses is opened up so that the blood short circuits the capillaries and the skin becomes blue or white. These processes are influenced by the hypothalamus. The surface of the lungs also provides a means of heat loss. Animals such as dogs which have few sweat glands resort to panting.

Large animals use special means for losing heat, for instance the African elephant increases its total surface area by nearly one-sixth (1/6) when it raises its ears. The flapping movements of ears are more frequent in large elephants than small. The flow of blood to the ears is increased in hot weather. The ears are used for heat loss in smaller animals also. In North America the hares have longer ears in the warmer southern regions.

Assistant Teacher
Shree Jain Vidyalyaya, Calcutta

SPREAD OF JAINISM IN ANCIENT INDIA A GEOGRAPHICAL ANALYSIS

(Some of the outstanding research papers of Mr. Singh have been published in Geographical Review of India, the journal of Geographical society of India, also one in 'EKISTICS' an interdisciplinary Journal of the U.S.A. and Athense Greece. He had been invited to attend International Geographical Congress session, Moscow, former U.S.S.R. His paper was published by the University of Waterloo, Ontario, Canada. An article similar to the present one was published in the Golden Jubilee volume (Geography of Early Jainism) of this Vidyalyaya and the present one is also an important work of its kinds. It is hoped that it will enrich the literature of Indological studies in general and that of Jainological literature in particular— Editor.)

The field that historical geography is to cultivate is almost virgin. The field of Geographic-cum-Indological investigation remains unearthed and unexplored to a greater extent, if not totally. The Historical Geography is a geographical study of any period in the past which studies and describes the geographic aspect of the historical process. The

present work is an attempt to depict the historical and cultural geography of Jainism from the earliest time approximately covering the period from 800 B.C. to 1000 A.D.

Jainism which is definitely older than Buddhism, originated some 800 years before the birth of Christ. It is extremely difficult to have a correct idea about the progress of Jainism during the centuries preceding the Christian era in different parts of India. The available inscriptions give us some information regarding the places of Jainism in some parts of India, specially the Mathura region and Orissa. The early canonical texts give us some idea about the progress of Jain religion in different parts of North India.

The rapid analysis of the names of the **sakhas** of Theravali, a part of Kalpasutra give some idea about the spread of Jainism in different parts of India.

Almost all the religions of the world have laid great emphasis on the sacredness of certain localities. The Jainas regarded certain places to be sacred and constructed temples in honour of Tirthankaras there. These places in Jain traditions are called 'Tirtha' or 'Tirtha Kshetra' i.e. the place which shows the ways as to how to cross the transmigrations of life, in other words, it reminds us how the great personages led a virtuous life at this spot (Jain, 1943).

According to the Digambara, these holy places may be regarded into two categories viz. **siddhakshetra**, the places where the Jinas or other ascetics achieved liberation, and **Atisyakshetra**, the place which is sacred for other reasons. Such a type of division of the Tirthas, how ever is not known to the Svetambaras. the Vividha tirtha kalpa, a famous swetambara texts of 14th century A.D. does not refer to any such divisions, although it contains an extensive account of the Jain Tirthas located all over India. (singh, 1982).

The Jains regard the following places as their Tirthakshetra :

1. The places where Tirthankars were born.
2. The places where Tirthankaras first renounced the world and initiated a religious life.
3. The places where Tirthankaras practised great austerities.
4. The places where Tirthankaras achieved omniscience.
5. The places where Tirthankaras attained liberation.

6. The places where the great ascetics lived and achieved liberation;
7. The places famous for their beautiful temples or wonderfful idols; (sangave, 1959).

Jainism in North India :

Jainism originated by 800 B.C. at **Varanasi**, one of the greatest cities of ancient India. The penultimate jain Tirthankara Parsva, the real founder of jainism was the son of Asvasena king of Varanasi, the cultural and religious centre of India from time immemorial. The seventh Tirthankara Suparsha was born here. The eleventh Tirthankara Sryamsnath is said to have been born in **Kasi** and obtained Salvation. The religious system established by Parsva gradually spread towards the east and by the time, Mahabira was born became one of the dominating force in the religious life of eastern India. The Acarang Sutra, one of the oldest Jain religious text informs us that the parents of Mahabir who were followers of Parsva lived near Vaisali in North Bihar.

Lord Mahabira made Jainism one of the most popular religious system in North India. For thirty years after his enlightenment he spared no pains to make the Nirgrantha religion an all India religious system. Bhagavati tells us that he personally preached even in Western India. His rival Buddha never went farther than the Kuru Country, However, Mahabira, it appears, spent the major part of his life in modern Bihar and Uttar Pradesh, Magadha and Kosala being the Janapada, received his maximum attention.

The Jain Kalpasutra gives us the names of the places where Mahabira spent one or more rainy seasons since he become ascetic after renouncing the world. It gives a comprehensive and fair idea of the areas over which Lord Mahabira wandered for the propogation of his faith. It should be noted that there areas roughly covered modern state of Bihar and some part of Bengal and U.P.. After attaining Kevalgyan, during the thirty years of his carrer, Mahabira spent thirty rainy seasons at different places. He spent four rainy seasons in Vaisali, and Vanijyagrama, fourteen in Rajgriha and Nalanda, six in Mithila, two in Bhadraka, one in Alabhika, one in Sravasti and one in the town of Pava which was his last rainy season. In the fourth of the that rainy season in the town of Pava the venerable ascetic breathed his last, cutting asunder the ties of birth, decay and death.

Rajgriha, which was intimately associated with the activities of Mahabira was a flourishing Jain centre during Yuan Chowang's time.

After Mahabira his followers made every effort to carry his messages to millions of Indians living in different parts of the subcontinent. The Jain literaray evidences suggest that the existence of Jain temples in almost all principal cities of North India. During the time of Mahabira Jainism was popular at Vaisali, Rajgriha, Sravasti, Kausambi, Ahichhatra, Takshashila, Simbhapura and a few places of western India. Archaological and epigraphic sources give some idea about the state of Jainism in such places.

Saketa was the early centre of Jainism. it was connected with Muni Subrata. The Temple of Subrata at Saketa was in all probabality, built before 300 B.C.

Kausambi was one of the early centre of Jainism. It is still looked upon as a holy place by the devout Jains. It was the birth place of Padmaprabha, the sixth Tirthankara.

The greatness of **Sravasti** was associated with Jainism from pretty early times. It was believed to be the birth place of the third Tirthankara viz. Sambhavanatha. The city was very intimately associated with the life and activities of both Mahabira and Buddha. It was the flourishing capital of Kosals in Mahabira's time. It is indentified with **Sahet-Mahet** on the Bank of Rapti. It was at this town that the first Nihava Jamali declared himself a Jina (Chatterjee 1978). Sravasti was in great ruins when Fa-hien visited this city in about 400 A.D.. The original temple of Sambhavantha was still there when Chinese pilgrims came to India but finally it was destroyed during the reign of Ala-Ud-din. Later on it became a famous centre of Digambara sect. It is evident from the Brihat Katha Kosa of Harisena (93 A.D.)

Ahichhatra (mod. Ramanagar in Bareilly dist. U.P.) the ancient capital of Panchala was an important seat of early jainism. According to Swetambara Jain tradition, it was sacred to Parsvanath. Epigraphic evidences support the jain traditions regarding the existence of shrine dedicated to Parsva at Ahichhatra.

Kampilya (mod. Kampil in Farukhabad dist. U.P.) was intimately connected with Jainism in pre-Gupta period. The city was visited by both Parsva and Mahabira. It was the birth place of thirteenth

Tirthankara Vimala. The fourth Nindhava Asamitta, who flourished in the 3rd century B.C. was associated with this town.

Sankasya (mod. Sankasiya in Farrukhabad dist. U.P.) was the capital of Kusdhvaja Janaka, Sita's parental uncle. It was one of the noted town of pre-Buddhist India. The Theruvali refers to the Sankasiya sakha under Caranagana i.e. Varanagana established in the third century B.C. It proves its relation with the Nirgrantha religion.

Mathura had been a great Jain centre from 2nd century B.C., if not earlier. The account of Fa-hien the Chinese traveller may be mentioned here, "The people of this region killed no living creature, drank no wine and ate no garlic or onion. There were no butchers or wine seller in the market." The account smells of profound Jain influence in this region. The literary texts and a few Jain inscription of that period prove that Mathura retained its popularity as a Jain centre between 600 A.D. and 1000 A.D. (Chatterjee 78) observes that popularity of Jainism gradually diminished with the migration of Jain monks towards Rajasthan, Gujrat and Karnataka. The ruling dynasties of North India did not patronise the Jainism like the three above states.

Several places of modern Uttar Pradesh were directly connected with Jain religion. Devagarh Temple (see Siddhant Bhaskara vol. 8, pg 67-73) in Jhanshi district on the river Betwa may be referred here. It should be noted that Devagarh continues to be a sacred place for the Jain as even to-day.

We find only a few evidences regarding the existences of Jainism in the extreme Northern India, i.e. Punjab, Hariyana, Himachal Pradesh and Kashmir. It was looked upon only as one of the minor religious sect in these states. An inscription (see E.I. vol. 1, p.120) from Kangra, Himachal Pradesh, discloses the names of two Jain saints. We note that one Sravaka Ratna from Kashmir founded a 'Manibimla of Neminatha (see Vividhatirthakalpa, P-9) in 932 A.D. on the sacred hill of Raivataka. A few Svetambara and Digambara Jain images belonging to the 8th century A.D. have been discovered from Punjab (All India Radio news Bulletin, 30-6-75).

West Bengal - Under Mahabira Jainism became one of the major religious sects of Eastern India. Undivided Bengal was one of the greatest centre of Jainism from the days of Mahabira. It was his religious conquest that western Bengal came under the

influence of Jainism. It may be noted that Bengal accepted Jainism before Buddhism as only a few places of this province figure in Pali texts.

According to Kalpasutra (P-264) Mahabira had spent a year of his missionary career in Puniyabhumi which was actually included in Laddha or West Bengal. The Acaranga, a very old text, informs us that Mahabira had visited both western and southern Bengal.

The great Bhadrabahu (4th Century B.C.) who was a Brahmin and the first genuine Jain philosopher, was a native of Northern Bengal.

Among the four Sakhas, originating from Godas, a disciple of Bhadrabahu there are three significant names—Tamraliptika Sakha, Kottvarshiya sakha and Pundravardhaniya sakha (see sacred Book of the East. vol. 22 p. 288). All the three sakhas were evidently connected with the three well known geographical units situated in Bengal. Tamraliptika (modern Tamuluk in Midnapur District) was a port. Here the merchant Tamali Moriyaputta became a Jain recluse during Mahabira's life time (Bhagavati P.572). Kottivarsa, according to Pannapanna, a canonical text was the capital of Laddha country and Pundravardhana was Northern Bengal.

The account of Yuan Chowang shows the tremendous popularity of Jainism in Pundravardhana and Samatata, the two provinces of ancient Bengal. The discovery of a large number of Jain temples and coins particularly from Bankura and Purulia proves the popularity of Jainism in West Bengal during the Pala period. (Banerjee, R.D.).

A copper plate inscription of the Gupta year 159 from Paharpur (Bangladesh) is one of the most interesting Jain records of the Gupta period. This earliest Jain records from Bengal refers to an endowment for the worship of Arhats to a Vihara in Vatagahali near Paharpur.

In Eastern India Jainism maintained its existence till the end of the 10th century A.D. However no Jain inscription has been found from either West Bengal or Bangladesh which can be assigned between 600 A.D. and 1000 A.D. (Chatterjee, 78).

Orissa :- Jainism was probably introduced and popularised in Orissa by zealous Jain monks of Bengal during the closing years of the 5th Century B.C. The Acaranga (P.85) a very old text informs us that Mahabira had visited areas of both Western and

Southern Bengal which were not far from borders of Orissa. The Avasyakaniryukti records that Mahabira more than once had visited Tosali prominent city of Orissa. A large number of inscriptions (Ludes list No.1346, 1348-53) prove that the Jainism was much popular in Orissa. The popularity of Jainism in Kalinga during the days of the Nandas show that even before the birth of the Sakhas and Ganas, the Jain religion made some converts in Orissa and during the rule of Mahameghavahana kings Jainism became the principal religion of Orissa (chatterjee, 78). Some later inscriptions of Udayagiri and Khandagiri cave and a few inscription of 10th and 11th century A.D. prove that Udayagiri and Khandagiri hills remained a popular and favourite place of pilgrimage for the Jain monks (see A.S.I.A.R. 1922-32,P.130).

From Orissa a number of Jain inscriptions belonging to the post Gupta period have been found. We have 7th century inscriptions (Indian Archaeology, 1955) which refers to the installation of Jain images and points to the existence of an early Jain establishment on these hills. These inscriptions discovered from different places in Orissa prove that Jainism continued to flourish in Orissa as late as the 10th century A.D.

Madhya Pradesh : - All the available sources indicate that by the beginning of the 4th century A.D. Jainism became an all India religion. In North India the Svetambar as and in south India Digambaras were predominate. Literary evidences and discovery of a number of Jain sculptures, belonging to the Gupta Period prove the popularity of Jainism in the different places of Madhya Pradesh.

The Vasudevahindi (Part I, P-61) composed in 5th century A.D. refers to the temple to Jiyantasvamin Mahabira at Ujjayini. During the Gupta period Vidisa was strong hold of Jainism and received patronage.

Dasapura (modern Mandsoor, M.P.) also was a strong hold of Jainism. Quite a good number of Svetambara monks of the early 1st century A.D. were connected with Dasapura.

From the well known Jain Temple complex at Sonagiri (Datia district, M.P.) has been discovered an epigraph of the 7th century A.D. which proves the antiquity of the Jain centres. Among the few Jain inscriptions from Madhya Pradesh, the most important is **Khajuraho** inscription (see E.I. vol I. P. 35-36) of

the reign of Chandilla (955 A.D.). This inscription and the beautiful temples at Khajuraho prove the popularity of Jainism in Chandilla Dominion.

The literary sources give us more meaningful and extensive information regarding the state of Jainism in M.P. before 1000 A.D.

There is a mention of a temple dedicated to Parsvanath at **Dhara**, the famous capital of Paramaras in Darsanasara of Devasena, a work of 933 A.D.

Eight Km. from the town of **Barwani** in Madhya Pradesh is **Bawan Gaja** (52 yards) hill, a place of considerable sanctity among the Jains. Its name is devived from the popular ideas or the hight of the Jagantic figure of the Jain teacher Gomateshwar.

Maharashtra :- Quite a few places of modern Maharashtra were connected with Jainism from early times. Most probably Jainism was introduced in Maharashtra by the Mauryan period. Literary and archaeological evidences show that Tagara (modern Ter) was a popular Jain centre in the early century of the Chiristian era. Discovery of Jaina images from Ellora, Pattur of the Gupta period prove that Jainism was slowly emerging as an important religious seat in Maharashtra. Surparaka according to Jaina literary tradition was connected with Jainism. During the rule of the Western Chalukyas and the Rastrakutas Jainism was tremendously popular not only in the lower Deccan but also in the modern Maharashtra state. According to Jinaprabha (P.85) Tirthankara Chandraprabha was worshiped from very early times as Jivitsvamin at **Nasik**. At **Pratisthan** (mod. Paithan) another old city of Maharashtra there was a famous shrine dedicated to Muni Suvrata (Vividhatirthakalpa, P-59).

The popularity of Jainism is proved by the beautiful Jain caves of Ellora, most of which were excavated by 800 A.D. (See the Classical Age P-499). There is a reference to the Sparious Alten Copper Plate discovered from Kolhapur district. The inscription proves the existence of great Jain temple in kolhapur district of Maharashtra in the ancient period.

Gujarat :- Gujarat is not the native place of Jainism. No Jain Tirthankara is known to have been born here. Yet the association of Jainism with Gujrat

is traceable to very early times. Adinath the first of the twenty four Tirthankara is said to have delivered a sermon on Mt. Shatrunjaya (Hema chandra, Trisastisalak Purusacharita, vol. Eng. translated by Bhattacharya, 1931). At Raivataka Neminath, the 22nd Tirthankara renounced the world, obtained omniscience and emancipated together with a large number of sages.

During the historical period the first wave of Jainism seems to have passed over Gujarat in the fourth century B.C., when Bhadrabahu, the head of Jain Sangha visited Girinar, during his migration from Magadha to South. (Jain, K.P. P. 185).

Rsi Gupta, a disciple of Suhastin, originated a number of Sakhas among which the most significant name is that of Saurastrika (sacred Book of the East, P.292). This indicates that before the end of the 3rd century B.C. the Jainism reached country of Gujrat.

Gopani observes that Jainism in Gujarat was prevalent in the 1st century B.C. The popularity of Jainism is indicated by the fact that Vikramaditya, the founder of Vikram era, himself went on pilgrimage to the celebrated Jain site of Shatrunjaya.

Gujarat possesses both the types of Tirthas. Of all the Siddhakshetras enumerated by Hiralal Jain (1962) three, viz. Shatrunjaya, Girinar, and Taranga are located in Gujarat. Except for Bihar no region in India is as rich as Gujarat in so far as the Siddha khetras are concerned (Jain, 1939). These three Tirthas situated on the hill tops and among the midst of the forests became sanctified places and in course of time there were erected temples in honour of the Tirthankaras.

Shatrunjaya, a hill lying beside the town of Palitana in the Bhavanagar district is the holiest Jain Tirtha in Gujarat. It is sacred to the memory of Adinath, who patronised it more than anyother place.

Girinar is one of the most sacred hills of the Jainism lying four miles East of Junagarh, Gujarat. This is the highest hill in Gujarat. **Taranga**, a sacred hill of jainas, is situated 35 miles north east of the Mehsana dist. of Gujarat.

The sites, likely Ghumly, Than, Bhadreshwar, Kanthkot and Vadnagar were important political

centres with Jain temples. Kumbharia, Maini, Sejakpur, Sarotra were noted centres in Gujarat where Jain merchants had erected temples.

Brigukaccha (mod. Broach) one of the oldest port of India was a popular Jain centre in the early centuries of Christian era. In the Gupta period **Vallabhi** became an important centre of Jainism.

Somanath, situated in Jungarh is also a sacred place of Jainism. It is also known as Chandrabhasa. Vallabhi and Srimal were great seat of Jain religion and learning. Srimal was the first capital city of Gujars who gave the name Gujrat to the province.

Rajasthan :- An interesting Sakha connected with a definite geographical name is that of Madhyamika originated from a disciple of Suhastin. The town of Madhyamika is mentioned in the Canonical texts (see Vipaka sutra, Kota, 1935, P.369). Creation of this sakha before the end of 3rd century B.C. proves that Jainism reached Rajasthan before that time.

In 1912, a stone inscription was discovered by G.H.Ojha from Badali, a place in Ajmer district, Rajasthan. According to him inscription should be regarded as old as 400 B.C. On this basis some scholars came to conclusion that Jainism was introduced in Rajasthan before 400 B.C.

The Jain monks of Mathura used to visit Gujrat in early centuries of Christian era, had to pass through Rajasthan. **Abu**, the celebrated Jaina site on Aravali range is situated 18 miles north west of Abu Road in Sirohi district of Rajasthan. It is one of the five most sacred hills of Jainas. From Pindwara (Sirohi distt) was discovered a brass image of Risabhanath with an inscription of Sambat 744 (687 A.D.)

Binamal or Bhinamal (Jalor distt.) capital of Capa dynasty was a great Jain centre from the 7th century if not earlier. Jinaprabha (Vividhatirtha Kalpa P.86) refers to this place as sacred to Mahabira. **Javalipur** (mod. Jalor) was a well known Jain centre. Osia and Ghatiyala inscriptions prove the popularity of Jainism in Jodhpur area of Rajasthan from the days of Vatsraja (2nd half of the 7th century A.D.).

The famous Chitor or Citrafluta the native town of the celebrated Jain Savanta Haribhadra (middle of 8th century A.D.) was a well known Jain centre

of pilgrimage. Epigraph from Rajorgarh (Alwar distt.) with the date V.S. 979 or 925 A.D., discloses the existence of a temple dedicated to Shantinath.

G.H. Ojha, in his monumental work on the history of Rajaputana (vol. II P.428), has referred a large number of Jaina inscription found in different old Jaina temples of Rajasthan. Vividha-tirtha-kalpa of Jinaprabha also mentioned the flourishing state of Jainism in Rajasthan.

Western India :- It may be noted that Jainism succeeded in penetrating into the extreme North West and Western India at a quite early date. According to Bhagavati Mahabira visited sindhu-sauvira. There are definite evidences to show that even in pre-Christian era Jainism became quite popular in Western India.

Takshasila or Taxila one of the greatest city of ancient was associated with Jainism from early days. The Jain literary traditions associate Taxila with Bahubali, a son of Rasabha.

Simhapura (mod. Ketas in the salt range, Punjab, Pakistan) was another Jain centre from early times. According to canonical texts it was the birth place of Sreyansa, the eleventh Tirthankara. It was visited by Yuan Chowang, who saw swetambara Jains there.

The ancient town of Kapisi (mod. Opian in Afghanistan) had a Jain population. It shows that Jainism penetrated this sizeable part of North Western India (original Indian sub-continent included the whole of Afghanistan) in early centuries of Christian era.

According to the Jains the twenty second Tirthankara Neminath Aristnemi was born in western India.

South India :- Regarding the spread of Jainism in different parts of South India, it may be noted that wandering Nirgrantha monks of Bengal and Orissa carried the message of Mahabira to South India specially to the land adjoining the Bay of Bengal within a few decades of the demise of Lord Mahabira. Evidences of Pali texts indicates that Jainism reached the land of Tamils before the end of 4th century B.C.

According to Buddhist Mahavamsa, a work of 5th

Century A.D., the King Pandukabhaya constructed houses and temples for the Nirgrantha ascetics at Anuradhapur (Shree Lanka). This king was placed in the 4th Century B.C. It proves the presence of Jaina ascetics in Shree Lanka as early as fourth Century B.C. It appears that these Jainas migrated to Shree Lanka from Tamil speaking areas of South India. The Digambara Jains of 2nd Century A.D. from North India popularised Jainism in Karnataka (Chatterjee'78).

The Silappadikaram, the most important sangam work from the point of view of Jainism and one of the two Tamil Epics, gives a very valuable account of Jainism in the three Dravidian States of Cola, Pandya and Cera. This work tells us that there were Jain Shrines in the capital of all these three kingdoms. At Kaveripattan, the ancient city of Colas, there was a temple of Nirgrantha (Dikshitar, P-152).

The present Madura District of Tamilnadu was the most important strong hold of Jainism. Maduraikkanchi, a sangam text of great antiquity, gives a beautiful and graphic description of the big Nirgrantha temple of Madura. This Jain temple of Madura city was built at a very high cost. There is an exhaustive list of Jaina sites in Madura district which are mostly on hills.

In the district of Tinnevely, there was an extremely important strong hold of the Jaina religion in a place called 'Kalugamalai' (Desai, p-77). Among the other noted Jaina sites may be mentioned as Patalipura (south Arcot), Colavandipuram (S. Arcot), Panchapandavamalai (N. Arcot). There is a reference of 'Vardhansvara Tirth', a sacred Jain place near Kanchi, named after the last Jain Tirthankara, may be identified with the celebrated Jina-Kanchi.

Jainism was also popular in Kerala. There is reference of Nirgrantha temple in Vanji, which has been identified with a place near Cochin and it was like Madura and Kaveri-Pathanam a very ancient city.

We notice two famous places now included in Karnataka associated with Jainism from early times. One is **Sravanbelgola** (64 Km. north of Mysore city) in Hasan District. It is one of the holiest places of Pilgrimage in south India. Attributed by some to a date as early as 309 B.C., a community of Fugitive Jain settled here, where their leader Bhadrabahu becomes martyred Saint by Starving himself to death.

This assured the sanctity of that place. Sravan-belgola is now a town between the hills Chadrabetta and Indrabetta. It was an ancient seat of Jain religion and learning. The second holy place of Jainism was **Kopana or Kopbal** in the modern Raichar district. A large number of Jaina inscriptions prove that from 7th Century onward this place was a celebrated Jain Tirhta.

Ajjanandi, a great saint of South India, did everything to make his religion popular among the masses. He was responsible for fashioning a number of images in different parts of Southern States of India. His name is mentioned in short epigraphs found from Vallimalai in Chittoor district of Andhra Pradesh, and from Anaimalai, Aivarmalai, Alagarmalai, Karunga, Lak-pudi and Uttampaliyan in Madurai district of Tamilnadu. His name is also found in the natural cavern at Eruvadi in Tinneveli district and near Chitral in Kerala.

So three present states of south India Viz. Andhra Pradesh, Tamilnadu and Kerala were traversed by this great saint Ajjanandi. From Palaeographical consideration he should be placed around 800 A.D. Quite a few other Jain Saints are also mentioned in the epigraphs found from the different Jain sites of South India (Chatterjee'78)

A very good number of places associated with Jainism from the different parts of these states have been discovered. It should be noted that inscriptions discovered from these Jaina holy places are of somewhat later date, mostly after the 7th Century A.D. There is a little doubt that most of these places were centres of Jainism from a much early period. Brahmi inscriptions datable from 3rd Century B.C. and 1st Century A.D. discovered from the hills were connected with Jainism in Tamilnadu and Kerala.

CONCLUSION

The above discussion makes it obvious that Jainism was more popular in Southern states than those of the north with the exception of Gujarat and Rajasthan and a few selected pockets elsewhere, Jainism was fighting loosing ground in North India. In Rajasthan and Gujarat it was because of the enthusiasm of the 'Traders that Jainism managed to retain its hold.' In other parts of India Shavism and Vaishnavism were dominating. In Eastern India the

Palas patronised the Buddhism. In Central India, as Chatterjee(78) observes, Kings and other dynasties did practically nothing to promote and popularise the Jainism. In most part of northern India, the ruling dynasties did never care for the Jainism, Kashmir was a citidal of Shaivas. In Punjab Shaivas and Vaishnavas both were dominating. But the picture was some what different in south India, specially in Karnataka, where the ruling dynastic were active to be friend and popularise Jainism.

SELECTED REFERENCES

1. Banerjee R.D. (1993), *the Age of Imperial Guptas, Banaras, Eastern Indian School of Medieval Sculpture*, P-145.
2. Bhattacharya, H.M. (193), *Trisastisalaka Puruscarita, Eng. Trans, Baroda*, P 356.
3. Chatterjee, A.K. (1978) *Comprehensive History of Jainism Calcutta*, P-92.
4. Desai, M.D. (1933) *Jain Sahityanu Samkshipta Itihas, Bombay*. P-77.
5. E.I. (*Epigraphica Indica*).
6. Gopani, A.S. *Jainism in Gujarat, Bhartiya Vidya, Vol.IX, P-236*.
7. *Indian Archaeology, A Review (1954-55)* P-29.
8. Jain N. (1939) *Jain Itihas ki Purva Pithika, (Hindi), Bombay*, P-116.
9. Jain Hiralal (1962), *Bhartiya Sanskriti Me Jain Dharma Ka Yogadan (Hindi) Bhopal*, P-319-90.
10. Jain K.P. (1943) *Jain Tirtha Aur Unaki Yatra (Hindi), Delhi*, P-2.
11. Jain K.P. *Jain Antiquary, Vol.5, No.3* P-184.
12. Sanghavi, V.A. (1959) *Jain Community a social Survey, Bombay*, P-271.
13. Singh Harihar, (1982) *Jain Temples of Western India, Varanasi*, P-33.
14. A.S.I.A.R.- *Archaeological Survey of India, Annual Report*.

**Assistant Teacher,
Shree Jain Vidyalyaya, Calcutta**

things of luxury or items which were not essential for life, spoil the concentration needed for doing important works. "The fewer these items, the happier the person"- Mr. Raman always preached.

Mr. Raman always kept himself very busy in his job and the share market works. He had virtually no time to visit even his neighbours. Going out for work early and arriving home late was his daily routine.

One day Ms. Raman with Sonu and Monu went to Chawlas, who had joined as Apartment members only a few days ago. Mrs. Chawla was there to treat them well. Sonu and Monu were very happy to get Vicky and Monty as their friends. All were of the same age group, that's why impromptu companionship started. Chawlas were new enough to be fed with venomous rumours against Ramans.

What attracted Mrs. Raman and the children most was the colour photograph of Chawla family. Mrs. Chawla's drawing room was artistically arranged and it seemed to them that every thing in the room was in the best possible position. The attraction towards the photograph was obvious because Ramans had not been photographed for years. Owing to the too thrifty habits of Mr. Raman. They departed after taking a promise from Mrs. Chawla to visit them, too.

Mrs. Raman returned home with a planning shaping in her mind. The plan to have a photograph of her family to be beautifully placed on the refrigerator or on the showcase in their drawing room or on the mantle place so that whenever a visitor arrived he might have a clear glimpse of it. And Mrs. Chawla was due to visit them.

Came evening. Fatigued, Mr. Raman returned home. Wife was trying to be as normal as everyday and served him with usual snacks and tea but the added items were casein sweets. Mr. Raman at first took a glass of water and then proceeded with snacks, sweets and tea.

Mrs. Raman and children flocked near him. In a way they encircled him. By observing the ambience around him Mr. Raman's shrewdness sensed that some sort of new money bill was to be placed before him. His calculative mind had started to work silently..... would it be a demand of a new saree..... a cooking range....., a Cricket bat or a trip to some pleasant haven.

An uneasy calm prevailed. Everybody was to say something but at the same time each was keeping

ALL FOR A PHOTOGRAPH

Mr. Jayraman was the perfect example of miserliness. In the whole of Nagma Apartment, he was a person who was quoted and often misquoted by the colony men and women as an axiom. Let alone elders, even the youngsters did not spare him from soft invectives and innuendoes. Even if Mr. Raman sometimes lovingly distributed chocolates and small gifts to the kids of the colony alongwith his sons, he was dumped as.. " the guy is trying to show off" - as "me, too, don't care a fig about money"!

He had two sons. One was 13 years old and the second one was 12 years old. They too, had company of friends. Sometimes their friends cracked jokes..... "Hey ! Sonu - Monu don't buy kites or buy ice creams, your father will hammer you down. "Sonu - Monu don't do this father will spank you." Their father's nature being what it was they used to find themselves at receiving ends. This problem had no easy proper solution. Any way, life was going on.

It was a fact that Mr. Jayraman was never acrimonious or had any ill will against any of the colony members. In spite of being an executive in a reputed firm and a lucky man to get so many prospective shares of good companies, he maintained a very simple living. Actually he was of view that

his calm. Mr. Raman chose to remain silent and continued sipping his tea. Had it been some other day, Mr. Raman must have started to talk about whole day's proceedings in his office..... what Mohanlal did..... How subramaniam had tiffed with his wife etc.... Today everybody was suppressing his giggle as well as words. Mr. Jayraman was carefully detecting that some sort of mystery that was playing a spell on his wife's as well as his son's faces. Mr. Raman was reluctant to break the ice. In the mean time ten minutes passed off. No body uttered anything. Monu, the younger son, could not keep his reticence long. With a note of suspense he broke the silence..... "Papa, we had been to Chawla aunty's flat today." With this Mrs. Raman's silence, too, was a hit. She started..... "they are very nice people. They know how to receive and respect others. Mrs. Chawla is a sober lady. She has two sons like we have. They are of the age of Sonu and Monu. They are friends now. These boys are well behaved. Any way it is a good sign because the other boys of the complex are under the evil influence of their parents about us."

She went on.... "you know they have a great sense of upkeeping their flat. Actually their drawing room provides a decent taste of a beautiful garden. Their already well decorated flat is beautified by the palm and other indoor plants. What charmed us in their flat most was a beautiful colour photograph of their family." "Yes, Papa, with Mr. & Mrs. Chawla sitting in the middle," Monu added. Mrs. Raman continued, "it was the most beautiful thing we saw. Their photograph was put on a show case. The showcase itself tells the story of their being a cultured family. In showcase, the masterpieces of Rabindra Nath, Premchand, Dickens, Tolstoy, Agnyeya, Prasad and Dinkar were glistening. Mr. Chawla is Head of the Department of English in the Govt. College. Mrs. Chawla, too, is a teacher in the Shiksha Niketan. Their flat was some sort of a paradise of reigning calm and beauty. That's why the flats of others may be more beautiful and lavishly maintained but don't provide the kind of pleasure, we got there."

Mr. Raman listened to his wife and children very patiently. He got a sigh of relief today because everyday he had to listen to whole day's happenings all around Nagma Apartment. For a change, it was a refreshing evening for him. Now Sonu started.... "Papa We, too, want a beautiful colour photograph of ourselves in the drawing room. We

too are planning to shift our showcase in the drawing room." To Mr. Raman, it was now clear, what actually was the reason to have such a big prologue. "Papa, please bring an antique type golden frame so that our photo would be put into it and it will really enhance the beauty of our flat." Mrs. Raman again continued....."you know, it is a modern style to put a picture of the family in the drawing room. I have some books by Shakespeare, Premchand, T.S. Pillai, Subramaniam Bharati and Manto to which I will put in the 1st shelf and in the 2nd shelf religious scriptures would be put. And in the 3rd shelf I would like to display the paintings of Sonu and Your chess trophies. And I hope ours will be much better than Chawlas'. We will get a more beautiful frame for our livelier and more beautiful photo."

As Mr. Raman was a very busy man, he had hardly anytime for other less important works. Actually it was Mrs. Raman who virtually run the house under her directions. For a family photograph he had to go with family to a studio. Every studio opens at 10 O'clock in the morning or after and Mr. Raman had to reach his office at 10 A.M. So there arose a hitch--when to be photographed. A little planning followed. Every one sat for a chat to sort out the hitch. Mr. Raman told, "Look, ... I have absolutely no time to go to a studio." Mrs. Raman said "it is not new, we know it but you have to do it." "Yes, Papa, please manage, don't you want to beautify our flat?"... Sonu added enthusiastically.

15th August was days away. On that day no business establishment opens and that's why Mr. Raman was persuaded to manage to accompany them to studio on that very day.

Now everybody was very happy. Their little but beautiful plan was to be translated into action. In the coming 10 days preparations were being made to rearrange the drawing room. The showcase was repainted to match the colour of the drawing room. The glass doors were crystally cleaned. One day Mrs. Raman went to J.K. AC Market to buy the antique frame. Actually they had not the remotest idea about the cost of the frame. Twenty rupees fell short to actual price because they had chosen the best frame there. Mrs. Raman started regretting for not keeping more money. But Sonu and Monu came to her rescue as it was not her exclusive problem but their too. They had a few notes and some coins which amounted to Rs.24.35. They happily handed over the amount to their mother. Mother and children returned

home happily with the antique frame.

The drawing room was clean enough. The showcase was glistening with some old and new books of literary value. Over it the newly brought frame was awaiting to embrace their photograph. But the fateful day was yet 2 days away.

Came 15th August with the completion of P.M.'s address to the Nation, Raman & Co. started to groom themselves up to set out for a studio. At the bang of 10 O'clock everybody was ready. Ting-Tong-Ting-Tong..... the calling bell banged at the same time. Mrs. Raman started to curse the stranger behind the door as he or she had come to spoil their plan. "After so much deliberations we made a plan but it seems it will not materialise." Mr. Raman cried....."Have you all given up all the sense of courtesy? First see who has come." Monu rushed to open the door in a reaction. It was none other than Vicky and Monty. Actually they had come to wish them as their friends were going to studio. What happened actually in the last 10 days that almost everybody of the Nagma Apartment came to know about the plan of Ramans. Those who were free at the moment were peeping out of their windows to see the old couple of the complex going out side with their sons for the 1st time in many months.

Today, Mr. Raman and his family were in their best looks. They boarded a taxi. It roughly took 12 minutes to reach the destination. Everybody instructed the photographer in his own way. The poor photographer was really confused for the 1st time. Seeing him confused, family members started to discuss the problem for a few minutes. Then the photographer was instructed. This led to double confusion of the photographer about how to take the snap and at which angle that would suit their drawing room. As the photographer had to see his business, too, he started to handle the problem by negotiating in the best possible way. All the four were arranged a little smile and "klick". Now their fate was locked in a piece of film. The day after tomorrow was fixed as the delivery date by the photographer. Before leaving his premises Mrs. Raman continued the instructions now about washing of the film and the paper of the photograph.

The Raman family returned home happily but with an anxiety. Now the topic of discussion was the would be photograph. In the evening Sonu and Monu were elaborately explaining the whole episode to Vicky and

Monty and others too were enjoying. In the evening Mrs. Raman went to Mrs. Chawla and she too explained her the "photograph episode" with what's and how's of the photographer's confusion.

Came the D. Day. Everybody was in suspense. Their suspense could have been compared with the suspense that prevails before the declaration of an exam. result. It was Mr. Raman's duty to bring the photograph this evening after leaving his office.

Whole day passed off anyway with looking at the door and empty frame. Today, when the children had gone to school, Mrs. Raman very laboriously cleaned the flat, as if, some very important guest was to come. She put the table-lamp on the showcase..... to have a look at the photo to be fitted into, in the lamp light.

Ting-Tong-Ting-tong..... sonu - Monu including Mrs. Raman rushed to open the door. The suspense ended. It was Mr. Raman. Six pairs of eyes were staring him in the face with a sense of search. After taking his shoes off, he opened his brief case and handed over the packet to his wife. With a grin she took it and boys glued near her.

"How insensate the photographer is! How ugly we look here ! See, how bad we are looking ! My God! oh! He has really cheated us." that's how Mrs. Raman remarked and it was dittoed by the kids. "Look, it seems we are straight out from the bed with drowsy eyes and unkempt faces," continued Mrs. Raman, "So much time, money and energy lost in it!" Everybody was staring at one copy each with a dejected wry face. Sonu commented----" who is this rustic in my dress? Papa, why did you take it from him?" "You should not have. You should not have to pay a single penny to the fool. Our dream is shattered. You simply had to spank him."

Mr. Raman was looking at them mutely. Mrs. Raman too joined the children and demanded.... "why did you bring the bad photographs here?" "It is a heart-breaking event for us. You simply had to return after snubbing him." "Anjali!" stammered Mr. Raman "You see if I had not brought the photographs you all would blame me so what if it was not good and to the liking.... "you might say, "you had to bring it here because so much preparation had been done for it. "But now that I have brought it you all utter words like these. what I want to say Anjali..... "we have had bad luck. Had it been good we would have been smiling by now. "Anjali, look at Monu. At least he is looking his natural self here.

"yes Papa, "Monu prompted. "Anjali, me too had this idea of not taking the photograph from there, but to quench your curiosity I did pay the remaining amount to the photographer and brought it here. Any way it was bad luck and nothing else." Mr. Raman stated, and felt consoled.

Everybody was still. Sonu and Monu were planning how to tackle the queries of Vicky and Monty about their much publicised photograph. Anjali was deeply thinking about what she would do tomorrow when Mrs. Chawla would come to tea. Ideas of various sorts were juggling in her mind. Mr. Raman was relatively cool but the little shock of losing a hundred bucks in the photograph mis-adventure was surely somewhere casting a lasting spell in his mind.

In the meantime, as if, from nowhere there descended a spider on the antique, the glittering golden dream frame of Ramans and started to spin a complicated comely web of nets all over the frame. Seeing it Mr. Raman and his family started laughing at the bathos of the whole episode. "Nature perhaps abhors Vacuum", Mr. Raman reflected.

**Assistant Teacher,
Shree Jain Vidyalaya, Calcutta**

વિદ્યાર્થી ટ્રાન્ક

कुर्सी

रहिमन कुर्सी राखिए, बिन कुर्सी सब सून,
कुर्सी खातिर हो रहे, बड़ों-बड़ों के खून।
जहां हर कुर्सी पर भ्रष्ट नेता डाले हैं डेरा,
वही अभाग्य भारत देश है मेरा।
जिस भारत में जन्मे गांधी, नेहरू और पटेल,
चल रहा वहां सिर्फ कुर्सी का खेल।
जहां राम और रहीम ने किया वास,
वहीं आज है कुर्सी नेताओं की प्यास।
जिस कुर्सी खातिर नेता मेहनत करते दिन रैन,
वही कुर्सी देती उनको आज दिल का चैन।

कितना सुन्दर, कितना विशाल

कितना सुन्दर कितना विशाल,
यह श्री जैन विद्यालय हमारा।
कितना पावन इसका प्रांगण,
कितना उज्ज्वल है कीर्तिमान ॥
यह निर्भय अचल तपस्वी सा,
यह गौरवपूर्ण मनस्वी सा।
यह ज्ञान-निधान, सुखद, उन्नत,
कर्तव्य पुनीत तपस्वी सा ॥

यह सरस्वती का शुभ मंदिर,
भारत संस्कृति का अमल स्रोत।
निज कर्मशक्ति, निज धर्मभक्ति,
इसके कण-कण में, ओत-प्रोत ॥
कितने वर्षों से छात्रों ने,
पाया है इससे ज्ञान-दान।
कितना विशाल कितना सुन्दर,
यह श्री जैन विद्यालय हमारा ॥
शिक्षक गण जहां सिखाते हैं,
अनुशासन का मूल मंत्र।
होता जिससे जीवन पुनीत,
मन का शासक बन एक तन्त्र ॥
नित नूतन भावों को लेकर,
होते रहते हैं व्याख्यान।
कर्तव्यों पर हम मिट जायें,
रहता सबको यही ध्यान ॥
जलता है जिसका कीर्ति दीप,
है जहां शान्ति जाज्वल्यमान,
कितना सुन्दर कितना विशाल,
यह श्री जैन विद्यालय हमारा ॥

क्यों आज का सच असमान है

देखा था,
इसे पेड़ तले, सड़क किनारे,
दोनों पैर थे बेकार बेचारे,
हाथ थे केवल उसके सहारे।
मांश पेशियों का न था कोई स्थान,
मानो हड्डियों में ही हो बची जान ॥
हो चली थी उम्र उसकी काफी,
हाथ फैलाना ही रह गया था बाकी ॥
सोचता था,
चंद सिक्कों से रहेगा, वह रहा दीन,
कभी मैं ही बदलूंगा, उसके दिन।
फिर भी मन न माना,
कुछ देते रहना ही उचित जाना ॥
पर मुझे थी उस दिन की आस,
जब देने को सब कुछ होगा मेरे पास।
जाता था,
वो करने जो उस सड़क को पार,
तभी पड़ी उसे चलती गाड़ी की मार ॥
छोड़े प्राण और मिली मुक्ति,
यही थी छुटकारे की एकमात्र युक्ति।

टूटा जीवन जो जी रहा था,
सदा के लिए वो छूट गया ॥
मैं तो कुछ न दे सका,
लेने वाला चला गया।
थी वो,
इतनी हल्की लाश, पर
उठा न पाया कोई जिगर ॥
अस्तित्व न उसके जीवन में था,
न ही उसे मरने पर मिला।
क्यों तुम ऐसे लोग बनाते ?
जो जीकर भी कुछ नहीं देख पाते ॥
यह सच है,
न कोई उनका होता है,
न वे किसी के होते हैं।
पर, कोई तो ऐसा होगा,
जिसके वे होते हैं ॥
इनके जीवन के कारण वही तो होते हैं,
आनेवाले कल के कारण यही तो है।
चढ़ते हैं,
आकाश, पैसों से कुछ लोग,
इनको जमीन पर तो रहने का दो भोग।
अपनी दौड़ का, फासलों का,
कुछ तो करो नाप तौल ॥
आज भी लेकिन,
सहारा लेने वाले हाथों की तो कमी नहीं,
देने वालों की जरूर वृद्धि हुई नहीं।
अंत तो सभी का समान है,
फिर क्यों आज का सच असमान है ?

मुझको पास करा दो राम

रात दिवस मैं मेहनत करता,
याद न कुछ मैं कर पाता हूँ।
घोटम-घोट लगाता फिर भी,
भूल सभी कुछ जाता हूँ।
खाना पीना हुआ हराम,
मुझको पास करादो राम।
अंग्रेजी ने आफत कर दी,
बिगड़ गया सब मुंह का स्वाद।
मीनिंग स्पेलिंग रटते-रटते,
आ जाती नानी की याद,
योंही बीती उग्र तमाम,
मुझको पास करा दो राम।
राम-राम कर रटता पोथी,
सुन-सुन श्लोक पक गए कान।
किन्तु सदा अण्डे ही मिलते,
और किरकिरी होती शान।
तुम तो हो विद्या की खान,
मुझको पास करा दो राम।

आधुनिक भारत और संस्कृति

मनुष्य इस धरती पर कब आए, इस बात का कोई सही प्रमाण नहीं है। पर हां, उनका विकास किस प्रकार हुआ, इस बात के प्रमाण हैं।

भारत का अतीत बड़ा ही गौरवशाली और शक्तिशाली था। उस समय भारत ज्ञान, दर्शन-शक्ति और शांति के क्षेत्र में विश्व में सर्वोपरि था। हम महान् थे, हमारा राष्ट्र महान् था, हमारी संस्कृति महान् थी। हमारी एक भाषा थी, एक विचारधारा थी। यह सब हमारे गहने थे, पर धीरे-धीरे न जाने कब और कैसे हमारे ये आभूषण उतरने लगे।

यह हमारी ही सभ्यता के विकास का परिणाम था कि अन्य देश भी सभ्य हुए। पर अब जबकि हमारे आभूषण उतर चुके हैं, इसका श्रेय भी हमीं को जाता है और यह केवल पश्चिमी सभ्यता के कारण हुआ है। यही कारण है कि आज हमारी संस्कृति खतरे में पड़ी है।

अंग्रेजों ने हमें अकर्मण्य, विलासी, भ्रष्ट बनाकर हमारा गौरव हमसे छीन लिया है।

“बड़े गहरे लगे हैं धाव सदियों के मसीहा,
इनको ममता भर के सहलाओ॥”

भारत एक विशाल देश है। अगर हम इसके अतीत को देखेंगे तो हमें यह पता चलेगा कि यह अपने कुछ विशेष गुणों के कारण विश्व में अपना एक विशेष स्थान रखता है। संस्कृति भी इन्हीं गुणों में से एक है। इतिहास के पन्ने उलटने पर हमें यह देखने को मिलता है कि आज तक जितने भी सम्राटों ने इस देश पर शासन किया वे सभी संस्कृति

के प्रेमी थे। मुगल सम्राट अकबर गान-विद्या का प्रेमी था। तानसेन जैसा गायक उसके नवरत्नों में शरीक थे। वह अनपढ़ होकर भी विद्वानों का आदर करता था। सही मायनो में मुगल शासन काल में भारतीय संस्कृति की उन्नति हुई। इसमें किसी को कोई संदेह नहीं हो सकता है। बाबर से लेकर शाहजहां तक हर कोई कवि तथा विद्या का प्रेमी था। इनमें से कोई तो स्वयं लेखक था। मुगल सम्राटों ने अनेक विद्वानों व कवियों को पुरस्कृत किया। इस काल में न केवल उर्दू, फारसी व अरबी की उन्नति हुई, बल्कि उसके साथ-साथ हिन्दी साहित्य की उन्नति भी हुई। मुगल शासक कला-कौशल एवं चित्रकला के भी प्रेमी थे।

परन्तु बड़े दुःख की बात यह है कि जिस भारत की पहचान संस्कृति से होती थी, वही संस्कृति अब धीरे-धीरे नष्ट हो रही है—

“जगे हम, लगे जगाने, विश्व लोक में फैला फिर आलोक,
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।”

जयशंकर जी की इन पंक्तियों से यह बात बिल्कुल साफ है कि हमने ही विश्व को ज्ञान का पाठ पढ़ाया। हम सबसे पहले सभ्य हुए और फिर विश्व के अन्य लोग। पर, आज यह बात कहां। आज तो यह नौबत आ गई है कि हम अपनी संस्कृति को भूलकर उनकी संस्कृति के रंग में रंग गए हैं। पर एक समय तो ऐसा था कि पश्चिमी देशों के लोग हमारी संस्कृति को अपनाते थे और उसका दर्शन करने के लिए दूर-दूर से यहां आते थे। इतिहास गवाह है कि चन्द्रगुप्त के शासन काल में फा-हियान और हर्षवर्द्धन ने काल में हुएन-सांग चीन से भारत चलकर आए। उन्हें क्या गरज थी कि वे भारत आते पर उन्हें हमारी सभ्यता, संस्कृति ने आकर्षित किया था।

पश्चिमी सभ्यता हमारे जीवन में इस तरह घुल गई है कि हम यह बात सोच तक नहीं सकते। हमारे रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान आदि सभी क्षेत्रों में बदलाव आया। जहां हम धोती, कुर्ता या कुरता-पजामा पहनते थे, वहीं आजकल पैन्ट-शर्ट पहनने लगे। जहां हम सुप्रभात कहते थे वहीं ‘गुडमॉर्निंग’ कहने लगे। आखिर यह सब क्या है? यह हमारी संस्कृति का पतन ही तो है।

चलचित्र हमारे मनोरंजन के साधनों में से एक है, पर यह भी भ्रष्ट हो गया। अर्थात् यह हमारी संस्कृति को खोखला कर रहा है। एक जमाना था, जब मनोरंजन का साधन नाटक-नौटंकी हुआ करती थी। पर अब यह सब कहां, क्योंकि अब हमें ये रुचिकर नहीं लगते। उनका स्थान अब चित्रपट अथवा सिनेमा ने ले लिया है। पर इस क्षेत्र में भी भ्रष्टता आ गई है और अब ये पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित होने लगे हैं। आजकल जितने भी चित्र तैयार हो रहे हैं, वे अधिकतर प्रेम और वासनामय हैं। इस प्रकार भारतवर्ष में तो इसके दुरुपयोग की चरम-सीमा हो गई है। सिनेमा आज मनोरंजन का साधन न होकर व्यसन बन गया है और आए दिन उसका दुष्परिणाम देखने को मिलता है। आधुनिक काल में नवयुवकों के चारित्रिक पतन का अधिकांश उत्तरदायित्व सिनेमा पर ही है। अधिकतर फिल्मों के कथानक भेदे तथा शृंगार से परिपूर्ण

होते हैं। वे हमारे समाज के सामने अनुचित आदर्श प्रस्तुत करते हैं। प्रेम जैसे शुद्ध तथा दिव्य भाव को कुत्सित वासना के रूप में प्रचलित करके चलचित्रों ने हमारा घोर पतन किया है।

हमारे समाज में गुरु को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। वह अपने शिष्य के मार्गदर्शक होते हैं। उन्हीं की कृपा से भक्त ईश्वर के दर्शन करता है। कबीर ने गुरु को गोविन्द से बड़ा माना है—

“गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लांगू पाय।

बलिहारी गुरु आपकी, गोविंद दियो बताय ॥”

कबीर का यह भी कहना था कि शरीर विष की लता है, गुरु अमृत की खान है, प्राण देकर भी गुरु को प्राप्त करना चाहिए—

“यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।

सीस दिए जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान ॥”

पर आज के इस युग में यह आदर्श कहां। न जाने आजकल के छात्र अपने गुरु का आदर क्यों नहीं करते। हमारे ये सब आदर्श धरे

के धरे रह गए। यह हमारे विचारों का पतन है, जिसका सीधा असर हमारी संस्कृति पर पड़ रहा है। हमें चाहिए कि हम अपने उन आदर्शों को पुनः जाग्रत करें और उसी राह पर चलें।

वर्तमान युग में भारतीय संस्कृति अब धीरे-धीरे दम तोड़ रही है। इसके लिए सरकार, शिक्षक तथा छात्र समाज ही उत्तरदायी है। शिक्षकों का यह दायित्व बनता है कि वे छात्र वर्ग को भारतीय संस्कृति के बारे में बताएं। हमें अपने बुजुर्गों से मिली इस अनमोल विरासत को बचाना है। क्योंकि भारत की पहचान उसकी संस्कृति से होती है। अगर हम अपनी संस्कृति को बचाने में कामयाब हो गए तो माखनलाल चतुर्वेदी की ये पंक्तियां बिल्कुल सार्थक साबित होंगी—

“गई सदियां कि यह बहती रही गंगा
गनीमत है कि तुमने मोड़ दी धारा।”

नाम मेरा छप जाए

पढ़ने वालों पढ़ो ध्यान से, छोटा सा किस्सा मेरा,
एक कहानी लिखने की आफत ने मुझको घेरा।

रात दिन में यही रहा सोचता, कोई कहानी बन जाए,
“जैन विद्यालय की पत्रिका” में बस नाम मेरा छप जाए।

तैयार हुआ, लिखने बैठा, चेताया भावों को मैंने,
कितने ही कागज रंग डाले परन्तु पड़े लेने के देने।

फिर सोचा यदि कहानी नहीं, कोई कविता छप जाए,
नई पुरानी जैसी भी हो, बस नाम मेरा छप जाए।

कठिन परिश्रम करने पर भी उद्गार नहीं अभिव्यक्त हुए,
हिन्दी सम्पादक के पास गया जब, सभी हौसले पस्त हुए।

हाथ जोड़कर विनती की उनसे, बस एक दया मुझ पे करना,
कविता मेरी छपे न छपे, बस नाम मेरा छपवा देना।

आकांक्षा तथा पुरुषार्थ

मनुष्य को परिस्थितियों की प्रतिकूलता और साधनों की कमी के कारण निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रगति की नींव दशाओं और साधनों पर निर्भर नहीं करती है। उसकी नींव है मनुष्य की प्रबल आकांक्षा और अनुकूल पुरुषार्थ। जिसके पास ये दो साधन हैं उसकी प्रगति को कोई अवरुद्ध नहीं कर सकता। लालसा और आकांक्षा में बड़ा अन्तर होता है। लालसा एक ज्वार की लहर की तरह होती है जो कुछ समय के पश्चात् विलीन हो जाती है। इससे यह आभास होता है कि लालसा का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। आई और गई, यही लालसा की गति होती है। निष्ठा और लगन भी नहीं होती है। लेकिन पवित्र और सत्य आकांक्षा एक व्रत के समान होती है जिसमें दृढ़ता और लगन होती है और इसका रूप एक होता है तथा लक्ष्य भी एक होता है। सच्ची आकांक्षा का व्यक्ति अपनी शक्ति, साधन का उपयोग एक निश्चित पथ की ओर करता है।

आज यदि विद्वान् बनने की इच्छा होती है लेकिन कल व्यापारी बनने की, कभी साधु बनने की और कभी नेता बनने की, कभी डाक्टर बनने की और कभी समाज सेवी बनने की तो समझना चाहिए कि उसके दिल में किसी विषय के प्रति सच्ची आकांक्षा नहीं है। इस तरह की इच्छाओं और अभिलाषाओं से कोई उन्नति नहीं होती है।

किसी एक विषय में सराहनीय प्रगति के लिए मनुष्य को सारी जिन्दगी लगा देनी पड़ती है। उसे अनेक इच्छाओं को खत्म करके किसी एक विषय पर अपनी सारी शक्ति को केन्द्रित कर देनी चाहिए। आकांक्षा

के पक्की हो जाने के बाद उसकी सफलता का पथ और प्रयत्न शुरू होता है। एक निश्चित पथ के होने से उसमें बुद्धि, बल, ज्ञान, अनुभव, तत्परता का बोध होता है जिससे प्रगति की सफलता के रास्ते में रुकावट नहीं आती है। धीरे-धीरे प्रगति होने लगेगी और अभीप्सित लक्ष्य समीप आने लगेगा। यदि इसके विपरीत परिश्रम और पुरुषार्थ की कमी रही तो उन्नति का रास्ता अवरुद्ध होकर जीवन को असफल बना देता है। इसलिए किसी विद्वान ने कहा है कि लक्ष्य की सफलता पुरुषार्थ पर ही निर्भर है। लेकिन तब, जब उसके लिए पूरा पुरुषार्थ किया जावे। अधूरे पुरुषार्थ से समय की बर्बादी होती है एवं जीवन में असफलता हाथ लगती है। अधूरे पुरुषार्थ के अनेक कारण हैं जैसे शारीरिक कमजोरी, मानसिक कमजोरी, आलस्य, अज्ञानता, समय का मूल्य न समझना, अनियमितता आदि। इस प्रकार की कमजोरियों एवं कमियों को दूर करने का एक ही उपाय है, कुछ समय तक मन को नियमपूर्वक काम में लगाये रखा जाय। एक क्षण भी उसे खाली न रहने दिया जाय। आलस्य की बढ़ोत्तरी आराम द्वारा होती है। मनुष्य जितना अधिक आराम करता है उतना ही आलसी होता है। शक्ति, उत्साह आराम करने से नहीं बल्कि परिश्रम करने से प्राप्त होता है। परिश्रम में स्वस्थता का गुण निहित है। पर्याप्त परिश्रम और सही विश्राम जीवन की सफलता का मूलमंत्र है जिसके द्वारा मनुष्य किसी भी लक्ष्य को सरलतापूर्वक पा सकता है।

ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो शरीर से पूरी तरह स्वस्थ होते हैं, लेकिन पुरुषार्थ पूरा नहीं कर पाते हैं तथा अपने को उचित ठहराते हुए लम्बी-लम्बी बातें करते रहते हैं। वास्तव में ऐसे सब कामचोर हैं। कुछ ऐसे भी कामचोर होते हैं जो अपनी कमियों को दूसरों पर थोपा करते हैं और जो अपनी बात करने की पटुता से लोगों को लुभाया करते हैं। ऐसे निकम्मे और कामचोर लोग पृथ्वी पर भार स्वरूप हैं।

मानव जीवन बहुत ही मूल्यवान है और उसकी सही उपयोगिता उससे भी मूल्यवान है। इन्सान को ऐसे पथ का पथिक होना अति आवश्यक है, जिससे मानव, समाज तथा देश को लाभ मिले। इसके लिए शारीरिक, मानसिक कमजोरियों पर विजय प्राप्त कर महान पुरुषार्थ करना बहुत ही आवश्यक है। मनुष्य अपने जीवन में जैसा प्रयत्न करता है उसी प्रकार के फल का वह सच्चा हकदार भी होता है। प्रगति के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ने के लिए अदम्य आकांक्षा और पुरुषार्थ का होना आवश्यक है।

क्या इसीलिए उन्होंने आजादी को साकार किया ?

क्या इसीलिए उन्होंने,
आजादी को साकार किया कि—
अभिनेता को मिले नेता की पदवी,
और नेता को नट की,
घोटाले पर ब्रह्म घोटाला,
उस पर भी कमी नहीं है,
लूट-पाट और घूसखोरी की,
धर्म का मंत्र लोगों में फूँके, पर
खुद फूँके चरस, अफीम और गांजा,
नेता चिपक रहे हैं कुर्सी से,
जैसे दीमक चिपके लकड़ी से,
गांधी के प्रजातंत्र पर,
आज राज है गुंडों का,
हैं आज के नेता यह कहते फिरते—
“सर झुका सकते हैं लेकिन
सर कटा सकते नहीं”,
देश-प्रेम का भाव गया—
मिट्टी के भावों में बिक,
कहीं बोफोर्स तो कहीं,
और घोटाले, पता नहीं
इनकी संरचना करने—
वाला कहां छुपा है बैठा,
जिससे पूछो एक ही बात,
है दोहराता - “आगे-आगे
देखिये होता है क्या ?

person that what actually it is, what are the factors which led to it? What is the mode of treatment? So in a brief, in a lay man's language, It is the injury to the walls of heart due to lack of nutrients via the blood supplying to its walls. It is not the blockage of valve which what non-medical person usually interprete.

There are various factors which led to Heart attack—.

1. Strong Family History of Ischaemic Heart disease i.e. both parents or any other blood relation have heart problem. That's why a person having no risk factor develops at the young age Heart Attack.
2. Diabetes - In the world of stress and strain. Diabetes is no more a word of past lack of physical activity, increased mental stress and various other factors leading to development of diabetes which both directly and indirectly damages the Heart.
3. High Blood Pressure - It also effect heart by increasing its wall thickness and its enlargement.
4. Obesity - Obesity has got many hazard out of which one important is heart problem.
5. High Cholestrol and Tri Glecride (TGL).
6. Smoking.
7. Alcohol and various other factors.

Now regarding treatment part there are two mode — Medical, Surgical

Initially it is treated medically. Now a days mass formulating for Throumbolysis within 4-6 hrs of Heart Attack are available which gives very good result's like streptotanas Urotrinase tp A etc. Oral Medication. But very important factor in personal care in the form of changing life style - physical active Diet restricting, avoid spices fow, smoking Alcohol reduce body upto control of risk factor like Diabetes, High BP. Regular medical follow up & timely medicating. If one follow the normas properly he can be as much good by any means as before Heart Attack.

Don't be afraid of Heart attack, say Good-bye to Heart attack by your personal attention to your own health.

HEART ATTACK

At this stage when we are proceeding towards 21st Century, Medical Science is changing just like a day-to-day fashion. Today the Medical science has reached a new era, things are changing so fast that to keep pore with it becoming very very difficult. In this setting one has to be very dedicated and hard working to understand the update technology.

Heart Attack so common a word everybody had heard. But question comes in the mind of our medical

Ex-Student
Shree Jain Vidyalaya, Calcutta

□ Dr. Subhash Dugar

Its location is very near the 2nd Hooghly Bridge at 493-B G.T. Road (South), Howrah 711102 in sixtythree kathas of land.

In the first phase of this well equipped hospital we are planning to introduce Medical, Surgical Gynaecological, I.C.C.U. Paediatric, Neonates, Eye, ENT and Dental wards. Other than this, a space for Artificial limbs will also be provided. It will have both Indoor and Out-door departments along with that modern update investigation facility with well spacious area to cover at very reasonable prices. In Paediatric ward we are also planning to keep a separate neonatology ward with Incubatory facility. I.C.C.U. will also be equipped with update technology and want to govern it by trained medical and paramedical staff.

In investigation departments we will have X-Rays, Computerised pathology, Sonography, Echocardiography, Tread Mill, Holter Monitoring etc. Our motto will be to keep the Quality as perfect as Comparable to any other hospital of repute.

We will also have our own laundry, kitchen, one medical shop in the campus with round the clock facility.

In eye department there is a plan to install Infra Ocular lenses and Leser rays - which is the need of environment. Regarding operation theatre it will be one of its kind and equipped with life saving instruments. There will be two O.T. and one side O.T. All the equipments and machines will be installed of seasoned and time tested quality.

In the second phase we are planning to introduce the cardiothoracic Bypass Unit which will be possible by every body's joint effort

Keep your eyes open as we are landing with such a big project that will require as assistance from you from all corners and we expect that to materialise the dream everybody will keep keen interest in it. So we can say that we have our own Big Hospital with purely a home like environment.

SHREE JAIN HOSPITAL AND RESEARCH CENTRE

It was a dream of Shree shwetambar sthanakvasi Jain Sahha to have its own hospital meant to serve the mankind. Things seems that dream is coming into a reality. It is launching a multipurpose charitable hospital to serve the suffering patients.

**Ex Student,
Shree Jain Vidyalaya, Calcutta.**

आदि गुणों को समेट लेता है। हमारे ज्ञान, कर्म और शक्ति तीनों ही उपासना-पथ इसका जयघोष करते सुने जाते हैं। सदैव सदाचार करना, हिंसा न करना, सत्यवादी होना आदि बातें इसके लिए अपेक्षित हैं। जीवन में संयम और नियम पालन भारतीय संस्कृति की विशेषता है। इसके लिए त्याग की आवश्यकता है। राम का राजत्याग और बापू का सर्वस्व त्याग विश्व संस्कृति की अमर प्रकाश किरणें हैं। दर्शन के अतिरिक्त भाषा, साहित्य और कला की दृष्टि से भारतीय संस्कृति का अपना विशिष्ट महत्व है। भारतीय कला और साहित्य भारतीय संस्कृति का गौरव है। अजन्ता तथा एलोरा की चित्रकला विश्व के कलाकारों की साधना का विषय बनी है। खजुराहो के मन्दिर, दक्षिण भारत के अनेक मठ, प्रणय का साकार स्वरूप ताजमहल इसके प्रमाण हैं परन्तु आजादी के बाद हमारी भारतीय संस्कृति में कमी और दरारें पड़ने लगी हैं। इस दरार और कमी का कारण बढ़ती हुई पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति है। अंग्रेजों के भारत आगमन ने प्रथम तो भारतीयों को प्रभावित किया और फिर हमारे देश को पाश्चात्य प्रभाव से पूरा ढक दिया और अब तो हम उनकी संस्कृति, सभ्यता, भाषा, वेषभूषा, खान-पान तथा शिक्षा को अपनाने में श्रेय समझते हैं। अपनी भारतीयता का हमारे लिए कोई अस्तित्व ही जैसे नहीं रहा।

भारतीय संस्कृति संकट की ओर

“संस्कृति” शब्द जब हमारे कानों तक पहुंचता है तब हमारा काल्पनिक दिमाग हजारों वर्ष पूर्व चला जाता है और हमारे देश की संस्कृति को देखकर नतमस्तक हो जाता है। मानव मस्तिष्क जीवन में सदैव नये साधनों की सहायता से गतिशील रहा है। इतिहास इस बात का गवाह है कि किस प्रकार उसने प्रकृति के उलझे हुए वातावरण में अपना एक स्थाई स्थान बनाया है। जब मानव को अपने अस्तित्व का ज्ञान हुआ तब उसने धर्म, शिष्टाचार और कला का क्षेत्र चुना। रोम और यूनान की संस्कृति की तरह हमारे देश की संस्कृति का नाम अमर है। संस्कृति ही एक उन्नत देश का मेरूदण्ड है जिसके बिना किसी भी देश का अस्तित्व टिक नहीं सकता। संस्कृति का एक अलग महत्व है जिसके बल पर एक देश गर्व से अपना सर उठा सकता है। भारत अपनी सभ्यता और संस्कृति के लिए हमेशा से प्रसिद्ध रहा है। भारतीय लोग अपनी सभ्यता और संस्कृति के लिए विश्व भर में जाने जाते हैं। इस दैव संस्कृति के समक्ष विश्व की आत्मा सदैव झुकी रही है। इसी संस्कृति के अमर नायक राम, कृष्ण और बापू के चरित्र भूतल पर अनुकरण के विषय बने हैं। यों तो विभिन्न राष्ट्रों की अपनी संस्कृति है फिर भी एक ऐसी अदृश्य ताकत है जो समस्त मानव जाति को एक सूत्र में पिरोये रखती है और यही भारतीय संस्कृति की विशेषता है। युगों के पश्चात् भी भारतीय संस्कृति सबसे पृथक् दिखाई पड़ती है।

भारतीय जीवन की प्रमुख धूरी धर्म है जो अपने व्यापक अर्थ में सांसारिक आचार-विचार, ज्ञान-पिपासा, गुण-प्राप्ति और सत्यानुसरण

भौतिकवाद की चकाचौंध ने हमारे आत्मवाद को खो दिया है। आज हम एक अन्धे की तरह इस संस्कृति को अपनाते चले जा रहे हैं। विदेशी यहां अध्यात्म विद्या की शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। फिर विदेशी धन अपहरण के उद्देश्य से यहां आते थे और अपार धनराशि लेकर चले जाते, फिर भी यह कुबेरपुरी मणि-ज्योति की तरह जगमगाती रहती थी। परन्तु आज यह सब कल्पना लगता है। हमने स्वयं अपनी सम्पत्ति को लुटाकर भीख मांगने में ही गौरव समझा है। हमने स्वयं अपने हाथों से पैरों पर कुल्हाड़ी मारी है। हम देश द्रोही हैं, आत्महंता हैं। पहले के जमाने में एक का सुख-दुख सबका सुख-दुख होता था। एक का अपमान होता था तब हम सब प्राणों को हथेली पर लेकर आत्मसम्मान की रक्षा के लिए दौड़ पड़ते थे पर आज सब मतलबी और स्वार्थी हो गए हैं। यह हमारी सभ्यता और संस्कृति के खिलाफ है।

यहां अंग्रेज लूटपाट की दृष्टि से आये लेकिन अपनी राजनीतिक कुशलता से शासक बन बैठे। जो लोग उनके अनुकूल स्वयं को ढाल सके उन्हें नौकरियां मिलीं और स्वदेश के आत्मसम्मान के लिए प्राणों की बलि चढ़ाने के लिए तैयार थे उन्हें नारकीय यातना सहन करने के लिए विवश किया गया। फलस्वरूप देश की अधिकांश जनता पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की अंधभक्त हो गई। अंग्रेजी शासन के आगे भारतीयों को झुकना पड़ा। देववाणी संस्कृत का स्थान अंग्रेजी लेने लगी और पारस्परिक स्नेह सहानुभूति के स्थान पर द्वेष, पाखण्ड, छल, कपट आदि स्थापित हो गये हैं। आज भारतीय जीवन का कण-कण इन पाश्चात्य प्रभावों से ओतप्रोत है। जीवन में धर्म नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह

गई है। अपने धर्म ग्रन्थ हमें असभ्य और अविकसित मानव-दिमाग की कल्पना प्रतीत होते हैं। हम देवालियों में जाना अपमान समझते हैं क्योंकि वहां जूते खोलने होंगे, नतमस्तक होने से सम्भव है पैण्ट की क्रीज बिगड़ जाये लेकिन गिरजाघरों में जाकर खड़े होना आदर्श मानते हैं। पाश्चात्य वेश-भूषा, खान-पान और रहन-सहन को हम सभ्यता का प्रतीक मानते हैं। संस्कृत और हिन्दी बोलना तो हेय समझा जाता है और अपनी नववधू के हाथों में हाथ डालकर सार्वजनिक स्थानों पर घूमना, होटलों में खाना और निर्लज्ज आचरण करना ही आधुनिकता का पर्याय है। धोती कुरता के प्रति हमारा ममत्व नहीं है। दूध, घी का प्रयोग पाश्चात्य पदार्थों के आगे आज फीका है। मां-बाप के प्रति हमारा कोई कर्तव्य रह गया है और न गुरु के प्रति श्रद्धा। न कहीं आत्मा में स्वाभिमान है और न शरीर में शक्ति और सौन्दर्य।

जिस भारतीय संगीत में माधुर्य मिठास और कर्ण प्रिय स्वर थे उन्हें भुला दिया है। जिस संगीत को सुनकर दुनिया के हजारों लोग मुग्ध हो जाते थे, भगवान तक नतमस्तक हो जाते थे उसे आज पाश्चात्य रेप संगीत ने ध्वस्त कर दिया है। आज लोग पूहड़ और बिना अर्थ के गानों पर थिरका करते हैं। माइकल जैक्सन आज नौजवान संगीत

प्रेमियों का भगवान माना जाता है। हमारे भारतीय गायक जिनके स्वरों में इतनी मिठास थी कि जंगल के प्राणी तक खिंचे चले आते थे उन्हें आज भुला ही दिया गया है। न केवल पुरुष, बल्कि भारतीय नारियां भी इस प्रवाह में बहकर अपने कर्तव्य को भूल रही हैं। समानाधिकार की आंधी ने उनसे उनका नारीत्व छीन लिया है। न कहीं मातृत्व रह गया है और न कहीं पातिव्रत धर्म। पश्चिम की नारी की भांति आज भारतीय नारी भी गृहिणी के उत्कृष्ट आसन को ठुकराकर स्वच्छन्दता अपना रही है। गृहकार्य उसके लिए अशिक्षिताओं का कर्म काण्ड है। लज्जा जो भारतीय नारी का कवच था आज मखौल की वस्तु बन गया है। आज दूरदर्शन के माध्यम से संस्कृति प्रधान इस देश में कितनी अदूरदर्शिता का प्रदर्शन हो रहा है। और हम सभ्यता से असभ्यता की ओर निरन्तर बढ़ रहे हैं।

आजादी की 47 वर्ष गांठ मनाकर भी हम पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता के गहरे दलदल में फंस गये हैं। अतः हम सबका कर्तव्य है कि इस बढ़ती हुई पाश्चात्य सभ्यता के वेग को अपनी पूरी शक्ति से रोककर राष्ट्र की भावी प्रगति का मार्ग प्रशस्त करें, जिससे विश्व के कल्याण का द्वार उन्मुक्त हो सके।

दहेज समाज का अभिशाप

आज समाज में हर वर्ग का व्यक्ति दहेज के बोझ से दबा हुआ है। समाज शिक्षित एवं सभ्य होते हुए सारी समस्याओं से अवगत होते हुए भी दहेज जैसे रोग को बढ़ावा दे रहा है जो बड़े शर्म की बात है। इससे भी ज्यादा शर्म की बात तो यह है कि बाप अपने बेटे की कीमत लेकर उसे बेच देते हैं। बेटा एक चेक है, बेटा बाप के हाथ की कठपुतली है। जब चाहा, जिधर चाहा बेच दिया गया फिर चेक जमा करवा लिया। जिस दिन बेटा इस बात को समझ जायेगा उस दिन बाप की झूठी शान और इज्जत मिट्टी में मिल जायेगी। एक बाप को इस तथ्य से डरना चाहिए कि उसके भी बेटा है। हमें भी अपनी बेटा के लिए एक योग्य वर का चुनाव करना है। और उसके लिए जिन्दगी भर की कमाई पल भर में गंवा देना है। जो बाप जिन्दगी भर की कमाई अपने बच्चों की परवरिश, पढ़ाई-लिखाई पर खर्च कर देता है, जिसने अपनी जिन्दगी में कभी सुख और आराम का मुंह तक नहीं देखा वह व्यक्ति सोचता है कि हमने अपने बच्चों की जिन्दगी बना दी तकलीफ करके और अब मैं आराम की मौत मरूंगा, मेरे बच्चे सभी सुखी हैं। लेकिन यह सोचना सरासर मूर्खता है क्योंकि आपके बच्चे सुखी नहीं रह सकते। क्योंकि आपके बच्चे का भी बच्चा होगा और वह भी उसी तरह से जिन्दगी भर की कमाई को दहेज में गंवा देगा। अगर समाज अपने बच्चों को सुखी देखना चाहता है तो दहेज जैसे सामाजिक रोग का इलाज करके खत्म करना होगा। अगर वे इसे खत्म न करके बढ़ावा देते हैं तो वे समाज के सबसे बड़े दुश्मन हैं। दहेज

को खत्म करने के लिए युवकों और युवतियों दोनों का एक साथ मंच पर आना जरूरी है। एक बाप अपने बेटे की कीमत लगाकर उसे बेच देता है। लड़के फिर भी शान से सिर उठाकर चलते हैं। जबकि वह एक बिका हुआ माल है।

बाप बेटे को पढ़ाता-लिखाता है। बड़ा करता है जब उसकी शादी का समय आता है उसे पैसे के सामने छोटा करके एक पति बनने के लिए बेच देता है। जिस तरह गाय का बछड़ा जब छोटा होता है तो किसान उसे खिला-पिलाकर बड़ा करता है, बछड़ा जब खेत जोतने लायक होता है तो उसे अच्छी कीमत पर बेच देता है। समाज बेटे और बछड़े को एक ही निगाह से देखता है। जब बछड़ा बिक जाता है तो पुराने मालिक का कोई अधिकार नहीं होता है। ठीक उसी तरह जब लड़का बिक जाता है, तो बाप का कोई अधिकार नहीं रह जाता है। शराफत तो उन लड़कियों की मानिये जो अपने लिए खरीदे गये खिलौने को अपने घर में न रखकर खुद उस गुलाम के घर जाकर उसकी इज्जत की रक्षा करती हैं।

लड़का जानता है कि हमारे पिताजी गुनहगार हैं लेकिन भारतीय संस्कृति में पला हुआ लड़का बोल नहीं पाता है। अब यह जरूरी है कि वह अपने पिता के विचारों का विरोध करे। घर में जब लड़का पैदा होता है तो बाप बहुत खुश नजर आता है और दैवयोग से कहीं लड़की पैदा हो गई तो सारे खर्च में कटौती कर उसके दहेज के लिए रकम जमा करने में जुट जाता है। समाज लड़कियों को नीची दृष्टि से देखने लगता है।

भारतीय नारी आबारा नालायक पति को भी सत्यवान मानकर उसे पूजती है। वह दहेज लोभी समाज को बढ़ावा दे रही है। अगर वह खुश रहना चाहती है तो खुलकर कहे कि मुझे पति की जरूरत है जिन्दगी के लिए किसी गुलामी के लिए नहीं। जिस दिन लड़कियां जागरूक होकर दहेज के विरोध में सड़कों पर उतरेंगी उस समय पुरुष वर्ग का सिर शर्म से झुक जाएगा। वे अपने वर का चुनाव अपने तरीके से करेंगी तथा दहेज लोभी को ठुकरावेंगी। दहेज प्रथा को खत्म करने के लिए हर छात्र-छात्रा को एक जुट होकर लड़ना होगा। जब तक छात्र-छात्राएं दहेज का विरोध नहीं करेंगे तब वह खत्म नहीं होगा।

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति के बारे में विचार करते वक्त अवश्य ही हमारे मन में यह बात आती है कि संस्कृति आखिरकार कौन-सी वस्तु है। सभ्यता और संस्कृति ये दो शब्द आज सभी लोगों के होठों पर नाचते रहते हैं। इस प्रश्न पर संसार के प्रायः सभी महान् विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है और निष्कर्ष प्रस्तुत किया।

एक ख्याति प्राप्त विचारक के अनुसार, संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं, उनसे अपने आप को परिचित करना ही संस्कृति को जानना है। एक अन्य महान् विचारक ने कहा है कि संस्कृति, शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास या उससे उत्पन्न अवस्था है। यह मन, आचार की परिष्कृति एवं शुद्धि है। एक अन्य परिभाषा के अनुसार सभ्यता के भीतर प्रकाशित हो उठना ही संस्कृति है। पर सच्चाई तो यह है कि हम संस्कृति की कोई परिभाषा नहीं दे सकते यद्यपि उसके लक्षणों को अवश्य पहचान लेते हैं।

इस दृष्टिकोण से सभ्यता वह वस्तु है जो कि हमारे पास है और संस्कृति वह गुण विशेष है जो कि हममें व्याप्त है। हमारे दैनिक उपयोग के पदार्थ तो हमारी सभ्यता की पहचान हैं पर उनके उपयोग की जो कला है, वही संस्कृति है। पर वस्तुएं ही संस्कृति की निशानी नहीं हैं। अच्छे वस्त्रों को धारण करने वाला आदमी भी तबीयत से नंगा हो सकता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रत्येक सुसभ्य मनुष्य सुसंस्कृत भी होगा। ठीक इसके विपरीत फटेहाल रहने वाला आदमी भी संस्कृति का निर्माता हो सकता है। भारतीय ऋषि, मुनि

इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

यहां हमें भारतीय संस्कृति पर विचार करना है। भारतीय संस्कृति की आलोचना करते हुए प्रायः हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति तथा ईसाई संस्कृति की चर्चा की जाती है। पर सच्चाई तो यह है कि भारतीय संस्कृति किसी जाति विशेष की देन न होकर तमाम जातियों का अंश दान है जो समय-समय पर बाहर से आती गई और अपने विचारों और भावनाओं के साथ इसका अंग बन गई। भारत में मंगोल, शक, हूण, तुर्क आदि अनेक जातियां आईं और सब कुछ भुलाकर एकमात्र भारतवासी हो गईं। उनके रक्त सम्मिश्रण और विचार-मंथन से जो संस्कृति बनी वह न तो मंगोल है, न तुर्क है और न शक है। आज भारत में तुर्क हैं, आर्य हैं, द्रविड़ हैं, मंगोल हैं और इस प्रकार विश्व की अनेक जातियां यहां पाई जाती हैं।

भारतीय संस्कृति का निर्माण प्रायः उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार मधु का निर्माण होता है। मधु का निर्माण मधुमक्खियां विभिन्न फूलों के रस से करती हैं और सभी फूलों का रस मिलकर मधु बनता है। उस मधु में कोई फूल विशेष अपना छाप नहीं छोड़ता है। ठीक इसी प्रकार भारतीय संस्कृति रूपी मधु अनेक जातियों रूपी फूलों के विचारों रूपी रस के मिश्रण से बनी है। इसमें अन्य संस्कृतियों का मेल गंगा में अन्य नदियों के मेल की भांति है।

भारतीय संस्कृति की धारा अति प्राचीन काल से बहती आ रही है। हम इसके प्रशंसक हैं। इसके जीवन तत्वों को अपनोकर हम स्वतंत्र भारत को विश्व में सम्मानपूर्ण स्थान दिला सकते हैं।

प्रारम्भ से लेकर आज तक भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी अहिंसाप्रियता। मानव को जीतने का अर्थ उसे पशुबल से पराजित करना नहीं है, बल्कि उसके हृदय पर अधिकार करना है। भारतीय संस्कृति में आत्म-रक्षा के लिए तलवार उठाना हिंसा नहीं माना गया है। भारतीय संस्कृति ने बहुत अधिक मूल्य चुकाकर भी अपनी इस विशेषता को धारण किया है।

रक्त सम्मिश्रण और सांस्कृतिक समन्वय यहां की दूसरी विशेषता है। संसार में समस्त मानव जाति श्वेत, पीत, कृष्ण आदि रंगों में बंटी हुई है। इन रंगों का मेल देखने को मिलता है हमारे भारत देश में। जब अंग्रेज ईसाई नहीं हुए थे, उससे पूर्व ही ईसा का धर्म भारत पहुंच गया था। इस्लाम का आगमन हजरत मुहम्मद के जीवन काल में ही भारतवर्ष में हो गया था। इस प्रकार पारसी, यहूदी तथा अन्य कई धर्म भारत में आये। जिस प्रकार हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्म भारत की मिट्टी से रस ग्रहण करते हैं, वैसे ही ईसाई, इस्लाम, पारसी आदि धर्म भी ग्रहण करते हैं।

भाषा की दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि संसार के सभी भाषा परिवार से संबंधित भाषाएं युगों-युगों से यहां संरक्षण पाती आ रही हैं।

भारतीय संस्कृति के इतिहास में ईसा पूर्व का युग बड़ा ही गौरवपूर्ण

रहा है। इस युग के मनुष्य प्रबल जिजीविषा सम्पन्न प्राणवान और मस्त होते थे। जीवन को सम्पूर्ण हृदय से प्यार करते थे और अविचल निष्ठा से उसका श्रृंगार करते थे।

मध्य युग संस्कृति के उत्थान-पतन की दृष्टि से कोई खास गौरवपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस युग में साधना को बहुत कुछ अर्थों में हमने भुला दिया। रूढ़ियों, अंधविश्वासों और पाखंड का जाल फैल जाता है। हम भारतीयों के आचरण और विश्वास में अंतर आ जाता है। हम व्यवहार में छूत-अछूत को लेकर गर्दन काटने को सदा उद्यत रहते हैं। वस्तुतः इस युग में प्रत्येक भारतीय का व्यक्तित्व खंडित हो गया है।

नये युग के प्रारम्भ में समुद्री मार्ग से आने वाली जातियों के सम्पर्क में भारत आया। इन जातियों के सम्पर्क में आने पर आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के तत्वों को हमने अपनाया। परन्तु इस आदान के साथ हमें वह आधुनिक सभ्यता का विष भी मिला है जिससे सम्पूर्ण संसार अत्यंत पीड़ित है। फिर भी आज का संसार अपनी पीड़ा के उपचार के लिए भारत की ओर आंखें उठाकर देख रहा है।

दुख की बात यह है कि नवीन भारत विश्व को कुछ भी देने में असमर्थ है। वह तो स्वयं दूसरों का पिछलग्गू हो गया है। आज के पीड़ित विश्व की दवा भारत के पास ही है, पर उस भारत के पास जो सामाजिक संस्कृति का रक्षक है।

संसार की पीड़ा का कारण भिन्न आदर्शों और जातियों का एक साथ मिलकर नहीं रहने की भावना भी है। आज कोई भी किसी का विश्वास नहीं करता। कोई भी अपने आदर्शों, विश्वासों और विशेषताओं को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। पर भारत में ऐसा नहीं है। भारत ने किसी भी जाति का गौरव घटाये बिना उसको एक सांस्कृतिक सूत्र में गूंथा था। उसने बिना किसी धर्म को दबाये सभी धर्मों की एकता स्थापित की, सिर्फ अहिंसा के बल पर।

भारतीय संस्कृति की आज के विश्व को यही सबसे बड़ी देन है। अपनी भूतकालीन संस्कृतियों के निर्माणकारी जीवन तत्वों को लेकर जब हम स्वदेश, उन्नति और विश्व शांति के कर्मों में निरन्तर लगे रहेंगे तभी स्वतंत्र भारत को विश्व के रंगमंच पर सम्मानपूर्ण स्थान दिला सकते हैं।

be, are careers or carriers?

What we are trying for are our careers or our carriers. Are we competing for our Carriers or careers? The difference between the two is better known by each of us because the difference is psychological rather than physical. What is a career for one may be only a carrier for millions of others?

A career denotes a mission in life whereas a carrier is only a medium for going through daily life. Carrier is something you merely pass through ; but career is the golden goal of your life. Carrier leads to your career but a career leads to nowhere else. Career is the be all and end all of your life. Carrier is something you merely pass through to go somewhere else but career is your home where you stay, put for the rest of your life without caring for the rewards or the awards.

Education is your Carrier because it takes you to some destination which you have chosen to invest your life in which indeed is your career. But if you are in education with a will to help others, to help them build careers and help them find destiny in life then it is a career not a carrier.

When Subhas Bose passed the I.C.S., he took it to be his carrier not his career. So he resigned from his job and joined politics in which he found his career. Several intelligent Englishmen joined the I.C.S. but ultimately found their career in something else. For them the I.C.S. was a carrier and not a career.

Career is something to which you are mentally and morally dedicated. Your objective is not merely to enrich yourself, but to pursue something that you have long set your eyes on earlier. According to Einstein the greatest happiness for a person is to be allowed to pursue one's career. Monetary returns are of secondary importance to a careerist. One may make tons of money or may be completely impoverished. Careerists come into that category. A living example is afforded by Max Muller. He was an ordinary scholar and earned his living by translation works and by teaching, but to him his career was to translate the Vedas and other scriptures, in which he was gloriously successful.

True Careerist is a celestial gambler. He may become affluent or he may miserably fail, but he is ready to sacrifice his all for the dice of his idealistic ambition in life.

CAREER OR CARRIER ?

In this rapid changing world of today there seems to be a constant race going among individuals for pursuing a career. Some of us are thinking to become engineers, some are dreaming to become C.C.'s and so on. But, in reality what we aspire as our goals to

या देवी सर्व भूतेषु

नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पद तल में।

पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।।

प्रसाद जी की ये पंक्तियां कुछ सोचने को विवश करती हैं। आर्यकालीन इतिहास में नारी को पुरुषों के समान अथवा उनसे भी ऊपर माना गया था। उन्हें भी पुरुषों की भांति पूजा, पाठ हवन इत्यादि के अलावा वेदों का भी ज्ञान था और इस बात के पुष्ट प्रमाण भी मिले हैं। मैत्रेयी का उदाहरण सर्वथा समीचीन होगा। शनैः शनैः भारतीय राजाओं के आलस्य एवं भोग-विलास ने विदेशियों को भारत पर अधिकार जमाने के लिए प्रोत्साहित किया। इसके परिणाम स्वरूप विभिन्न संस्कृतियां भारत में आईं। भिन्न विचारों, भिन्न जीवन पद्धति वाले इन विदेशियों की मानसिकता भारतीय दर्शन से भिन्न थी। उनके लिए जीवन मात्र भोग एवं प्रमोद के लिए था। परिणाम यह हुआ कि समाज में अनेक विसंगतियों ने घर कर लिया। स्त्रियों पर इसका सबसे ज्यादा असर हुआ। उन्हें केवल भोग की वस्तु समझा गया। मध्यकाल तक तो स्थिति इतनी बिगड़ चुकी थी कि स्त्रियों का घर से बाहर निकलना तक बंद हो गया। लोग अपनी प्राचीन आर्य संस्कृति को भूलने लगे और समाज में दहेज प्रथा, सतीप्रथा, परदाप्रथा, बाल विवाह जैसी कुरीतियों ने जन्म लिया। रीतिकाल और पूर्वमध्य काल के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की क्षीण मानसिकता को ध्यान में रखकर रचनायें लिखी जिससे नारी शब्द की गरिमा को ठेस पहुंची। तुलसीदास जैसे संत कवि की भी स्त्रियों (मध्यकालीन) के बारे में कोई विशेष सम्मान जनक धारणा नहीं

थी। उन्होंने तो रामचरितमानस में एक जगह यह कह डाला कि “ढोल गंवार शुद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी”। शायद वे यह भूल गये थे कि वही ताड़ना की अधिकारिणी समय पड़ने पर भारतवर्ष की सत्ता भी संभाल सकती है और वही समय पड़ने पर दुर्गा अथवा काली के रूप में दुष्टों के संहार के लिए अवतार ले सकती है।

वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य में अगर देखें तो नारी की स्थिति में कुछ सुधार तो हुआ है परन्तु पूर्णतः वास्तविक न होकर कागजी ज्यादा प्रतीत होता है। आज भी अखबार की प्रमुख खबरों में छपा मिलता है कि अमुक को दहेज के लिए ससुराल वालों ने जिंदा जला दिया अथवा अमुक के साथ बलात्कार हो गया। महिला समिति की अध्यक्ष, जो एक ओर सभा में खड़ी होकर दहेज विरोधी भाषण देती है, को अपने घर में बहू को दहेज के लिए प्रताड़ित करते देखा जा सकता है। प्रसादजी ने भी कामायनी में कामदेव के माध्यम से मनु को लताड़ा है। विजयलक्ष्मी पंडित, माग्रेट थैचर, इंदिरा गांधी, भंडारनायक आदि उन नारियों के उदाहरण हैं, जिन्होंने नारी जाति की उन्नति एवं उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। किरण बेदी ने मैगसाइसे अवार्ड जीतकर देश का नाम ही नहीं रोशन किया है वरन् सम्पूर्ण विश्व की नजर में नारी जाति के प्रति सम्मान की दृष्टि प्राप्त की है। नारी सृजन करती है सम्पूर्ण विश्व का एवं उसका पालन पोषण भी करती है, इसीलिए वह महान् है। नारी अनुगता नहीं, सहचरी है। आज हर क्षेत्र में नारी आगे बढ़ी है। प्रधानमंत्री का पद संभालने से लेकर टैक्सी तक चलाती है। बोझा तक ढोती है और गृहस्थी संभालने से लेकर दफ्तर के कार्य भी निपटाती है। आज सब कुछ जानते हुए भी समाज नारी को उसका यथोचित स्थान क्यों नहीं दे पाया? यह एक ज्वलंत प्रश्न है, एक ऐसा यक्ष प्रश्न, जिसका समाधान तो खोजना ही होगा।

PROBLEM OF BRAIN DRAIN IN INDIA

Brain drain means the migration of highly qualified experts like doctors, engineers, scientists and other trained persons from the under-developed countries to the advanced countries. More or less, all the backward countries are suffering from this problem. India is also suffering from this brain drain seriously at the present moment.

Thus, brain drain is a direct loss of trained experts in various fields to the underdeveloped and poor countries. On the other hand, it is a net gain to the advanced countries. According to an U.N.O. report every year thousands of experts are migrating from backward countries like India to highly advanced countries like the U.S.A., the U.K., Germany, Canada, etc. The under-developed countries are spending millions of rupees on the training of these experts. But the advanced countries are utilising their services without spending a single penny on their training.

Every year, thousands of highly talented doctors,

engineers, scientists, and other intellectuals leave India and migrate to foreign countries. They generally go to the U.S.A., the U.K., Germany, Canada, etc. for monetary gains and facilities for higher research. According to an estimate every year nearly 20,000 Indians go to foreign countries from India. Out of these nearly 90 percent are science students. As pointed out by the UNO report, the U.S.A. is the biggest gainer from the loss of India due to brain drain.

Most of the students who go abroad for higher studies do not return to India. After seeing the affluent life of foreign countries they lose all interest in their own country which is quite poor. Nearly 1000 Indians are teaching at various U.S. universities and other institutions of higher learning. Some of these Indians are placed on quite lucrative and high posts like Heads of Department, Deans, Professors, etc.

There are so many causes of this brain drain in India. First of all, there is the unemployment problem. Even a talented person like Hargobind Khurana Could not get any job while he was in India. But as soon as he became a Nobel laureate, everybody tried to adopt him and award honours to him. India is also lacking in higher research work. The top appointments are quite few in India. thus the talented experts like to seek new pastures abroad.

There is another attraction of leading a higher standard of living in foreign countries, because the technical experts and intellectuals are given special facilities there. In foreign countries there is the advantage that while learning, a person can also earn his own living. the stipends in foreign countries, are sufficient enough. A frugal Indian student living there can also save something to send home.

There is no doubt that India is having vast natural and manpower resources. If both these resources are put to the maximum utilization astounding advancement can be achieved in all fields. These technical and other talented persons whom we loss every year, can greatly help in the development of our natural resources. The government must take speedy steps to lure back home these talented sons of India who are living abroad. These experts can surely help in making India a great power in the world.

In this connection even the people should also come forward and co-operate with the government

in solving this problem. The parents of the students should not encourage them to go abroad and settle there even if they are paid higher salaries. The leaders and ministers should set their personal examples by stopping their children from going and settling abroad.

The doctors, engineers and scientists owe a duty to their Motherland. Our nation is spending huge amount of money on their training. These people should not betray their own nation by serving foreign nations. Today thousands of young Indian scientists and technicians are devoted to the cause of rebuilding our nation. The country has already achieved the

nuclear status as well as become a space power. There are enough opportunities for all the Indian scientists and engineers settled abroad, if they come back to India. they Should play an important role in the future progress of our country and share the honour of participating in this sacred task.

There is no doubt that India is bound to become one of the most industrialised and scientifically advanced countries in the world. Let every Indian scientist, engineer and technician share the privilege of participating in the noble task of nation building. Thus, they can earn the gratitude of their people.

DANGER OF DRUG ADDICTION

The danger of drug-abuse looms large on the Indian Horizon these days. Some Social organisations have started a holy campaign against this malady. It

is the duty of every citizen of the country to co-operate with them. The students and teachers have special role to play in this tirade against the drug abuse. It needs no mention that the addiction of drugs makes our life miserable. It is certainly detrimental to the physical, mental and spiritual development of a person. It is the need of the hour to nip this malady in the bud. Concerted efforts should be made to make the younger generation aware of the evils of drug addiction, otherwise the social life is bound to be vitiated. If we go through the columns of the news papers, we come across the reports of the drug addicts stealing money and valuables from houses. Addicted youths suffer so much from mental and moral degeneration that they even commit suicide. What a pity, what a misfortune for the families they belong too!

We must remember that it is now or never. If we are not serious in our efforts the very foundation of our social, political and moral life will badly be shaken. What happened to China before 1950? There was lethargy, indolence and inactivity in that country owing to the abuse of drugs particularly, opium.

Let us hope, India will not face that misfortune and our efforts to do away with the drug malady will succeed. The unscrupulous dealers in drugs find it easier to sell drugs in the vicinity of schools and colleges. The students, being inexperienced, easily fall a prey to drug addiction. Any effort to save students from this fast spreading disease is the need of the hour.

STATUS OF WOMEN IN INDIA

In the creation of mankind, the most prominent role has been played by the womenfolk. They give birth to children and bring them up with absolute love and affection. But India, for a long time, was not able to recognize the prestigious position that a woman should hold in a society. Women were just considered the 'gate to hell' and thus acted as slaves to their husbands.

However, in the Vedic Age, women were given an honourable place in society. Some women composed Vedic verses. They were allowed even to take part in Vedic rituals along with their husbands. They held the same position and prestige as men, depending upon their qualifications. They were not considered to be apolitical. Neither were they considered to be devoid of the practical knowledge, nor were they incapable. But with the revolution of the wheel to time, things began to change. The

position of women became worst when the Muslim raiders like Ghazni, Ghori, Tamerlane, Abdali etc. came one by one. The impotency of the reigning power gave them the opportunity to plunder wealth and exploit common people and their women. Slowly, women lost their dignified position in the society. With the coming of the British, the women of India were reduced to second grade citizens.

Inspired by political expediency, the British Government acted in a manner prejudicial to the interest of the Indian women. In collusion with the vested interest of the country, the Government looked down upon the women. They had no right to paternal property after marriage. Often, young girls were compelled to marry the person to whom she would have given the parental status. At that tender age, when the girl had no conception about the practical life and the realities, and that too, with a man of the age of her grandfather. Men, regulated by selfish motives, often used women as contrivances. Re-marriage of young girls, whose husbands died in the prime of life, had not the social sanction. Apart from the basic fact of conservativeness, it must be admitted with emphasis that prostitution reached a great height during that time. Women were forced to be burnt alive in the pyre of their husbands. The Indian women were subjected to all sorts of humiliation and were deprived of whatever was due to them, in the name of religion. However, the 19th century saw a great upheaval in the women freedom movement. The Indian Freedom Movement witnessed the active participation of women in politics manifesting the fact that women are not apolitical.

It is only when India became free and the people of India gave to themselves a constitution where a declaration was made that the state shall not discriminate against any citizen on ground of sex. The Constitution of India is the "Magna Carta" of India women. Indian women now enjoy equal opportunities with men in every walk of life, and India has been one of the leading countries in the promotion of women suffrage. However, there still exists certain evils which our legislation apart from their best attempts, has been unable to erase. One of these is the dowry system. For this, we need the preventive measures like social consciousness of our people and removal of backwardness among womenfolk.

LATEST SCIENCE JERMINOLOGY

MELANCHOLY EVENT IN SPACE

The prime fragments from comet Shoemaker - Levy 9 smashed into Jupiter at about 200,000 km an hour on 17th of July, 1994 at 8 P.M. (G.M.T.) Saturday, 1.30 A.M. (I.S.T.) on Sunday.

The collision raised the plume of heat and clouds leaving the planet scarred with a black dot about half the size of the earth.

Before coming of the mean time all countries, where space research centres were available, were ready with their telescopes to see this collision which is held in galaxy.

The co-discover of Shoe maker, Mr. Eugene Shoemaker stated that the fire ball and rising plume of hot gas were estimated 1.930 km wide and energy produced after collision was 200,000 mega tonnes TNT or more.

Theory under Jupiter Movement :

The primitive and biggest planet which collided to Shoemaker Levy-9 and the collision process continued for six days, it reveals the way of all attractive theory.

Jupiter, according to one attractive theory could ring like the gong of the stant of J. Arthur Rank Film or it could glow in the sky at twice its present brightness or it could develop a second "red eye" (the original, a vast continuous planetary storm which is larger than the entire earth, was first spotted by the English astronomer Robert Hook in 1664) or its faint ring could suddenly develop spectacularly until they revealed Saturn's or this is the astronomers least favourite prospect—the mile wide ice-burges could simply melt on the way down, turning into a shower of dirty rain over Jupiter's unappetising soup of Hydrogen, Helium, Ammonia and Methane a wash out.

The comet hunters, Eugene and Carolyn Shoemaker have given the official title periodic Shoemaker Levy-9; which makes it sound like an occasional tax on cobblers. Two years ago, Shoemaker Levy - 9 made a dry turn over Jupiter and broke into pieces, which are now travelling together lineastern. It is an object of transcendent beauty, appearing in observatory photographs like a necklace of 21 evenly matched diamonds in the blackness of space, strung in a nearly perfect row. Really it has wandered round the universe for four billion years, but its fate has been caught by Jupiter's gravity in the mid 1980 and now it decayed off within a week of its collision.

Possible Impacts of Collision :

The major fragmented parts of the Shoemaker were of 110 kg lengthwise, which started colliding from 16th July and lasted till 22nd July 1994.

The scientists made possible scenario after that Impact.

Meteor shower : The comet's fragmented parts disintegrated soon after hitting the planet's atmosphere and the spray of debris created meteor shower.

Cracks found in cloud : The comet pieces entered in the atmosphere as soon as it hit down at 60 km/ second speed, cloud created a powerful shock wave when they penetrated Jupiter's colour tops.

Depth charge : The shock waves held out the fragments together to penetrate some 24km below the cloud tops. There the comet chunks could pulverize in the rising pressure of Jupiter's hydrogen atmosphere. This rapid expansion of gases has produced a huge fire-ball.

Soft Catch : The explosion has created a mushroom cloud rising approximately 3000 km above the planet.

Additional resources could have been put to good use for new types of observational equipments and for monitoring a broader range of radio frequencies for indications of changes on Jupiter. It is a matter of great interest for the astronomers, astrophysicists and general people. They are lucky to see this impact. It is something that happens one in 1000 years.

Some Initiatives : Some initial steps were taken by astronomers and scientists who are the

space guards survey for NASA in 1992. The report recommended an observation programme with a relatively modest start up cost of around \$ 15 Million that would catalogue and track asteroids with which we could conceivably collide and we know the orbits of only a small fraction of them.

The most difficult problem lurks in the outer fringes of the solar system, where trillions of comets dwell undetected. As many as 10 new comets randomly enter the inner solar - system each year and are discovered as they are heated by the sun.

How can we defend ourselves against these lethal cosmic-objects ? The required efforts vary from the straight forward a widely expanded comet and asteroid watch - to the formidable, developing a new "star wars" type of technology to deflect collision bound asteroids and comets. In principle booster and detonate atomic explosives are needed to divert or break up a threatening body.

WOMAN

Woman is the builder of a nation and of a man's character. According to Susmita sen, Miss Universe, "The origin of child is the woman. A woman is one who shows a man what love and sharing and caring is all about."

I would like to define woman as a story which will never end, as a power which will remain strong and as the best creation of God. By writing this I don't want to impress anyone but want to let you know this fact which we all ignore and more or less want to surpass a woman. It is said and scientifically proved that woman is 6 times more powerful than a man. A woman is 8 times more merciful than a man. A woman possesses the power of endurance which is greater than that of man and about 4 times. A woman is 10 times more attractive than a man. But it is saddening that after being a head in each quality woman is degraded and disgraced by man.

We can easily find out the pre-dominance of man in society. The pre-dominance of man is not from today or yesterday but it is since the Vedic Age. In Vedic Age a female member of the family was not-allowed to represent the family. But the women enjoyed dignity in society. The maidens were allowed

to choose their life partner. In later Vedic Age there was a slight change in the position of women but a marked fall in the theoretical standard of people can be noticed. The birth of a girl was taken as a matter of misery. In Mughal period the women were not allowed to appear in society openly. The most disgraced Purdah system prevailed during those days. Penance among the women was caused by rotten system like Sati System and Johar. Even today we can notice the pre-dominance of man in society. The title of woman changes after marriage and is put according to her husband. Purdah system still prevails in our society. This system is good but to some extent only. Now-a-days, modern girls have forgotten the culture of ancient India. What to say about 'Purdah' they not even wear their clothes intact. But in villages the picture is just opposite to that of in cities. The schooling to girls is not allowed. The schooling to girls is not an important matter in villages. The birth of a girl is taken as misery. It is said that the birth of a girl will be more expensive than that of a boy. But it is generally seen that the daughters remain loyal to their parents. Even then people pray for male children only. This theory of people led the discovery of Ultra-sonography which mainly serves the purpose of pregnant women. The maidens are not allowed to choose their husbands (even in cities).

Now-a-days the women liberation process is on the way.

It can not be said that the men are always responsible for degradation of women. Sometimes or rather generally it is seen that a woman is responsible for degradation of others. We have many examples which can prove this fact. In spite of good nature and a mass of qualities that a woman possesses, she is selfish and jealous. A woman has ability of making comparison. Women usually compare themselves with other women. A woman wants to be superior to other. A woman can not bear any other lady. All these give rise to unhealthy relations among the women of society. And unhealthy relation lead to degradation of a woman at the hands of other. Now-a-days we can find a marked fall in the attitude of women's position in almost every sphere of life whether it is of society or of politics or of film industry and Modelling Offices.

In society no one is responsible but women themselves. The dowry system is a stigma on the society. This system must be stopped immediately.

A man, no better than a donkey but rich, can marry the girl like an angel. In politics the atmosphere is not at all good for a lady politician. In this case partially women are responsible. In film industry and modelling offices the position of women is as sexual bombs. The Women are used for creation of sexual attraction. Vulgarly is unbearable in film industry and modelling centre. The breast, thighs, waist and backs are thoughtlessly exposed and is taken very lightly by modern day young ones among the fair sex. The female protagonists do what ever their director say. They are mere a puppets in the hands of directors. The thread which hold the puppet and make a link between puppet and director (as puppet player) is

money. The hidden beat of money tackles and paralyses the facial muscles of actresses, but they never say about this. They never interrogate their directors and never say no.

Let us do something for such a lovely and beautiful creation of God. We should fight against this disease which is a hovoc for the character of a woman. This tradition must be put to an end. the Woman's lib is a mere stage-show without the real good for a woman. It preachs rights without duties creating chaos in the family.

We all should know that the frustration of women will lead to destruction.

Life in Calcutta

Life in Calcutta
Dances on the edge of Sword.
Buds and flowers,
Free from cares, though
Seem rolling on the road
Kiss the dust, as if a must
A slightest slip of leg or tongue
Invited the knife, in the heart.
The time breakers,
Reckless, moving on the road
Break the silence
Like spasms in the dust.
The twinkling stars, set before the day
All store at from long
Whisper who he or she was;
The death roars and passes on
No one dares to set eyes upon
All shrink to their own, become blind
Before the death's naked dance.
A mob gathers, blows its horn
A hoasty look, and are gone;
Others come to fill in the gaps;
Offer the wailing sheet of pity and love
The departing soul cries
But who will cover the risk
Of law, order and police?

Blood donation is the highest development of humanity.

We can easily be aware of the degree of development of human civilization by going through the ancient annals. A commendable volte-face has been brought about by man due to his technique. In this race from the point of view of intellectual development, the modern man has become giant but from the view point of spiritual development the modern man has become pigmy as T.S.Eliot has said in his book, "The waste Land"—

The modern man has become hollow,
Shape without form,
Form without gesture,
Gesture without motion

But here we find a great example of spiritual development of a modern man and that is "Blood-Donation" which is the zenith of development of humanity or spirituality. Now-a-days there occurs a lot of accidents. In these accidents some people succumb to their injuries and some get severely injured. These persons are hospitalised. If blood flows out in an alarming by large quantity from the body of the victim, he must need the blood of his group

to survive. If the victim is a local one, he can get blood from his near and dear ones, but suppose he is from some other place or say a "foreigner," where from he will get blood if there is no blood at the centre of treatment and there will be obviously no blood at the centre of treatment, if we don't donate blood because there is no such mechanical or technical process by which blood can be synthesised artificially. Hence the victim will die in want of blood. Is it good? Is it not the stigma on our motherland rather on us who are the successor of the predecessor like "DADHICHI" who had given his bone to emancipate the human beings from the tyranny of "BRITRASURA" by eradicating him along with his atrocity? Obviously it is. So by taking inspiration from our splendid and rich culture and civilization we have to donate blood. No body knows what is in store for him. He may also meet with such an accident in other cities where he has no known person, he will be also in the same plight as a foreigner. Thus, we find that we are indirectly benefitted by this action. Every act has bright and dark side. This action gives divine satisfaction to donor and a new life to donee. The donor also gets immune from certain psychological complexions and certain diseases. Thus it is beneficial to its both ends.

We donate blood and it is submitted to Blood Bank. If we donate blood to donee by making him aware of this, the donee will be obliged, but no obligation is here because it is always given to an unknown person who may be a man of letters or a criminal or the accused. If a criminal or accused is dying, our first act is to save him, as our humanity dictates so we can easily see that blood-donation is the zenith of the development of humanity. This act of ours will strengthen our integrity and our civilization, too which is a harmonious expansion of worth of human nature. Here it is beyond religion, as religion is generally conceived by us. Thus blood-donation is also a realization of self-perfection.

This is the age of inter-dependence. No man is an island. One can't live entirely by oneself. The act of blood donation strengthens the thread of inter-dependence. The beauty of body enhances when its soul consists of beauty.

The great poet of medieval period of Hindi Literature named "Tulsidas" expresses his view regarding religion.

The best form of expression of benevolence is blood-donation.

Blood-donation is a work of mercy. According to shakespeare, "Mercy Can't be forced and spontaneity is the hall mark of mercy." So one should be inspired but never compelled to donate blood.

To make this donation spontaneous, it should be launched as movement to make the people aware of the fact that we are living in deeds not in years.

The stream of benevolence with bright beams has been continuously flowing in West-Bengal in keeping with the rich, splendid culture and civilization of India in general and that of Bengal in particular, nowadays blood donation campaign is being launched as a movement by clubs and associations.

We are proud of the expression of the highest development of humanity in west Bengal which will be external source of inspiration for the rest of India.

एक व्यंग्य

पूज्य गांधीजी, सादर प्रणाम !

आज आजादी के पावन दिवस पर, सश्रम आपको याद करते हुए देश ने अपना 48वां जन्म दिवस मनाया। आपने अपने पीछे एक खुशहाल देश का सपना रख छोड़ा था। देश ने इन 47 वर्षों में काफी प्रगति की है। देश में आपके त्याग, बलिदान व आदर्शों की स्मृति में हर शहर तथा गांव में, एक अदद महात्मा गांधी मार्ग बनाया जा चुका है। इस प्रकार पूरा देश आपके मार्ग पर चल रहा है। परन्तु दुर्भाग्यवश हर पथ पर रोड़े अपने स्वाभिमानी वजूद पर अटके हुए हैं, फलतः यह जीवन-वाहन या तो हर घड़ी जाम (पेशान) है या अन्ततः बुरा अंजाम है।

आप अहिंसा के मसीहा थे, आप पर गोली चली। विरासत में मिला यह क्रम आज भी जारी है। एक प्रधानमंत्री को उसी के सुरक्षाकर्मियों ने मार डाला तो दूसरे को बम ब्लास्ट में ही उड़ा दिया।

और यह सच है, हम अहिंसा के पुजारी हैं।

इसलिए—

“तब न थी, आज आपकी वो जरूरत है
देश की हालत बयां क्या करें, बस शिकस्त है।”

एम0 जी0 रोड पर एक मंत्री पुत्र ने
कार को खम्भे से भिड़ा दिया,
चक्कों ने खम्भा उड़ा दिया।
कम्बख्त रास्ते में आता है,
दुर्घटना कराता है।
अगली बार उस मंत्री पुत्र ने,

ब्रेक की जगह एक्सिलेटर दबा दिया।

ओह ! परलोक का गियर लगा दिया।

न गाड़ी बची, न मंत्री पुत्र !

पार्लियामेंट हाऊस में मातम छा गया।

अपोजीशन वालों ने तो बाद में जश्न ही मना लिया।

दुखी मंत्रीवर ने सोर्स लगाया,

और गाड़ी की कम्पनी को ठप्प कराया,

ट्रेफिक अधिकारी को निलंबित करवाया,

तथा रोड कन्ट्रक्टर के यहां आई.टी. रेड डलवाया।

अब जो इलेक्शन सर पे आया,

तो मंत्रीवर ने नया ढोंग रचाया,

बेटे की मौत को आतंकवादी साजिश बताया,

और उसे देश का शहीद बनाया।

यह मुन सिटीजेंस को रोना आया,

और वोटों से जो विजयी बनाया,

तो एक बार फिर अपने आप को,

राजनीति का शिकार पाया।

भ्रष्टाचार का बोलबाला रहा छाया,

जिसने देश की जड़ों को पुनः खोखला बनाया।

एक बेरोजगार जो मंत्रीपुत्र की गाड़ी के नीचे आया,

तदनुकूल “इंफ्लायमेंट एक्सचेंज” में हर्षोल्लास छाया।

अस्पताली कर्मचारी भी हंसते रहे,

आखें और किडनी मरने से पहले हड़प गये।

बीमा कम्पनी ने “थैंक गॉड” बतलाई,

उसने इन्श्योरेंस जो न करवाई।

इक्नामिस्टों एवं ब्यूरो ऑफ स्टेटिस्टिक्स ने भी खुशी जताई,

पाप्युलेशन से आबादी (वो और उसकी आने वाली पुरतें)

जो कम हो गई,

उसके दोस्तों ने भी राहत जताई,

उधारों से छुट्टी जो पाई।

इधर “मार्क टुल्ली” ने बी.बी. पर खबर जो सुनाई,

तो “यू0 एन0 ओ0” तक ने मुस्कान दिखलाई,

“इण्डियन आर्मी” में आने वाले युद्ध के लिए,

एक बेरोजगार की भरती जो न हो पाई।

प्रेस ने उसे गंभीर ‘पोपुलेशन’ से ‘डिस्कनेक्ट’ होने का खिताब दिया,

तब बापू के इस देश ने उसके गरीब लाचार

परिवार को मिट जाने का इनाम दिया,

माफ कीजियेगा अमानवीयता की एक और कड़ी सुन जाइए :—

दिन ढले कहीं से आवाज आई—

“जरा सुनो भाई

चिता तो बनवा लो

लकड़िया महंगी हों तो

उसकी डिग्रियां ही जला दो। ...हे राम !”

आपका - एक भारतीय नागरिक

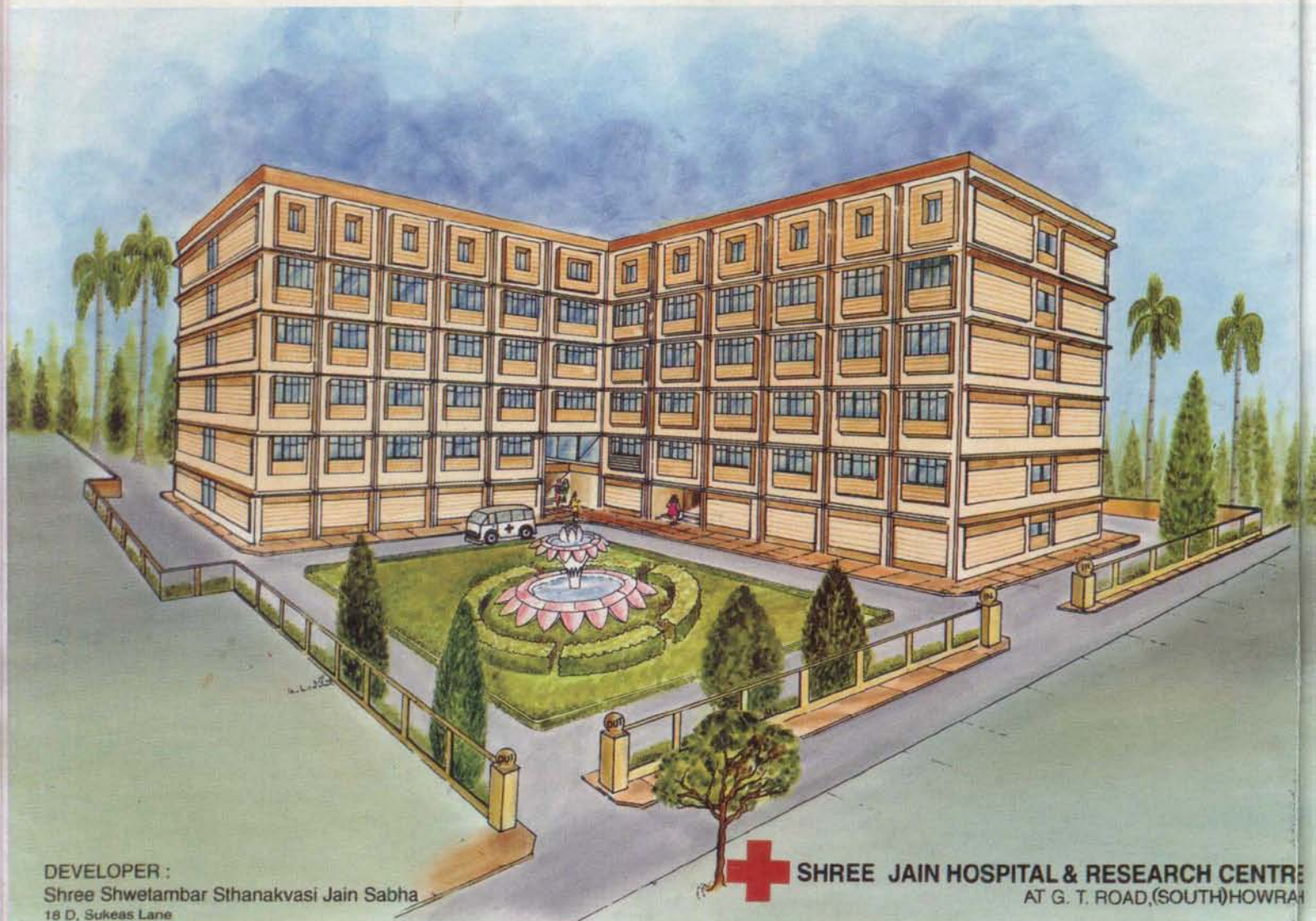
विद्यार्थी - जीवन

विद्यार्थी जीवन विद्या के अध्ययन में हमारे जीवन का प्रथम अंश है। बड़ा होने पर हमें संसार में अपनी जीविका चलाने योग्य बनाने वाली शिक्षा का नाम विद्या है।

यह समय विद्यार्थी के लिए बड़ा ही अमूल्य और नाजुक है। जिस प्रकार किसी इमारत के निर्माण के लिए मजबूत नींव की आवश्यकता होती है उसी प्रकार विद्यार्थी जीवन मनुष्य जीवन की नींव है। इस समय जैसा बीज बोया जायेगा, समय पाकर उससे वैसा ही वृक्ष पैदा होगा और उसका फल भी वैसा ही होगा। इस समय की शिक्षा का प्रभाव जीवन-भर बना रहता है। अतः विद्या या शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे जीवन मंगलमय हो।

मन लगाकर विद्या का अभ्यास करना ही विद्यार्थी का सबसे बड़ा कर्तव्य है। एक अच्छे विद्यार्थी को अपने माता-पिता, शिक्षक तथा गुरुजनों की आज्ञा और आदेश के अनुसार चलना चाहिए। परिश्रम का फल मीठा होता है। विद्यार्थी को हमेशा सच्ची लगन से मेहनत करनी चाहिये। पढ़ाई के साथ ही विद्यार्थी को अपने स्वास्थ्य और संगति पर विशेष ध्यान देना चाहिये। कुसंगति से उसका चरित्र भी नष्ट हो जायेगा और उसके विद्या-अभ्यास में भी बाधा पहुंचेगी।

किसी भी देश या जाति का भविष्य उसके विद्यार्थियों पर निर्भर करता है। अपनी संस्कृति, अपने साहित्य और अपने समाज के आदर्शों को ध्यान में रखकर विद्यार्थी को 'सादा जीवन और उच्च विचार' का उदाहरण उपस्थित करना चाहिये।



DEVELOPER :
Shree Shwetambar Sthanakvasi Jain Sabha
18 D, Sukeas Lane
CALCUTTA - 700001.

 **SHREE JAIN HOSPITAL & RESEARCH CENTRE**
AT G. T. ROAD, (SOUTH) HOWRAH

